अंक : 60, भाग : 1, वर्ष : 2014-15
Volume : 60, No. : 1, Year : 2014-15

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

अंक : 60, भाग : 1, वर्ष : 2014-15
Volume : 60, No. : 1, Year : 2014-15
प्रज्ञा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

''प्रज्ञा'' अंक 59, भाग–2, वर्ष 2013–14 के विमोचन के अवसर पर लिया गया चित्र
दिनांक 01.02.2014 (स्थान– कुलपति कक्ष, केन्द्रीय कार्यालय)
(बायें से) प्रो. देवेन्द्र कुमार, सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग, आई.आई.टी. (बी.एच.यू.); प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह, राजनीतिशास्त्र विभाग; बीच में– डॉ. लालजी सिंह, कुलपति; प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, ''प्रज्ञा'' जर्नल; प्रो. रवि प्रताप सिंह, चेयरमैन, पी.पी.पी. सेल एवं पीछे श्री राजेश कुमार सिंह, सहायक जनसम्पर्क अधिकारी।

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 60, भाग 01

वर्ष 2014-15

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 60, No. 01 (2014-15)
ISSN 0554-9884

© Banaras Hindu University
August 2014

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : डॉ. लालजी सिंह

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

प्रो. राजीव संगल
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. राणा गोपाल सिंह
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. रवि प्रताप सिंह
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

प्रो. अखिलेश सिंह रघुवंशी
निदेशक, पर्यावरण एवं सम्पोष्य विकास संस्थान

प्रो. एस. एस. कौशिक
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रो. महेन्द्र नाथ राय
प्रमुख, कला संकाय

प्रो. आर. आर. झा
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. ए. के. श्रीवास्तव
प्रमुख, विज्ञान संकाय

प्रो. चन्द्रमा पाण्डेय
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रो. राम कृपाल पाण्डेय
प्रमुख, प्रबन्धशास्त्र संकाय

प्रो. आशा राम त्रिपाठी
प्रमुख, वाणिज्य संकाय

प्रो. बी. एन. पाण्डेय
प्रमुख, विधि संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. राधेश्याम राय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. देवेन्द्र कुमार
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. एस. बी. राय
भौतिकी विभाग, विज्ञान संकाय

श्री सुरेश कुमार
दृश्य कला संकाय

सम्पादक

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

हिन्दी विभाग, कला संकाय

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी ।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी ।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी ।।
बसी है गङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी । मधुर० ।।
नये नहीं हैं ये ईट पत्थर ।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर ।।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी । मधुर० ।।
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा ।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा ।।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी । मधुर० ।।
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी ।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी ।।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी । मधुर० ।।
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले ।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले ।।
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी । मधुर० ।।
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी ।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी ।।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी । मधुर० ।।
विविध कला अर्थशास्त्र गायन ।
गणित खनिज औषधि रसायन ।।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी । मधुर० ।।
यह मालवी की है देशभक्ति ।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति ।।
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी ।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी ।।

– डॉ० शान्ति स्वरूप भटनागर

●

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

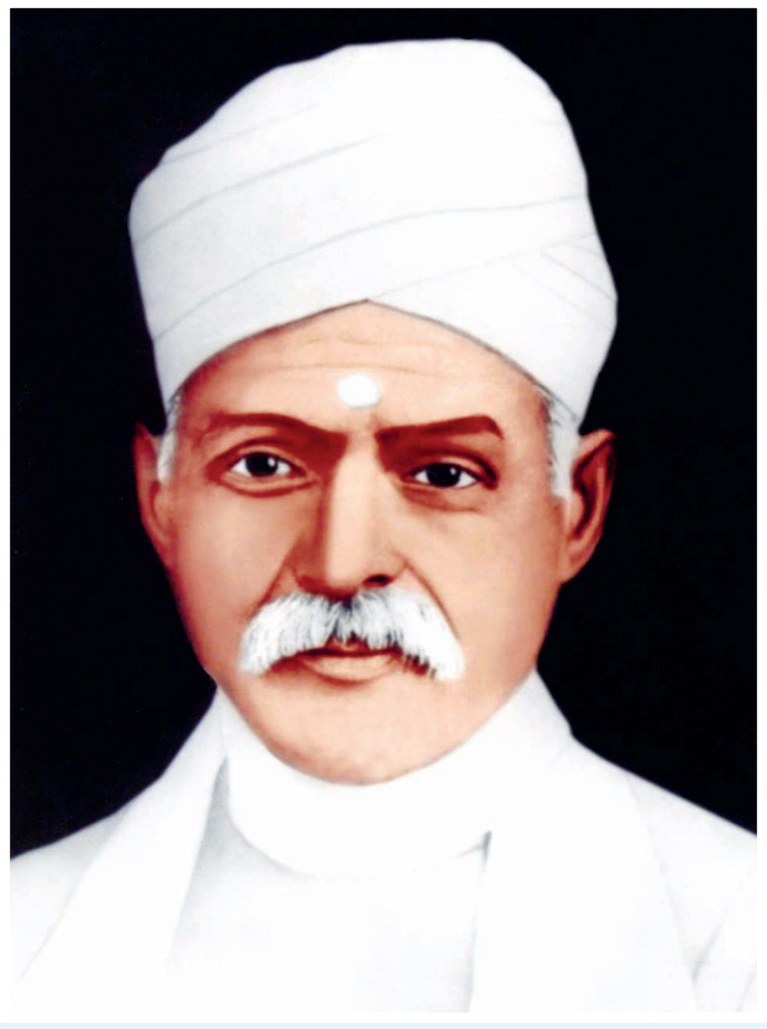

पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

बनारस की गुलाबी मीनाकारी

काशी प्राचीन समय से ही कला एवं संस्कृति की नगरी रही है। यहाँ की इस संस्कृति को समृद्ध करने में यहाँ के स्थानीय कलाकारों का भी विशेष योगदान रहा है। चाहे वह जरी के वस्त्र हों, पीतल के गंगा-जमुनी पात्र हों, हाथी-दाँत की वस्तुएँ हों, लकड़ी के खिलौने हों, मुकुट हो, चित्र हों, मूर्ति हों, मिठाई हो, पान हो या ठंडई। इन वस्तुओं के निर्माण में यहाँ के कारीगरों ने इस शहर को सदैव एक नई पहचान दी है। यहाँ का प्राय: हर कलाकार अपने हूनर में बनारस से जुड़ी मौज-मस्ती की कलई चढ़ाना नहीं भूलता। इतना ही नहीं, संगीत, नृत्य, वादन सभी में यह बात दिखती है। यही कारण है कि यहाँ सृजित कोई भी कला परम्परा सहज ही बनारसी रंग में ढल जाती है और इन वस्तुओं की विशिष्टता के साथ 'बनारसी' विशेषण स्वत: ही जुड़ता चला जाता है। अब बनारस की मीनाकारी को ही लें। यहाँ के कारीगरों ने मीनाकारी में गुलाबी रंग प्रयोग कर इस कथ्य को स्वत: प्रमाणित कर दिया है।

आभूषणों को विभिन्न रंगों द्वारा सजाने की कला को 'मीनाकारी' कहते हैं। यह शब्द सम्भवत: तुर्की शब्द 'मीनाई' से लिया गया है। बनारस की गुलाबी मीनाकारी की परम्परा सम्भवत: १८वीं शती में प्रारम्भ की गई। मुगल बादशाहों ने बनारस को कोई खास तवज्जो नहीं दी। लेकिन १८वीं शती में जब अवध की सत्ता बढ़ी, तब नवाबों ने बनारस की कला पर खास ध्यान दिया। कलाविद् राय कृष्णदासजी के अनुसार- अवध के नवाब आशिफउद्दौला (१७७५-१८९५) के समय गुलाबी मीनाकारी बनारस के परम्परागत मीनाकारी में प्रचलित हुई। बनारस में वैसे भी लखनऊ के नवाबों के लिए अनेक वस्तुएँ तैयार की जाती थी। कभी-कभी नये प्रयोग भी किये जाते थे, जैसे-ढाकी की मलमल, जामदानी की तरह बनारस में सूती जामदानी, जरी जामदानी व सिल्क जामदानी बनाई गई। इसी प्रकार बनारस में मीनाकारी की परम्परा में गुलाबी मीने का नया प्रयोग हुआ।

गुलाबी रंग और बनारस

चैत मास, गुलाबी रंग और बनारस- ये तीनों एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। इस गुलाबी वातावरण का प्रभाव यहाँ सहज ही परिलक्षित होता है, यद्यपि समय के साथ यह धुँधला होता जा रहा है। गुलाबी परिधान, गुलाबी संगीत (चैती) और बाग-बगीचों की शोभा बढ़ाता गुलाबी चैती गुलाब। इसी चैती गुलाब के रंग को पकड़ने की चेष्टा की थी, बनारसी मीनाकारी ने और सफल भी हुए।

गुलाबी मीना शीशे के टुकड़ों के अलावा पाउडर के रुप में भी आता है। कुछ कारीगर लाल और सफेद मीने के सम्मिश्रण से भी गुलाबी मीना तैयार करते हैं। कुछ कारीगरों के अनुसार, सफेद मीने के बड़े-बड़े ढोके आते जिनमें कहीं-कहीं गुलाबी रंग जमा रहता था, जिसे निकालकर गुलाबी मीना बनाया जाता था। इन शीशे के टुकड़ों के खरल में पानी डालकर महीन पीस लेते हैं और घोल तैयार कर लेते हैं। गुलाबी मीने को पीसते समय उसमें चन्दन और गुलाब का इत्र भी डालते हैं। आभूषण की मीनाकारी, जिनको बनारसी भाषा में 'रकम' कहते हैं, कई कारीगरों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम होता है। यह एक लंबी प्रक्रिया है।

यहाँ दिये जा रहे गुलाबी मीनाकारी के दो उत्कृष्ट उदाहरण भारत कला भवन, का.हि.वि.वि. के संग्रह के हैं। इनमें एक है, हाथी के मुख वाला कड़ा। इन कड़ों के दोनों किनारों को हाथी के मुख का आकार दे दिया गया है जिसकी सूँड़ आपस में गुथी हुई है। यह कड़ा बनारस में बहुत चलित रहा है। गज मुख को जिस सजीवता से अलंकृत किया गया है, वह अद्भुत है। बच्चों के मकरमुखी कड़ें भी अवलोकनीय हैं। गुलाबी मीनाकारों के पसंदीदा अलंकरण गुलाब, कमल के फूल हैं जिनको वास्तविकता प्रदान करने के लिए पत्तियों में हल्का-गाढ़ा रंग दिया जाता है।

कड़ों के अतिरिक्त हाथ के जो आभूषण बनाये जाते थे, उनमें छन्द, पछेली, ककनी, हथफूल, भुजबंद, इत्यादि प्रमुख थे। गले के लिए टीक, हार, गुलुबंद, हंसुली, टीकरे तथा कानों के जड़ाऊ झुमके इत्यादि बनाये जाते थे। आभूषणों के अलावा मीनेकारी की जो वस्तुएँ बनाई जाती थी, उनमें पानदान, हुक्के की फ़रशी, चीलम, मुँहनाल, सुराही, हाथी का हौदा, पलंग के पाये, शीशे व कंघी के फ्रेम प्रमुख होते ते। बनारस के अनेक मंदिरों में भगवान को पहनाये जाने वाले आभूषण, उनका झूला, सिंहासन इत्यादि गुलाबी मीनाकारी के उत्कृष्ट नमूने आज भी देखे जा सकते हैं।

गजमुखी स्वर्ण कड़ा, ल. १९वीं शती

मकरमुखी बच्चे का स्वर्ण कड़ा, ल. १९वीं शती

स्वर्ण मंजूषा, ल. १९वीं शती

आलेख-डॉ. राधाकृष्ण गणेशन्

-प्राप्त स्रोतों के आधार पर

डा. लालजी सिंह
कुलपति
Dr. Lalji Singh Ph.D., D.Sc. (Hon.)
FNA, FASc, FNASc, FNAAS, FTWAS
Padmashri
Bhatnagar Fellow (CSIR)
Former Director, CCMB, Hyderabad
Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
(Established by Parliament by Notification No. 225 of 1916)
VARANASI-221 005 (INDIA)
Phones : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
e-mail : vcbhu1@gmail.com, vc_bhu@sify.com
website : www.bhu.ac.in

जुलाई 29, 2014

शुभ-सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका ''प्रज्ञा'' के प्रस्तुत अंक (अंक-60, भाग-1, वर्ष-2014-15) का प्रकाशन किया जा रहा है।

सन् 1958 से यह पत्रिका महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी के विचारों एवं आदर्शों के प्रकाशन तथा प्रोत्साहन हेतु निरन्तर सक्रिय रहा है। उक्त पत्रिका में प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित शोध प्रपत्र व लेख तीन भाषाओं (हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत) में संकलित किये गये हैं। मुझे आशा है कि प्रज्ञा के इस अंक में भी पूर्व अंकों की भाँति ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से जुड़े उत्कृष्ट लेखों को संकलित किया गया है जो पाठकों में अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध होगा तथा पाठकगण इससे अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

मैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, के तरफ से पत्रिका के सम्पादन एवं प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को हार्दिक बधाई देता हूँ तथा पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

लालजी सिंह

(लालजी सिंह)

सम्पादकीय

इस महान विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी दूर दृष्टि सम्पन्न एक प्रज्ञावान महापुरुष थे। उन्होंने भारतीय परम्परा, संस्कृति एवं ज्ञान के सारवान अंशों के संरक्षण एवं विकास की दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। इसमें प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत् तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान की विविध शाखाओं के अध्ययन, मनन एवं प्रशिक्षण की सम्यकरूपेण व्यवस्था की गयी है। अपार राष्ट्रप्रेम एवं दृढ़राष्ट्र सेवा से ओतप्रोत उनका मानस देश के भावी कर्णधारों के निर्माण में निरन्तर जागरूक रहा है। आज यह विश्वविद्यालय राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी एक विशिष्ट पहचान बना चुका है और इसके ज्ञानात्मक क्षितिज का दिनों-दिन विस्तार होता जा रहा है। ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग से समन्वित यह विश्वविद्यालय सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय स्थान रखता है। महामना के संकल्पों एवं विचारों की पूर्ति हेतु सन् 1958 ई. में 'प्रज्ञा' जर्नल का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। यह पत्रिका आज तक विश्वविद्यालय की ज्ञानात्मक उपलब्धियों एवं वैदुष्य परम्परा के प्रचार/प्रसार में निरन्तर संलग्न रही है। हर्ष का विषय है कि 'प्रज्ञा' जर्नल की गौरवशाली परम्परा में इस अंक (अंक-60, भाग-1, वर्ष 2014-15) का भी प्रकाशन हो रहा है।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक (अंक-60, भाग-1, वर्ष 2014-15) में कुल 40 लेख/शोध प्रपत्र संकलित हैं, जिसमें 26 लेख हिन्दी भाषा में, 04 लेख संस्कृत भाषा में और 10 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। प्रस्तुत अंक में हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के विविध पक्षों में सम्बन्धित अनेक शोध प्रपत्र/लेख संकलित किये गये हैं। इन विषयों के अतिरिक्त समाज विज्ञान, स्त्री विमर्श, दृश्यकला, मनोविज्ञान, ज्योतिष शास्त्र, न्याय दर्शन, स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा-व्यवस्था, धर्मशास्त्र, भोजपुरी भाषा, व्याकरण, पर्यावरण, वास्तुकला एवं गाँधी दर्शन जैसे अनेक विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण लेख इस अंक में संकलित हैं। आशा है कि पाठक वर्ग को इन लेखों से पर्याप्त लाभ मिलेगा। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत अंक गत् अंकों की भाँति प्रबुद्ध पाठक वर्ग में ग्रहणीय एवं समादरणीय होगा। अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि **'प्रज्ञा' जर्नल अब बी.एच.यू. के वेबसाइट (www.bhu.ac.in)** पर भी उपलब्ध है।

'प्रज्ञा' जर्नल के इस अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम इस विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. लालजी सिंह के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके उद्बोधन एवं प्रोत्साहन से हम लोगों को सदैव प्रेरणा मिलती रही है। उसके बाद कुलसचिव प्रो. विनय कुमार सिंह, वित्त अधिकारी श्री अभय ठाकुर एवं अन्य अधिकारियों को साधुवाद देता हूँ, जिनके सहयोग द्वारा 'प्रज्ञा' का प्रकाशन सुगम हो सका है। 'प्रज्ञा' के संरक्षक मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के सदस्यों के सहयोग के लिए मैं उन सभी को धन्यवाद देता हूँ। सकारात्मक सहयोग के लिए मैं बी.एच.यू. प्रेस के आचार्य प्रभारी, प्रो. माया शंकर पाण्डेय एवं प्रेस के समस्त सहयोगियों का शुक्रिया अदा करता हूँ। अंत में मैं 'प्रज्ञा' कार्यालय के सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जय प्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को भी धन्यवाद देता हूँ, जिनका मुझे बराबर सहयोग मिलता रहा है।

श्रीनिवास 11/6

(प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय)
सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल

विषय-सूची

1. समत्वबोध एवं संत दादूदयाल जी का संदेश 1
प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

2. विदुरनीति में सामाजिक उपदेश 4
प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी

3. स्त्री विमर्श का पाश्चात्य चिंतन 15
प्रो. रंगनाथ पाठक एवं
सुनील कुमार मानस

4. वस्तुध्वनि 20
डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

5. वैदिक ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों का पाठ विमर्श 23
शिल्पा सिंह एवं प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव

6. स्फोटस्वरूपविमर्श 27
भूपेन्द्र कुमार ओझा एवं
प्रो. भगवत् शरण शुक्ल

7. राजतरङ्गिणीकालीन पूजापद्धति 31
सुधा श्रीवास्तव एवं
प्रो. उमेश प्रसाद सिंह

8. विज्ञापनों में धार्मिक चित्रों का प्रयोग एवं उनका भविष्य 34
आशीष कुमार गुप्ता एवं
प्रो. हीरालाल प्रजापति

9. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी आलोचना 40
प्रो. सुमन जैन एवं
अवनीश कुमार मिश्र

10. याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित न्याय एवं दण्ड व्यवस्था : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 45
माधुरी यादव एवं
प्रो. सरस्वती सिंह

11. डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि में प्रेमचंद का सृजन और संघर्ष 49
डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी

12. प्रेमचन्द के नाटकों में नारी जीवन का चित्रण 53
डॉ. राकेश कुमार राम

13. शान्ति का मनोविज्ञान, भारतीय मनीषी चिन्तन एवं शान्तिमूलक अपराधशास्त्र 56
डॉ. विभा त्रिपाठी एवं
डॉ. माया सिंह

14. सामाजिक बहकाव एवं ज्योतिषीय निदान 60
डॉ. रत्नाकर पाण्डेय एवं
डॉ. रामजीवन मिश्र

15. न्यायदर्शनानुसार ज्ञान प्राप्ति के साधन 65
डॉ. लतापन्त तैलङ्ग

16. स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में 'गुरु' 68
डॉ. मनोज कुमार सिंह एवं
डॉ. व्रजराज पाण्डेय

17. बंगाल की समसामयिक सांस्कृतिक परिवेश : विकास भट्टाचार्जी 72
लाल बहादुर कुमार एवं
एस. प्रणाम कुमार सिंह

18. पाञ्चरात्रागमीय ब्रह्मविमर्श 75
डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

19. विद्यार्थी जीवन में महर्षि याज्ञवल्क्य प्रोक्त नियमों की उपयोगिता 79
डॉ. सुनील कात्यायन एवं
धनेश कुमार पाण्डेय

20. संस्कृत साहित्यशास्त्र में अलंकार तत्व का प्रतिपादन 84
डॉ. कंचन दूबे एवं
डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय

21. भारतीय शिक्षा व्यवस्था में आत्मचिंतन करने की आवश्यकता 88
मुकेश कुमार मालवीय

22. विन्ध्यवास, वसुबन्धु और कालिदास की समकालीनता : एक अध्ययन 96
डॉ. मुनिराम तिवारी

23. नासदीय-सूक्त एवं मानव धर्मशास्त्र में सृष्टि-विज्ञान 98
प्रियङ्कर अग्रवाल एवं
प्रो. रामकिशोर त्रिपाठी

24. 'मैं घनीभूत भारत हूँ' 102
उदयप्रताप सिंह

25. भोजपुरी भाषा विमर्श 105
प्रो. बालशास्त्री एवं
रामकेश्वर तिवारी

26. कथा संरचना की दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण एवं श्रीरामचरितमानस के 'सुन्दरकाण्ड' का तुलनात्मक विवेचन 112
रामयश पाण्डेय एवं
प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

27. ज्योतिर्विज्ञानस्य विविधपक्षानां वैशिष्ट्यं साम्प्रतिकोपादेयत्वञ्च 118
मधुसूदनमिश्रः एवं
डॉ. रामजीवनमिश्रः

28. 'वार्णादाङ्गंबलीयो भवति' इत्यस्याः परिभाषायाः ज्ञापकत्वविचारः 124
आस्तीक द्विवेदी एवं प्रो. बालशास्त्री

29. अद्वैतपरम्परायां संक्षेपशारीरकम् 128
ब्र. वाचस्पति कुमारः एवं
प्रो. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रः

30. व्याकरणमते एकार्थीभावविचारः 131
संदीपकुमारदुबे एवं प्रो. बालशास्त्री

31. Social Construction of Environmental Issues as Social Problem: A Sociological Analysis 134
Dr. Dinesh Kumar Singh

32. Ruttenbai Jinnah – A Nationalist to the Core 144
Dr. Divya Kumar

33. A Rock-cut Temple On Gwalior Fort 150
Dr. Sujata Gautam

34. Female Feticede In India 155
Dr. Reena Sharma and
Dr. Dinesh Kumar Singh

35. The Astronomical Temper of the Vedic Sun God 160
Abhineet Kumar Srivastava and
Prof. Anand Kumar Srivastava

36. Higher Education In India : Issues, Challenges and Suggestions 164
Dr. Shrawan Kumar Gupta

37. Gandhian Philosophy : An Investment To Humanity 170
Vishakha Shukla

38. Pathetic Conditions of Research In Higher Education 176
Sangeeta Chauhan

39. Redefining Historiography Through Narrative: Gender and Subjectivity in Gita Mehta's Raj 180
Prof. M.S. Pandey and Anindita Das

40. Ties That Bind: Albee's Take on Violence-Driven Uniformity 187
Prof. J.S. Jha and
Tushnim Gangopadhyay

नोट– ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने वाले लेखों से सम्बन्धित नियम एवं निर्देश 83

आवश्यक सूचना : ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

समत्वबोध एवं संत दादूदयाल जी का संदेश

*प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय**

समत्वबोध भारतीय सांस्कृतिक परम्परा एवं आध्यात्मिक चेतना की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं कालजयी अवधारणा है। इसका वैदिक वाङ्मय एवं औपनिषद् परम्परा में पर्याप्त उल्लेख है, जिसका सारभूत एवं सहजसम्प्रेषणीय स्वरूप श्रीमद्भागवत गीता में मिलता है, जिसे आद्यशंकराचार्य ने और अधिक तर्कसंगत स्वरूप प्रदान कर पर्याप्त व्यापकता प्रदान की है। इस दृष्टि का सारतत्व है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि एवं चराचर जगत् उस परमब्रह्म की सत्ता का ही प्रतिफल है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अणु-अणु एवं जीव में उसी एक सत्ता का अंश विद्यमान है। अतः ज्ञानी पुरुष सर्वत्र प्रेम भाव का संचार देखता है। उसे कोई पराया एवं शत्रु नहीं प्रतीत होता है। यही कारण है संत या स्थित प्रज्ञ मनुष्य सुख-दुःख एवं राग-द्वेष से मुक्त हो कर विचरण करता है। इस बोध को श्रीमद्भागवत गीता में 'समत्व योग' कहा गया, जिसके अनुसार वीतरागी एवं स्थित प्रज्ञ मनुष्य भय, क्रोध, राग, द्वेष से मुक्त हो संसार में जीवन मुक्त हो कर विचरण करता है। इस बोध को श्रीमद्भागवत गीता में 'समत्व योग' कहा गया, जिसके अनुसार वीतरागी एवं स्थित प्रज्ञ मनुष्य भय, क्रोध, राग, द्वेष एवं सुख की भावना से ग्रसित नहीं होता—

''दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुः विगत स्पृहः।
वीतराग भय क्रोधः स्थित धीर्मुनिरूच्यते॥''[2]

'समत्वयोग' 'अद्वैत वेदान्त' की दार्शनिक अवधारणा से हिन्दी के प्रमुख संत कवि कबीर, रैदास, रज्जव, दादूदयाल एवं पलटू दास आदि पर्याप्त रूप से प्रभावित रहे हैं। सभी संतों ने इस अवधारणा को अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया है, उनके द्वारा प्रयुक्त दृष्टांत एवं कथन शैली में भले ही भिननता हो। इस समत्वबोध की अवधारणा के संदेश द्वारा संत कवियों ने न केवल समाज में समरसता स्थापित करने की चेष्टा की अपितु आध्यात्मक के धरातल पर भी उन्हें पर्याप्त उदार, उदात्त, सहिष्णु, दयावान, परोपकारी एवं पर दुःख कातर बनाया। महान संत कवि दादू दयाल जी के संदेशों में यह समत्व दृष्टि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं—

''आतम भाई जीव सब, एक पेट परिवार।
दादू मूल विचारिये, (तौ) दूजा कौन गँवार॥''[3]

स्पष्ट है कि दादू जी सभी प्राणियों को एक ही परिवार का अंग मानते हैं, फिर इनके यहाँ दूसरा अथवा पराया कौन है?

संत दादू दयाल जी आगे गीता के मूल संदेश को अत्यन्त सहज ढंग से अपनी शैली में सरल ढंग से व्यक्त करते हैं—

''दादू सम करि देखिये, कुञ्जर कीट समान।
दादू दुविध्या दूरि करि, तजि आपा अभिमान॥''[4]

संत दादू की सामाजिक समरसता की भावना एवं जीवन दर्शन को सार रूप में समझने के लिए निम्नलिखित पद अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जिसमें उन्होंने अपने विशिष्ट पंथ के स्वरुप एवं उसकी विशेषताओं को अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—

''भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै परव रहित पंथ गहि पूरा, आवरण एक अधारा॥टेक॥
वाद विवाद काहू सौ नाहि, मैं हूँ जग थैं न्यारा।
समदृष्टि सूँ भाइ सहज मैं, आपहि आप विचारा॥
मैं-तैं-मेरी यहुमति नाँही, निर्वैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आपा पर, निरालम्ब निरधारा॥
काहू के संग मोह न ममिता, संगी सिरजनहारा।
मनही मन सौं समूझि समाना, आनँद एक अपारा।
काम कल्पना कदै न कीजै, पूरा ब्रह्म पियारा॥
इहि पंथि पार गहि दादू, सो तत सहजि सँभारा॥''[5]

स्पष्ट है कि दादू-पंथ के अनुसार किसी से वाद विवाद करना व्यर्थ है, सब में अपने को ही देखने के कारण साधक के मन में समदृष्टि का विकास होता है, वह अपने पराये का भेद भूल जाता है, वह किसी में भी शत्रु भाव नहीं देखता। वह मन एवं चित्त के समस्त विकारों एवं संकुचित मनोवृत्तियों से ऊपर उठ जाता है। वह किसी के मोह पाश में बँध कर सिरजनहारा को नहीं भूलता। अतः दादू-पंथ के अनुसार समाज के सभी वर्गों एवं जातियों में प्रेम का भाव एवं समानता का बोध जागृत होता है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान हो, गरीब हो या धनी हो या उच्च वर्ण का हो या निम्न वर्ण का हो। यही उनकी साधना एवं उनकी सामाजिक समरसता का मूल संदेश है।

दादू के ब्रह्म या परमात्मा का स्वरूप निराकार है। वह सर्वत्र व्याप्त है और सृष्टि के कण-कण में विराजमान हैं। वह अनुभव की चीज है। उसे सामान्य आँखों से देखना सम्भव नहीं हैं। अपने सिरजनहार की विशिष्टता को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

*प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

''बिन श्रवणहु सब कुछ सुणै, बिन नैनहु सब देखै।
बिन दसना मुख कुछ बोलै, यह दादू अचिरज पेखै।।''[6]

यहाँ पर सहज में ही गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ याद आ जाती है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना।।
आनन रहत - सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।[7]

दादू दयाल की सामाजिक समरसता की मूल दृष्टि से निर्वैरता अर्थात् संसार में किसी से वैर भाव का न रखना, क्योंकि शत्रु भाव वहीं उत्पन्न होता जब हम दूसरों को पराया समझते हैं, अपना नहीं मानते। दादू के अनुसार जब हम जिसके अंग से उपजे हैं यदि वही सब के अन्दर विद्यमान है तो वह पराया कैसे हुआ?—

''किसको वैरी ह्वें रह्या, दूजा कोई नाँहि।
जिसके अंक थे उपजै, सोई है सब माँहि।।''[8]

यदि यह भाव बोध साधक के मन में उतर जाय तब तो उसे संसार में रहते हुए भी कभी दुःख का अनुभव नहीं होगा; क्योंकि जब सब जगह एवं सब में अपनापन ही देखेंगे तो उसे किसी भी प्रकार के क्लेश का बोध नहीं होगा—

जयौं आपे देखें आपै कौ, यो जो दूसर होई।
तौ दादे दूसर नहीं, दुक्ख न पावै कोई।।[9]

इस प्रकार के समत्व बोध से युक्त व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोलता और न दूसरों की निन्दा करता है। उसका मन हरि पद में लगा रहता है, अतः संसार के अवगुणों को छोड़कर वह केवल गुणों का ही ग्रहण करता है—

मिथ्या मुखि बोलै नहीं, पर निन्दा नाँही।
औगुण छाँड़े गुण गहै, मन हरिपद माँहि।।[10]

संत दादू के संदेश के अनुसार समदर्शिता का भाव ग्रहण करने वाला व्यक्ति हमेशा सुखी रहता है क्योंकि उसमें अहंकार नहीं होता। वह किसी भी आत्मा को या मनुष्य को अपना वैरी नहीं समझता—

निवैरी सब आत्मा, पर आत्म न जाने।
सुखदाई समिता गहै, आपा नहीं आनै।।[11]

संत दादू दयाल उस सिरजन हार के नाम को हृदय में बसाने का संदेश देते हैं। उनके अनुसार संसार के सारे पाखण्डों एवं प्रपंचों से दूर रहकर उस परम सत्ता के नाम को हृदय में धारण करें—

दादू नीका नाँव है, सौ तू हिरदय राखि।
पाखंड प्रपंच दूरि करि, सुनि साधू जन की साखि।।[12]

दादू किसी विशेष नाम के प्रति आग्रह नहीं करते हैं। उनके अनुसार जिसे जो नाम रूचे वह उसी का जाप करे, उसी का स्मरण करे, उसी का चिन्तन करें। उनका स्पष्ट संदेश है कि साधू जन अपनी इच्छानुसार किसी नाम को चित्त में धारण करें—

दादू सिरजनहार के केते नाँव अनन्त।
चिति आवे सो लीजिये, यों साधू सुमिरै संत।।[13]

संत दादू की साधना पद्धति अत्यन्त सहज एवं अनुभव गम्य है। उनके अनुसार भक्ति के लिए आवश्यक है— परमसत्ता के प्रति उत्कृट प्रेम। इस प्रेम की उत्पत्ति विरह-बोध के कारण होती है। जब जीव को यह सच्चा बोध होता है कि सिरजनहार का मिलन ही हमारे जीवन का मूल लक्ष्य है। हम उससे दूर हो गये हैं, उससे अलग हो गये हैं। उससे अलगाव बोध के कारण तीव्र वियोग उत्पन्न होता है, तब साधक के मन में अपार दरद या पीड़ा का बोध जागृत होता है। अतः दरद का बोध, अलगाव का ज्ञान एवं प्रिय से मिलने की तीव्र छटपटाहट ही साधक को उस परम सत्ता के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त बनाती है। अतः संत दादू दयाल स्पष्ट रूप से कहते हैं—

प्रीति न उपजै बिरह बिन, प्रेम भगति क्यौं होइ।
सब झूठे दादू भाव बिन कोटि करें जो कोई।।[14]

यह तभी संभव है जब अन्दर में पीड़ा उभरे। साधक की अन्तरात्मा गहराई से पीड़ा का अनुभव करे। इसके अभाव में बाहरी पुकार व्यर्थ है—

अन्दरि पीड़ न ऊभरै, बाहिर करै पुकार।
दादू सो क्यौं कटि लहै, साहिब को दीदार।।[16]

दादू का स्पष्ट कहना है कि न तो हमारे मन में साहब से मिलने की आतुरता या पीड़ा है, न हम उसे दिल से पुकारते हैं, तो भला वह साहब हमें कैसे मिलेगा? और तब हमारा जीवन निरर्थक बीत जायगा—

दादू पीड़ न ऊपजी, ना हम करी पुकार।
ताथैं साहिब ना मिल्या, दादू बीती वार।।[16]

सच्चे एवं आन्तरिक विरह बोध से पीड़ित संत दादू दयाल अपने प्रिय के पास मार्मिक संदेश भेजते हैं, कि कोई जाकर मेरे प्रिय को बताये कि मैं दिन रात उनके तीव्र वियोग में तड़प रहा हूँ, और मेरे मन में बेचैनी है कि कब मैं प्रिय का दर्शन करूँ—

दादू विरह वियोग न सहि सकैं, निसिदिन सालै मोहिं।
कोई कहौ मेरे पीव कौं, कब मुख देखौं तोहिं।।[17]

समत्व बोध के कारण दादू जीव हिंसा की कठोर निन्दा करते हैं। वे उसे संत मानने को ही तैयार नहीं है जो जीव हत्या करता है। वे हिंसक व्यक्ति को दोज़ख में जाने का श्राप भी देते हैं—

दादू कोई काहू जीवन की करें आतमा घात।
साँच कहौ संत नहीं, ते प्राणी दोजग जात।।[18]

उनके अनुसार जीव के दरद को न समझने वाला व्यक्ति घोर नरकगामी होता है, चाहे उसने कितने भी प्रकार के धार्मिक ग्रंथों को पढ़ा हो—

वेद, कतेब, कुरान, गीता पढ़े, जीव का दरद नहिं कंवहि आने।
जीव का दरद फुरमान साईं किया, सोई दुरवेश जो कहा माने।।[19]

सामाजिक समरसता में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है अपने शरीर का घोर मोह। इन्द्रिय लिप्सा के चलते व्यक्ति अनेक प्रकार के कुकर्मों को करता है। अपने परिवार एवं कुटुम्ब के मोह में ही मनुष्य एक से बढ़कर एक पाप कर्म करता है। इस संकुचित एवं कुत्सित वृति के प्रति वे साधक को सावधान करते हैं—

दादू झूठे तन के कारणे, कीये बहुत विकार।
गृह दारा धन संपदा पूत कुटुंब परिवार।।[20]

यह कथन आज के परिवेश में अत्यन्त सार्थक है। आज के भ्रष्टाचार के वातावरण में यह उपदेश अत्यन्त उपयोगी है।

सामाजिक समरसता में सबसे बड़ी बाधक वृत्ति है, लोभ एवं काम। लोभ एवं काम ऐसी कुवृत्ति है, जिसके कारण समाज में हिंसा, भ्रष्टाचार, वैमनस्य, द्वेष, बलात्कार, लूट, खसोट एवं विध्वंस का विनाशकारी वातावरण निर्मित होता है। सर्वत्र अशान्ति एवं अव्यवस्था होने लगती है। संद दादू दयाल समाज एवं व्यक्ति की इन कुत्सित मनोवृत्तियों के घातक परिणामों से भलिभाँति परिचित थे। अतः उन्होंने अनेक जगहों पर लोभ एवं काम की दृढ़ शब्दों में कठोर निन्दा करते हैं—

नारी पीवे पुरुष को पुरुष नारि को खाय।
दादू गुरु के ज्ञान बिन दोन्यूँ गए विलाय।।[21]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत दादू दयाल जी एवं अन्य संत कवियों का मूल उद्देश्य था, समाज में सामाजिक समरसता की स्थापना करना। कविता तो उनके लिए साधन मात्र थी। मूल साध्य था समाज में सौमनस्य एवं सहिष्णुता की वृत्ति की स्थापना करना। वे जाति, धर्म, सम्प्रदाय, आर्थिक एवं राजनैतिक मतभेदों को दूर कर समत्वबोध को जाग्रत करना चाहते थे। वे मनुष्य मात्र के लौकिक मंगल एवं आध्यात्मिक कल्याण की कामना करते हैं। दादू दयाल के अतिरिक्त उस युग के अन्य महान कवियों कबीर, रज्जव, रैदास, सूरदास, तुलसीदास, सहजोबाई एवं मीराबाई आदि के संदेश उस युग में तो महत्वपूर्ण थे ही। आज के युग में उनके संदेशों की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ है। समकालीन परिवेश में जो नैतिक गिरावट देखी जा रही है उन सब का समाधान इन महान संत कवियों के संदेशों में निहित है। आये दिन बलात्कार, हिंसा, आतंक, घपला, घोटाला, भ्रष्टाचार, अराजकता एवं स्वार्थलोलुपता से हमारे देश को तभी मुक्ति मिल सकती है, जब हम दादू दयाल जैसे महान संतों एवं भक्तों के उपदेशों को सामाजिक जीवन एवं अपने व्यक्तिगत आचरण में उतारें। आज के अविश्वास, अपहरण, वैमनस्य, विद्वेष एवं क्षेत्रीय आग्रह से भरे वातावरण को त्याग, संयम, प्रेम, दया, करूणा एवं परोपकार की भावना के प्रचार-प्रसार द्वारा दूर किया जा सकता है, जिसकी पर्याप्त प्रेरणा एवं शक्ति हमें दादू दयाल जैसे महान संतों की वाणियों से मिलती है।

सन्दर्भ

1. श्रीमद्भगवद गीता अध्याय 12, श्लोक 56
2. वही, 5/18
3. स्वामी मंगलदार, स्वामी दादू दयाल जी की वाणी, दया निरवैरता को अंग 18
4. वही, 25
5. वही, राग गौड़ी 1-66
6. दादू दयाल की बानी, भाग एक, पृ. 14/216
7. गोस्वामी तुलसीदास, 'श्रीरामचरितमानस' बालकाण्ड, दोहा 118/5,6,7,8
8. स्वामी मंगलदास, स्वामी दादू दयाल की वाणी, भूमिका पृ. 45
9. वही, दया निर्वैरता को अंग, 18/16
10. वही, राग विलावल साधु परीक्षा 21
11. वही, 21
12. वही, सुमिरण को अंग, 7
13. वही, 23
14. वही, 110
15. वही, 107
16. वही, 106
17. वही, 90
18. वही, साँच को अंग पृ. 147-48
19. वही, पृ. 148
20. दादू दयाल की बानी, भाग एक 12/13
21. वही, पृ. 129-130

विदुरनीति में सामाजिक उपदेश

*प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी**

महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित महाभारत में महात्मा विदुर का वृत्तान्त आदि पर्व से प्रारम्भ कर स्वर्गारोहण पर्व तक सत्पथ के उपदेष्टा, अनीति का विरोध करने वाले नीतिज्ञ के रूप में प्राप्त होता है। महात्मा विदुर कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास के पुत्र थे। इनका जन्म विचित्रवीर्य की अम्बिका नामक रानी की शूद्रा दासी के गर्भ से हुआ था। महात्मा विदुर धर्म के साक्षात् अवतार थे। आदिपर्व में प्राप्त होने वाले उनके जन्म के वृत्तान्त से विदित होता है कि तत्त्वज्ञ अणीमाण्डव महर्षि के शाप के कारण धर्म ही विदुर के रूप में शूद्रा दासी के गर्भ से मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं। माण्डव ऋषि द्वारा पक्षियों की पूँछ में इषिका घुसाने के अल्प अपराध के निमित्त धर्मराज ऋषि को शूल पर लम्बे समय तक छिदकर टँगे रहने का कठोर दण्ड देते हैं। धर्मराज के इस निर्णय से क्रुद्ध हुए अणीमाण्डव ऋषि धर्मराज को मनुष्य योनि में विदुर के रूप में जन्म लेने का शाप देते हैं-

अल्पेऽपराधे विपुलो मम दण्डस्त्वया कृतः।
शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः संभविष्यसि।।
एतेन त्वपराधेन शापात्तस्य महात्मनः।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत।।

(महाभारत, आदिपर्व 101,25,27)

महर्षि वेदव्यास के सम्पर्क से मनुष्य योनि में दासी के गर्भ से उत्पन्न महात्मा विदुर, धर्म तथा अर्थ में कुशल थे, लोभ तथा क्रोध से रहित थे, दीर्घदर्शी थे, जितेन्द्रिय थे, कौरवों को आजीवन सत्पथ पर चलने हेतु प्रवृत्त करने का प्रयास करते हुए उनके हितसाधन में सलग्न थे-

धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः।।

(महाभारत, आदिपर्व 101,28)

महात्मा विदुर को कौरव तथा पाण्डव दोनों ही प्रिय थे। सम्पूर्ण महाभारत में महात्मा विदुर कौरवों के पक्ष में रह राजनीति में सक्रिय रहते हुए भी पाण्डवों की रक्षा के प्रति सतत समर्पित दिखाई देते हैं। महात्मा विदुर कौरवों के अनीतिपूर्ण निर्णयों का निडर हो विरोध करते हुए कौरवों के कुचक्रों से पाण्डुपुत्रों की निरन्तर रक्षा करते हैं। महात्मा विदुर महाभारत में आदिपर्व से प्रारम्भ कर वनपर्व पर्यन्त कौरवों को उनकी अनीतिपूर्ण प्रवृत्ति के लिए निर्भीक हो निरन्तर फटकार लगाते हैं। महात्मा विदुर ने पाण्डुपुत्रों को कौरवों द्वारा उनके विरुद्ध किए गए षड्यन्त्रों के प्रति सतर्क किया तथा विपरीत परिस्थिति में भी उन्हें धर्म के मार्ग पर चलने के लिए निरन्तर प्रेरित भी।

महाभारत में दोनों ही पक्षों में धर्म की प्रतिष्ठा है। पाण्डवों के मध्य ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जहाँ धर्म के साक्षात् अंश हैं तो वहीं कौरवों के मध्य महात्मा विदुर साक्षात् धर्म का अवतार ही हैं। धर्मराज के शापित अवतार विदुर, शूद्रयोनि में उत्पन्न होने के कारण सर्वविध योग्य होते हुए भी शासकीय प्रभुत्व के अधिकारी नहीं हो सके, जबकि धर्म का शापरहित अंशमात्र होने पर भी क्षत्रिय कुमार युधिष्ठिर राजसत्ता की प्रतिस्पर्धा में बने रहे।

महाभारत के आरण्यकपर्व में पाण्डवों के वनगमन के उपरान्त महाराजा धृतराष्ट्र द्वारा पूछे जाने पर महात्मा विदुर उनके तथा उनके पुत्र दुर्योधन के लिए हितकारी सलाह देते हैं और पाण्डुपुत्रों को उनका राज्य लौटा देने के लिए कहते हैं। विदुर के अनुसार अर्थ, काम और मोक्ष इस त्रिवर्ग का मूल धर्म है। विद्वानों ने राज्य का मूल भी धर्म को ही माना है। इसलिए धृतराष्ट्र को ध र्म का अनुगामी होकर अपने सभी पुत्रों के साथ कुन्ती के पुत्रों का समान रूप से संरक्षण करना चाहिए-

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या पुत्रान् सर्वान् पाहि कुन्तीसुतांश्च।।5.4।।

महात्मा विदुर के अनुसार दुर्योधन को पाण्डुपुत्रों के साथ मिलकर नीतिपूर्वक राज्य करना चाहिए। धृतराष्ट्र को भी अपने पुत्रों की अनुचित सलाह नहीं माननी चाहिए। ऐसा करने से उनको दुःख नहीं होगा। यदि यह सम्भव न हो तो महाराजा को अपने पुत्र दुर्योधन को कैद कर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को राज्याधिकार सौंप देना चाहिए-

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते संप्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम्।
तापो न ते वै भविता प्रीतियोगात् त्वं चेन्न गृह्णासि सुतं सहायैः।।
अथापरो भवति हि तं निगृह्य पाण्डोः पुत्रं प्रकुरु वाधिपत्ये।।5.12।।

महात्मा विदुर की इस सलाह से कुपित हस्तिनापुर नरेश धतराष्ट्र उनका परित्याग कर देते हैं। हस्तिनापुर नरेश यद्यपि महात्मा विदुर का सम्मान करते हैं, परन्तु हमेशा कुटिलतापूर्ण वचनों को

*प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कहने के कारण वे विदुर से नाराज हो जाते हैं। उनके अनुसार जैसे असाध्वी स्त्री अनेक प्रकार से समझाई जाने पर भी पति का परित्याग करती है वैसे ही विदुर चाहे तो यहां रहे अथवा जहां इच्छा हो वहां चले जाएं-

स मा जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि मानं च तेऽहमधिकं धारयामि।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं सुसान्त्वमानाप्यसती स्त्री जहाति।।5.19।।

धृतराष्ट्र के इन वचनों से क्षुब्ध महात्मा विदुर हस्तिनापुर का परित्याग कर काम्यकवन में पाण्डवों से जा मिलते हैं तथा उनको धर्म का उपदेश देते हैं (आरण्यकपर्व 6.6)। विदुर के द्वारा राज्य का परित्याग करने का समाचार सुन धृतराष्ट्र मूर्छित हो जाते हैं तथा संजय को भेजते हैं उन्हें वापस बुलाने के लिए। वे कहते हैं कि विदुर उनका भाई है, मित्र है और साक्षात् धर्म ही है-

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद् धर्म इवापरः।
तस्य स्मृत्वाद्य सृभृशं हृदयं दीर्यतीव मे।।7.4।।

महाराजा धृतराष्ट्र को क्षमादान कर विदुर पुनः कौरवों के पक्ष में उपस्थित होते हैं। यह है महात्मना विदुर तथा हस्तिनापुर नरेश के मध्य सैद्धान्तिक मतभेद की प्रारंभिक स्थिति।

'विदुरनीति' नाम से प्रसिद्ध सामाजिक उपदेशात्मक नीतिग्रन्थ महाभारत के उद्योगपर्व में अध्याय 33 से प्रारम्भ हो अध्याय 40 के मध्य आठ अध्यायों में विभक्त है। यह उपदेश महाभारत के प्रलयंकारी युद्ध के पूर्व उसकी विभीषिका से अत्यन्त उद्विग्न महाराजा धृतराष्ट्र को महात्मा विदुर ने दिया था, उनके द्वारा निवेदन किए जाने पर, न कि स्वेच्छा से।

महाभारत के वनपर्व के अनन्तर आने वाले उद्योगपर्व में हस्तिनापुर नरेश धृतराष्ट्र संजय को दूत बना कर पाण्डवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर के पास भेजते हैं। उनका लक्ष्य युधिष्ठिर को समझाकर युद्ध की संभावना को समाप्त करना था। युधिष्ठिर हस्तिनापुर नरेश धृतराष्ट्र के वचनों को शान्तिपूर्वक सुनते हैं। वे पूर्णतः सहमत थे कि दोनों पक्षों में समझौता हो जाए, जिससे कि युद्ध की विभीषिका को टाला जा सके। उन्होंने संजय के माध्यम से धृतराष्ट्र के सम्मुख पाँच गाँव कुशस्थल, वृकस्थल, आसन्दी, वारणावत तथा पाचवाँ स्वेच्छा से कोई भी देने का प्रस्ताव रखा क्योंकि पाण्डव सभी भाइयों को प्रसन्न देखना चाहते थे-

कुशस्थलं वृकस्थलमासन्दी वारणावतम्।
अवसानं भवेदत्र किंचिदेव तु पञ्चमम्।।
भ्रातॄणां देहि पञ्चानां ग्रामान् पञ्च सुयोधन।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय!।।
भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम्।
स्मयमानाः समायान्तु पाञ्चालाः कुरुभिः सह।।
अक्षतान्कुरुपाञ्चालान् पश्येम इति कामये।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ।।
अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च।।
उद्योगपर्व, 31.19-23

युधिष्ठिर पाँच गाँव प्राप्त कर संतुष्ट होने का प्रस्ताव भिजवाते जरूर हैं, परन्तु वे कौरवों को सतर्क भी कर देते हैं कि पाण्डव यदि शान्ति रखने में समर्थ हैं, तो युद्ध करने में भी। धर्म और अर्थ दोनों का ही ठीक-ठीक ज्ञान रखते हुए वे समयानुसार कोमल तथा कठोर व्यवहार करने में भी समर्थ हैं।

युधिष्ठिर के प्रस्ताव को धृतराष्ट्र तक पहुँचाने के लिए संजय हस्तिनापुर लौट राजभवन में प्रवेश करता है। संजय युधिष्ठिर के परम धार्मिक तथा नीतिसम्मत वचनों से धृतराष्ट्र को परिचित करा उनको उलाहना देता है-

अङ्गात्मनः कर्म निबोध राजन् धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम्।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन् नोहेश्च पापं प्रसजेदमुत्र।।
उद्योगपर्व ।।32.15।।

स त्वमर्थं संशयितं विना तैराशंससे पुत्रवशानुगोऽद्य।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्र्य।।32.16।।
हीनप्रज्ञो दौष्कुलयो नृशंसो दीर्घवैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः।
एवंधर्मा नापदः संतितीर्षेद्धीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः।।32.17।।
स त्वा गर्हे भारतानां विरोधाद् अन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात् कुरून्दहेत्कृष्णवर्त्मेव कक्षम्।।32.27।।
त्वमेवैको जातपुत्रेषु राजन् वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र।
कामात्मनां श्लाघसे द्यूतकाले नान्यच्छमात्पश्य विपाकमस्य।।32.28।।

संजय के अनुसार अधर्मी तथा अविवेकी धृतराष्ट्र पुत्रमोह में पड़कर विनाश के रास्ते पर जा रहे थे। पाण्डवों को उनके हिस्से का राज्य न देने का निर्णय शकुनि-कर्ण-दुर्योधनादि की सलाह पर लिया जाना कौरवों के सम्पूर्ण विनाश का कारण बन बैठा था। उनके अनुसार पाण्डवों से किया गया वैर सम्पूर्ण कौरव वंश का विनाश उसी प्रकार कर देगा जैसे अग्नि तृण को भस्मसात् कर देता है।

प्रातःकाल राजसभा में उपस्थित हो सभी के सम्मुख युधिष्ठिर के वचनों को प्रकाशित करने के वचन के साथ संजय अपने आवास में चला जाता है।

संजय के वचनों से अत्यधिक उद्विग्न हस्तिनापुर नरेश धृतराष्ट्र नींद न आने पर द्वारपाल को भेज विदुर को बुलवाते हैं। विदुर उपस्थित हो धृतराष्ट्र को जो उपदेश देते हैं वे ही **'विदुरनीति'** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस समय धृतराष्ट्र को सर्वथा अविदित था आगामी दिवस राजसभा में संजय द्वारा उद्घाटित किया जाने वाला पाण्डवों का पाँच गाँव सम्बन्धी सन्देश।

आठ अध्यायों में विभक्त विदुरनीति (उद्योगपर्व 33-40 अध्याय) में लगभग 540 पद्य हैं। सत्पथ से भटके धृतराष्ट्र को महात्मा विदुर अनेक विधियों से समझाने का प्रयास करते हैं। उनका उद्देश्य था युद्ध की विभीषिका को समाप्त करना, जिसका कारण था धृतराष्ट्र का अविवेक, अनीतिपूर्ण निर्णय तथा सर्वोपरि पुत्रमोह। युद्ध की विभीषिका को टालना तभी संभव था जब युधिष्ठिर को अपनाकर हस्तिनापुर नरेश धृतराष्ट्र निर्धारित राज्यांश पाण्डवों को समुचित रूप से प्रदान करें। महात्मा विदुर का उद्देश्य है हस्तिनापुर नरेश धृतराष्ट्र को उनके अनीतिज्ञ तथा अधार्मिक पुत्रों तथा उनके सहयोगियों शकुनि-कर्ण आदि के वश से निकालकर पाण्डवों के पक्ष में धार्मिक निर्णय लेने के लिए उद्यत करना।

धृतराष्ट्र को चिन्ता के कारण नींद नहीं आती। वे चिन्तित थे अजातशत्रु युधिष्ठिर के वचनों के विषय में, जिनको संजय राजसभा में अगले दिन सुनाने वाला था।

महात्मा विदुर, उपस्थित होते ही, धृतराष्ट्र से अनिद्रा (प्रजागर) के कारणों का कथन करते हैं। उनके अनुसार बलवान् के साथ विरोध करने वाले साधनहीन दुर्बल व्यक्ति को, जिसका सब कुछ हर लिया गया है उसको तथा कामी और चोर को रात में नींद नहीं आती। धृतराष्ट्र भी इन दोषों के सम्पर्क के कारण या फिर पराए धन के लोभ से कष्ट का अनुभव कर रहे हैं-

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः।।33.13।।
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप!
कच्चिन्न परवित्तेषु गृध्यन् विपरितप्यसे।।33.14।।

महाराजा धृतराष्ट्र सम्पूर्ण कौरव कुल में महात्मा विदुर को विद्वानों में भी माननीय मानते हैं तथा उनके धर्मयुक्त कल्याणकारी वचन सुनने की इच्छा व्यक्त करते हैं। विदुर अपने उपदेश के प्रारंभ में सर्वप्रथम **पण्डित** कहलाने योग्य व्यक्ति के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हैं। उनके अनुसार अच्छे कर्मों का सेवन करने वाला तथा बुरे कर्मों से बचने वाला आस्तिक, श्रद्धावान् पण्डित कहलाता है। क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा विकत्थना (आत्मप्रशंसा) आदि दोषों के भाव पण्डित को पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते-

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्धधानः एतत्पण्डितलक्षणम्।।33.16।।
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते।।33.17।।

पण्डित बुद्धि वाले व्यक्ति की सलाह तथा योजना कार्य पूरा होने पर ही विदित होती है। सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता उसके कार्य में विघ्न नहीं डालते। उसकी बुद्धि भोग का मार्ग त्याग कर धर्म तथा अर्थ का सेवन करती है, अर्थात् अनासक्त हो वह पुरुषार्थसिद्धि में संलग्न होता है-

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा यन्त्रितं परे
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते।।33.18।।
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते।।33.19।।
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते।।33.20।।

पण्डित बुद्धि वाला व्यक्ति दुर्लभ की कामना नहीं करता, खोई हुई वस्तु का शोक नहीं करता और विपत्ति में घबराता नहीं है-

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः।।33.23।।

पण्डित यथासामर्थ्य कार्य करते हैं तथा किसी भी वस्तु को तुच्छ समझ उसकी अवहेलना नहीं करते। वे निश्चय कर प्रारंभ किए गए कार्य के बीच में नहीं रुकते, समय को व्यर्थ नहीं करते और चित्त को वश में रखते हैं-

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते।।33.24।।

पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मों में रुचि रखते हैं, उन्नति के कार्य करते हैं, भलाई करने वालों से ईर्ष्या नहीं करते। वे आदर से प्रसन्न नहीं होते, अनादर से संतप्त नहीं होते तथा गंगा के अल्प ह्रद के समान क्षुभित नहीं होते। तर्क में निपुण और प्रतिभाशाली होते हैं पण्डित-

आर्यकर्माणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ।।33.25।।
न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते।।33.26।।
तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते।।33.27।।
प्रवृत्तवाक्चित्रकथ ऊहवान्प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च स वै पण्डित उच्यते।।33.28।।

पण्डित व्यक्ति की विद्या बुद्धि का अनुसरण करती है तथा बुद्धि विद्या का। वह शिष्ट की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। विदुर के अनुसार जो व्यक्ति धन, विद्या तथा ऐश्वर्य से संपन्न होकर भी उद्दण्डतापूर्ण आचरण नहीं करता वह पण्डित है-

श्रुतं प्रज्ञानुगं अस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत यः।।33.29।।

पण्डित के लक्षण प्रतिपादित कर विदुर मूर्ख के लक्षणों का आख्यान करते हैं। उनके अनुसार मूर्ख वह है जो अशिक्षित होकर भी गर्व करता है, दरिद्र होकर भी कामी होता है, क्रियाशील न होकर भी धन की इच्छा रखता है। मित्र के साथ असत् आचरण करने वाला, प्रिय व्यक्ति से घृणा तथा अप्रिय से स्नेह रखने वाला, बलवान् से वैर साधने वाला, शत्रु को मित्र तथा मित्र को शत्रु बनाकर असत्कर्मों में प्रवृत्त होने वाला, दीर्घसूत्री, सर्वत्र संदेह करने वाला व्यक्ति मूढ होता है-

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम्।।33.33।।

बिना बुलाये प्रवेश करने वाला, बिना पूछे बोलने वाला, अविश्वसनीय पर भी विश्वास करने वाला मूढ कहलाता है-

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
विश्वसत्यप्रमत्तेषु मूढचेता नराधमः।।33.35।।

स्वामी न होते हुए भी व्यर्थ क्रोध करने वाला, अनधिकारी को उपदेश देने वाला, शून्य की उपासना तथा कृपण का आश्रय लेने वाला मूढ कहलाता है।

पण्डित तथा मूढ व्यक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कर विदुर महाराजा धृतराष्ट्र को एक से लेकर दस संख्या पर्यन्त तत्त्वों का महत्त्व इस प्रकार बताते हैं।

(1) उनके अनुसार धनुर्धर द्वारा छोड़ा गया बाण संभव है एक को मारे या न मारे, परन्तु एक बुद्धिमान् शत्रु द्वारा प्रयुक्त बुद्धि राजा के साथ सम्पूर्ण प्रजा को नष्ट कर देती है-

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्।।33.42।।

विदुर के अनुसार एक बुद्धि से मनुष्य को दो कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर तीन शत्रु, मित्र तथा उदासीन को चार साम, दाम, भेद तथा दण्ड से वश में करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँच इन्द्रियों को जीतकर, छः गुणों सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय को जानकर, सात स्त्री, जुआ, मदिरा, मृगया, कटुभाषण, कठोर दण्ड और अन्याय से धनोपार्जन का परित्याग मनुष्य को सुखी बनाता है।

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव।।
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा दृष्टिरहिंसैका सुखावहा।।33.43,57।।

एक धर्म ही है परम कल्याणकारक, क्षमा ही है शान्ति का सर्वोत्तम उपाय, विद्या ही है परमदृष्टि तथा एकमात्र अहिंसा ही है परमसुखकारी।

(2) तनिक भी कठोर न बोलने तथा दुष्ट पुरुषों का आदर न करने वाला मनुष्य सम्मान का पात्र होता है। निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तु की कामना करने वाला, स्वामी न होकर भी क्रोध करने वाला मनुष्य अपना विनाश स्वयं करता है। क्षमाशील बलवान् तथा धनहीन निर्धन दानी स्वर्ग से भी ऊपर रहते हैं। अपात्र को देना तथा सत्पात्र को न देना न्यायपूर्वक अर्जित धन के सर्वाधिक दो दुरुपयोग हैं-

द्वाविमौ पुरुषौ राजन्स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्।।33.63।।
न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम्।।33.64।

(3) स्त्री, पुत्र तथा दास ये तीनों धन के अधिकारी नहीं होते। इनके द्वारा कमाया धन उसका होता है जिसके अधीन ये रहते हैं। उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन ही हैं न्यायानुकूल सिद्धि के उपाय-

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः।।33.55।।
त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु।।33.56।।
त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः।
यद्धत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्।।33.57।।

(4) अल्पमति वाले, दीर्घसूत्री, आलसी तथा स्तुति करने वाले लोगों के साथ सलाह नहीं करनी चाहिए। लक्ष्मीवान् गृहस्थ के घर में कुटुम्ब के वृद्धपुरुष, संकटापन्न अभिजात, धनहीन मित्र तथा संतति रहित बहिन का वास होना चाहिए-

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजु टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या।।33.59।।

बृहस्पति के अनुसार- देवताओं का संकल्प, बुद्धिमानों का प्रभाव, विद्वानों की नम्रता तथा पापकर्मियों का विनाश तत्काल फलदायी होते हैं-

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम्।।33.61।।

(5) यत्नपूर्वक सेवा योग्य पाँच अग्नियाँ हैं- पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु। पाँच की सेवा शुद्ध यश देती है- देवता, पितर, मनुष्य, सन्यासी और अतिथि। पाँच पीछा नहीं छोड़ते- मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देने तथा पाने वाले-

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ।।33.62।।

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान्।।33.63।।
पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः।।33.64।।

मशक के छिद्र से पानी के समान पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से एक के भी दोषयुक्त हो जाने पर बुद्धि बह निकलती है-

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्।।33.65।।

(6) सफलता चाहने वाले व्यक्ति को छः दोषों से बचना चाहिए- निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता-

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता।।33.66।।

छः गुण मनुष्यों को नहीं छोड़ना चाहिए- सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया, क्षमा तथा धैर्य-

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्या कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः।।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य छः अन्तः शत्रुओं को जीतने वाला अनर्थ का पात्र नहीं होता।

(7) दृढ़मूल राजा को भी नष्ट कर देने वाले सात दोषों का राजा को त्याग कर देना चाहिए- स्त्रीविषयक आसक्ति, जुआँ, मृगया, मद्यपान, वचन की कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना तथा धन का दुरुपयोग-

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च।।33.74।।

(8) विदुर के अनुसार ब्राह्मद्वेष, तज्जन्य ब्राह्मणविरोध, ब्राह्मण धनहरण, ब्राह्मणहत्या, ब्राह्मणनिन्दा में आनन्द, उनकी प्रशंसा न सुनना, यज्ञ-यागादि में स्मरण न करना, कुछ माँगने पर दोष निकालना इन दोषों को बुद्धिमान् व्यक्ति समझकर त्याग देता है-

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते।।33.75।।
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति।।33.76।।

लौकिक सुख तथा हर्ष के सारभूत आठ साधन हैं- मित्रों से समागम, अधिक धनार्जन, पुत्र का आलिंगन, मैथुन में प्रवृत्ति, समय पर प्रियवचन बोलना, अपने वग में उन्नति, अभीष्ट प्राप्ति तथा जनसमाज में सम्मान।

समागमश्च सखिभिः महांश्चैव धनागमः।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः सन्निपातश्च मैथुने।।33.79।।
समये च प्रियालापः स्वयूथेषु च संनतिः।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि।।33.80।।

(9) महात्मा विदुर के अनुसार आत्मा के निवास स्थान शरीररूपी गृह को जो विद्वान् तत्त्व से जानता है वही सही ज्ञानी है। इस शरीर के आँख, कान आदि नौ दरवाजे हैं, सत्त्व, रज तथा तमरूपी तीन आधारभूत खम्भे हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ साक्षी हैं-

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः।।33.81।।

(10) दस प्रकार के लोग धर्म के तत्त्व को नहीं जानते- मत्त, प्रमत्त (असावधान), उन्मत्त (पागल), श्रान्त, क्रुद्ध, बुभुक्षित, जल्दवाज, भयभीत, लोभी और कामी। विद्वान् इनमें आसक्त नहीं होते-

दश धर्म न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।।33.82।।
त्वरमाणश्च भीरुश्च लुब्धः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु भावेषु न प्रसज्जेत पण्डितः।।33.83।।

प्रत्येक मनुष्य के लिए अपेक्षित इन दस तत्त्वों के रूप में वैशिष्ट्यों को प्रतिपादित करते हुए विदुर जी ने समाज के आदर्श स्वरूप का प्रकाशन किया है।

विदुरनीति के प्रथम अध्याय (उद्योगपर्व 33) में श्लोकसंख्या 85 से 105 तक असुरराज प्रह्लाद द्वारा अपने पुत्र को दिये गये उपदेश का सार उपनिबद्ध है। इसमें समस्त लौकिक व्यवहार समाहित हो जाता है। यह उपदेश केवल राजा के लिए नहीं अपितु जनसामान्य के लिए समान रूप से उपयोगी है। इसका अनुसरण कर मनुष्य सात्विक जीवन व्यतीत कर सकता है। विदुर के अनुसार काम और क्रोध का परित्यागकर सत्पात्र को धन देने वाले, विशेषज्ञ, शास्त्रों के ज्ञाता और कर्तव्य को शीघ्र पूरा करने वाले राजा को सभी प्रमाण मानते हैं-

यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम्।।33.85।।

जो व्यक्ति जितेन्द्रिय पवित्र, देवपूजक, मांगलिक कर्म करने वाला, प्रायश्चित्त तथा नित्य किए जाने वाले अनेक प्रकार के लौकिक आचार को करता है देवता भी उसके अभ्युदय की सिद्धि में संलग्न रहते हैं-

दमं शौचं दैवतं मङ्गलानि प्रायश्चित्तं विविधाँल्लोकवादान्।
एतानि यः कुरुते नैत्यिकानि तस्योत्थानं देवता राधयन्ति।।33.97।।

जो मनुष्य सभी भूतों को शान्ति प्रदान करने में तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दानी तथा पवित्र विचार वाला होता है वही अच्छी खान से निकले चमकते रत्न की भांति अपनी जाति वालों में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करता है-

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुः दानकृच्छुद्धभावः।
अतीव संज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः।।33.101।।

विदुरनीति के प्रत्येक अध्याय के अन्त में महात्मा विदुर धृतराष्ट्र को प्रेरित करते हैं कि वे पाण्डवों को उनका न्यायोचित राजभाग देकर उन्हें अपने पुत्रों के समान अपना लें। इसी में सभी की रक्षा तथा कल्याण निहित है।

प्रथम अध्याय में विदुर द्वारा दिए गए उपदेशों से धृतराष्ट्र संतुष्ट नहीं होते। वे विदुर से युधिष्ठिर के लिए हितकर तथा कौरवों के लिए कल्याणकारी उपदेश देने का पुनः निवेदन करते हैं। अतः विदुरनीति के द्वितीय अध्याय में महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को राजा के सत्कर्मों, लौकिक सदाचारपूर्ण जीवन तथा इन्द्रियों को वश में रखने के उपायों का उपदेश दिया।

विदुर कहते हैं कि कौरवों ने अनीतिपूर्वक पाण्डवों के अधिकार का हनन किया था अतः विदुर सतर्क करते हैं धृतराष्ट्र को कि वे यदि समय रहते पाण्डवों के साथ न्याय नहीं करेंगे तो कौरवों का सर्वनाश निश्चित है। विदुर के अनुसार-

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्।।34.4।।

मनुष्य को चाहिए कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी हो या बुरी, कल्याणकारी हो या अनिष्टकारी जो भी बात हो बता दे।

अनीति से कपटपूर्वक अर्जित सम्पत्ति पर धृतराष्ट्र को गर्व नहीं करना चाहिए। धैर्यवान् मनुष्य कर्मों का प्रयोजन, उनका परिणाम तथा उसमें निहित अपने लाभ को जानकर कार्य आरम्भ करता है-

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकांश्चैव कर्मणाम्।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा।।34.9।।

अपने तेज से पिता-पितामह के राज्य को प्राप्त कर भी अन्याय के मार्ग पर स्थित राजा उसको वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे हवा बादल को छिन्न भिन्न कर देती है-

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन तेजसा।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः।।34.25।।

धर्म से ही राज्य प्राप्त करें तथा धर्म से ही उसकी रक्षा करे, क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मी को प्राप्तकर न तो राजा उसको छोड़ता है और न वही राजा को छोड़ती है-

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते।।34.29।।

जो धातु स्वयं मुड़ जाती है उसको आग में नहीं तपाया जाता। जो काठ स्वयं झुका हो उसको झुकाने का कोई प्रयास नहीं करता-

यदतप्तं प्रणमति न तत्सन्तापयन्त्यपि।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्संनामयन्त्यपि।।34.24।।

सत्य से धर्म की, योग से विद्या की, सफाई से रूप की तथा सदाचार से कुल की रक्षा की जाती है -

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते।।34.37।।

चरित्रहीन व्यक्ति केवल उच्च कुल में उत्पन्न होने से मान्य नहीं हो जाता, क्योंकि नीच कुल में उत्पन्न का चरित्र भी श्रेष्ठ होता है-

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते।।34.39।।

मनस्वी पुरुषों का सहारा सन्त होता है, संतो का सहारा भी सन्त, दुष्ट का सहारा भी सन्त ही होता है, परन्तु दुष्ट सन्तों का सहारा नहीं होते-

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः।।34.44।।

विदुर महाराज धृतराष्ट्र को इन्द्रियसंयम का उपदेश देते हैं-

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते।।34.56।।

इन्द्रियों को वश में रखने वाले, मन्त्रियों को जीतने वाले, अपराधियों को दण्ड देने वाले, जाँच-परखकर काम करने वाले धीर पुरुष की लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है।

धृतराष्ट्र को समझाने में असमर्थ विदुर अन्त में भाग्य की दुहाई देते हैं- देवता जिसको पराभव देते हैं उसकी बुद्धि हर लेते हैं जिससे वह नीच कर्मों को ही देखता है। विनाशकाल उपस्थित होने पर बुद्धि भी कलुषित हो जाती है, जिसमें अन्याय भी न्याय के समान प्रतीत होने लगता है-

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽपाचीनानि पश्यति।।34.78।।

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति।।34.79।।

विदुर के अनुसार धर्मज्ञ युधिष्ठिर ही त्रिभुवन के राजा होने योग्य हैं। धृतराष्ट्र के प्रति गौरवबुद्धि के कारण तथा स्वभाव से ही दयावान् तथा सौम्य होने के कारण युधिष्ठिर कष्ट सह रहा है।

विदुरनीति के तृतीय अध्याय में धृतराष्ट्र धर्म और अर्थ से परिपूर्ण सद्विचारों से अतृप्त हो और अधिक उपदेश की कामना करते हैं। विदुर उनको केशिनी नामक अप्सरा के विवाह की कथा सुनाते हैं। उनके अनुसार राक्षसराज प्रह्लाद का पुत्र विरोचन केशिनी नामक अप्सरा को अपनाने का प्रयास करता है, परन्तु केशिनी अङ्गिरा ऋषि के पुत्र सुधन्वा नामक ब्राह्मण को दैत्य विरोचन से श्रेष्ठ समझ अपनाना चाहती है।

केशिनी के अनुसार ब्राह्मण सुधन्वा श्रेष्ठ है, दैत्य विरोचन की अपेक्षा, अतः वह ही उसकी शय्या पर बैठने का अधिकारी है। जबकि विरोचन के मत में प्रजापिता (ब्रह्मा) की संतान दैत्य श्रेष्ठ हैं, जिनके अधीन सम्पूर्ण संसार रहता है। उनके सामने देवता कौन और कौन होते हैं ब्राह्मण? -

प्राजापत्या हि वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः।।35.7।।

विरोचन से केशिनी दूसरे दिन प्रातःकाल तक उसी स्थान पर बैठ सुधन्वा के आगमन की प्रतीक्षा करने तथा दोनों को एकत्र उपस्थित देखने को कहती है-

इहैवास्व प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ।।35.8।।

सुधन्वा के आ जाने पर राक्षसपुत्र विरोचन उससे सुवर्णासन पर बैठने का निवेदन करता है। सुधन्वा अस्वीकार कर देता है, क्योंकि ऐसा करने से वह विरोचन के समान हो जाएगा। सुधन्वा को विदित था कि विरोचन के पिता प्रह्लाद सुधन्वा के पास कुश की आसन पर बैठकर उपदेश सुनने में गौरव समझते थे। प्रह्लाद ने राजा होकर भी सुधन्वा के आसन के नीचे बैठने में अपना गौरव समझा न कि विरोचन के सदृश सुधन्वा को ही अपने समकक्ष सुवर्णासन पर बैठने का अविवेकी प्रस्ताव किया। विरोचन बालक है। ऐश्वर्य में पला बढ़ा है। अतः उसको इसका ज्ञान नहीं-

पिताऽपि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे।।35.12।।

केशिनी अप्सरा को प्राप्त करने के प्रयास में विरोचन धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य की बाजी लगाता है, परन्तु सुधन्वा प्राणों की। विरोचन भी सुधन्वा के सदृश प्राणों की बाजी लगाकर देवताओं तथा मनुष्यों से अतिरिक्त किसी के पास न्याय हेतु जाने का आग्रह करता है।

सुधन्वा निर्भीक हो विरोचन के पिता दैत्यराज प्रह्लाद के पास निर्णय हेतु जाने का प्रस्ताव करता है, क्योंकि उसको विश्वास था कि वे देवता तथा मनुष्य से भिन्न होकर भी पुत्रमोह में पड़कर अन्याय नहीं करेंगे। विरोचन और सुधन्वा दोनों ही प्रह्लाद से न्याय करने को कहते हैं।

प्रह्लाद के सामने एक तरफ था पुत्र विरोचन दूसरी तरफ था उपदेशक ब्राह्मण सुधन्वा। प्रह्लाद निर्णय करने में असमर्थता व्यक्त कर ब्राह्मण सुधन्वा से राजा द्वारा अन्यायपूर्ण निर्णय किए जाने का दुष्परिणाम पूछते हैं।

सुधन्वा के अनुसार उल्टा न्याय देने वाले राजा की वही स्थिति होती है जो सौतवाली स्त्री, जुए में हारे जुआरी, भार ढोने से व्यथित शरीर वाले मनुष्य की होती है। झूठा निर्णय देने वाला राजा पराजित हो शत्रुओं द्वारा कैद कर लिया जाता है। वह भूखा प्यासा बाहरी दरवाजे पर खड़ा बहुत से शत्रुओं को देखता है-

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यो चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्तांगो दुर्विविक्ता स्म तां वसेत्।।35.24।।
नगरे प्रतिरुद्धः सद्बहिर्द्वारि बुभुक्षितः।
अमित्रान्भूयसः पश्यन्दुर्विविक्ता स्म तां वसेत्।।35.25।।

स्वार्थ के वशीभूत हो पशु के लिए झूठ बोलने वाले राजा की पाँच, गौ के लिए झूठ बोलने वाले की दस, घोड़े के लिए झूठ बोलने वाले की सौ तथा मनुष्य के लिए झूठ बोलने वाले की एक हजार पीढियां नरक में गिरती हैं। सुवर्ण के लिए झूठ बोलने पर भूत और भविष्य की सभी पीढ़ियां नरक में गिरती हैं, पृथ्वी के लिए झूठ बोलने पर सर्वनाश को ही प्राप्त करता है मनुष्य-

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते।।35.26।।
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः।।35.27।।

प्रह्लाद सुधन्वा के इन वचनों को सुन अपने पुत्र विरोचन के विपरीत सुधन्वा के पक्ष में निर्णय देता है-

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
माताऽस्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः।।35.28।।

सुधन्वा के पिता अङ्गिरा प्रह्लाद से श्रेष्ठ, सुधन्वा विरोचन से श्रेष्ठ, सुधन्वा की माता विरोचन की माता से श्रेष्ठ है अतः सुधन्वा विरोचन से श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। सुधन्वा प्रह्लाद के द्वारा किए गए इस निर्णय से विरोचन के प्राणों को जीत लेता है।

पुत्रमोह में न पड़कर न्यायसंगत निर्णय करने वाले प्रह्लाद ने धर्म का साथ नहीं छोड़ा अतः विजयी सुधन्वा प्रह्लाद के याचना करने पर उसे विरोचन के प्राण लौटा देता है, परन्तु इस शर्त पर कि विरोचन केशिनी के निकट चलकर सुधन्वा के चरण धोए-

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते तस्मात्पुत्रं प्रह्लाद दुर्लभम्।।35.30।।
एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम।।35.31।।

प्रह्लाद के इस वृत्तान्त को सुनाकर विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं कि वे भी पुत्रमोह में पड़कर भूमि के निमित्त झूठ का साथ न दें तथा बेटे के स्वार्थवश असत्यभाषण कर सम्पूर्ण कुल का विनाश न करें-

तस्माद्राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि।
मा गमः ससुतामात्योऽत्ययं पुत्राननुभ्रमन्।।35.32।।

विदुर के अनुसार देवता लोग डंडा लेकर चरवाहे के समान मनुष्य को सत्पथ पर नहीं ले जाते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसको उत्तम बुद्धि से युक्त कर देते हैं-

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्।।35.33।।

विदुर अनेक प्रकार के विशिष्ट उपदेशों को देते हुए धृतराष्ट्र को सत्पथ पर लाने का प्रयास करते हैं।

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुराषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।35.64।।

उनके अनुसार सुवर्णरूपी पुष्पों को उत्पन्न करने वाली (सर्वसमृद्धिसम्पन्न) वसुन्धरा को प्राप्त करने के तीन ही पुरुष अधिकारी होते हैं-पहला वह जो शूर (पराक्रमी) हो, दूसरा वह जो विद्वान् (कृतविद्य) हो तथा तीसरा वह जो परम सेवक हो।

विदुर के अनुसार अन्यायी दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन तथा कर्ण पर आश्रित हो धृतराष्ट्र शासन नहीं कर सकते। उन्हें धार्मिक युधिष्ठिरादि पाण्डवों को, जो उनमें पिता का भाव रखते हैं, पुत्रवत् न्याय प्रदान करना चाहिए।

विदुरनीति के चतुर्थ अध्याय में विदुर ने परमहंस के रूप में विचरण करते दत्तात्रेय महर्षि द्वारा साध्यदेवताओं को दिए गए उपदेश को उपनिबद्ध किया है, जिसमें धैर्य, मनोनिग्रह तथा सत्यधर्म के पालन का उपदेश प्रधान है। दत्तात्रेय के अनुसार कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए। असत्य बोलने से न बोलना श्रेयस्कर है, बोलना ही पड़े तो सत्य बोलें, वह भी प्रिय हो तो अच्छा है, वह भी यदि धर्मसम्मत हो तो और अच्छा है-

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेयमाहुः सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्द्वितीयम्।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम्।।36.12।।

इन वचनों के माध्यम से विदुर पुत्रमोह में विवेक खो बैठे महाराजा धृतराष्ट्र के सम्मुख प्रकाशित की गयी अपनी वाणी की सार्थकता प्रमाणित करते हैं। उनके अनुसार-

सत्यवादी मृदुर्दान्तो (जितेन्द्रियः) यः स उत्तमपूरुषः।।36.16।।

धृतराष्ट्र के पूछने पर विदुर कुलीन व्यक्ति का लक्षण बताते हैं-

तपो दमो ब्रह्मवित्वं (वेदज्ञान) वितानाः (यज्ञ)
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा भवन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि।।36.23।।

येषां न वृत्तं(सदाचार) व्यथते न योनि(माता-पिता)-
वृत्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि।।36.24।।

जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान, सदाचार ये सात गुण हों वे कुलीन होते हैं।

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषों से माता-पिता को कष्ट नहीं पहुँचाते हैं, प्रसन्नचित्त से धर्म का आचरण करते हैं, असत्य का परित्याग कर अपने कुल की विशेष कीर्ति चाहते हैं। वे ही महान् कुलीन हैं। सज्जनों के घर में- तृण निर्मित आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी इनकी कभी कमी नहीं होती-

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन।।36.32।।

रथ छोटा सा होने पर भी भार ढो सकता है परन्तु दूसरे काष्ठ बड़े होने पर भी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं दूसरे मनुष्य वैसा नहीं कर सकते-

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै शक्तो वोढुं न तथान्यं महीजाः।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः।।36.34।।

सूखे सरोवर के ऊपर हंस मंडराकर लौट जाते हैं, उसमें प्रवेश नहीं करते वैसे ही चंचल चित्त वाले अज्ञानी और इन्द्रियों के गुलाम व्यक्ति को ऐश्वर्य त्याग देते हैं-

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समतिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा।।36.38।।

विदुर अनेक दृष्टान्तों से दुष्ट तथा सज्जन व्यक्ति के स्वरूप में भेद का प्रतिपादन करते हैं तथा विदुर को सज्जन सदृश व्यवहार करने का उपदेश देते हैं।

वे धृतराष्ट्र से कष्ट पाए पाण्डवों को अपनाने तथा दुर्योधन को अनीति के मार्ग पर चलने से रोकने का आग्रह करते हैं। उनका मानना था कि पाण्डुपुत्र कौरवों की तथा कौरव पाण्डवों की रक्षा करते हुए सुखी रहें। विदुर के अनुसार जिस प्रकार जलती हुई लकड़ियाँ अलग होने पर धुआँ फेकती हैं और एक साथ होने पर प्रज्वलित हो उठती हैं उसी प्रकार जाति-बन्धु भी परस्पर फूट होने पर दुःखी तथा एकता होने पर सुखी रहते हैं-

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रो ल्युकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ।।36.58।।

क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बहायी जाए तो पुत्र-पौत्रों तक पहुँचती है-

प्रध्वंसिनि क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान्।।36.69।।

विदुरनीति के पञ्चम अध्याय में सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से विदुर धृतराष्ट्र को समझाते हैं-

सुलभाः पुरुषा राजन्सन्ततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।।37.15।।
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।37.16।।

यहां प्रारंभ में 17 प्रकार के मूर्खों का वर्णन है। मनु के अनुसार मनुष्य की आयु 100 वर्ष होने पर भी कम हो जाती है, क्योंकि वह अभिमान, कटुवचन, त्याग का अभाव, क्रोध, स्वार्थ (स्वोदरपूर्ति में संलग्न) और मित्रों से भी वैरभाव रखता है जिसके कारण उसकी आयु कट जाती है। विदुर के मत में कौरव वन के समान हैं तथा पाण्डव उसमें रहने वाले व्याघ्र। धृतराष्ट्र व्याघ्रों सहित समस्त वन को नष्ट न करे या वन से उन व्याघ्रों को नष्ट न करे। व्याघ्रों के विना वन की रक्षा नहीं हो सकती और न हि वन के विना व्याघ्रों की। मनुष्यों में बाहुबल, मन्त्री का बल, धन का बल, कुटुम्ब का बल, अभिजात का बल तथा अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ठ होता है बुद्धिबल। पुत्रों सहित धृतराष्ट्र लता के समान हैं तथा पाण्डव महान् शालवृक्ष सदृश। महान् वृक्ष का आश्रय न लेकर लता कभी नहीं बढ़ सकती।

विदुर पुनः धृतराष्ट्र को उत्तम तथा अधम शासक के स्वरूप का उपदेश देते हैं। उनके अनुसार ईर्ष्यारहित, स्त्रियों का रक्षक, सम्पत्ति का न्यायपूर्वक विभाग करने वाला, प्रियवादी, स्वच्छ तथा स्त्रियों से मीठेवचन बोलने वाला, परन्तु उनके वश में रहने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ होता है।

स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी होती हैं। वे सौभाग्यशालिनी, पूजनीय, आदर के योग्य, पवित्र तथा घर की शोभा होती हैं अतः उनकी विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए-

पूजनीया भहाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः।।38.11।।

कर्म की शुद्धि सर्वोपरि है। शास्त्रानुकूल उत्तम कर्म करने चाहिए। राजा की मन्त्रणा गुप्त होनी चाहिए। राजा को सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय इन छः गुणों की जानकारी होनी चाहिए। स्थिति, वृद्धि तथा ह्रास को जानना चाहिए। एकान्त में मन्त्रणा करनी चाहिए। राजा का हर्ष व क्रोध व्यर्थ नहीं होना चाहिए।

न वृद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः।।38.30।।
धृतिः शमो दमः शौचे कारुण्यं वागनिष्ठुराः
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः।।38.35।
असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।
तादृङ्नराधमो लोके वर्जनीयो नराधिपः।।38.36।।

स्वयं दोषी होकर निर्दोष आत्मीयों पर कोप करने वाला राजा, सर्पयुक्त घर में रहनेवाले मनुष्य की भांति सुख से नहीं सो सकता। धृतराष्ट्र इसी प्रकार का व्यवहार कर रहे थे अतः उनका दुर्योधन के साथ विनाश निश्चित था। धृतराष्ट्र मनुष्य को प्रारब्ध के अधीन मानकर अस्वतन्त्र मानते हैं, परन्तु विदुर के मत में धृतराष्ट्र सदृश समय के विपरीत चलने वाला व्यक्ति चाहे बृहस्पति ही क्यों न हो नष्ट हो जाता है। विदुर के अनुसार जो क्षय वृद्धि का कारण होता है वह क्षय नहीं है, इसके विपरीत उस लाभ को भी क्षय ही मानना चाहिए जिसके मिलते ही अनेक लाभों का स्वतः नाश हो जाता है-

न स ज्ञेयो महाराज यः क्षयो वृद्धिभावहेतू।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत्।।39.5।।
समृद्धा गुणतः केचित् भवन्ति धनतोऽपरे।
धनवृद्धान्गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जयेत्।।39.6।।

धृतराष्ट्र महात्मा विदुर के सम्मुख पुत्रमोह का परित्याग करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं, यद्यपि वे जानते थे कि धर्म जिस पक्ष में है उसकी विजय होती है। धृतराष्ट्र के अनुसार विदुर के द्वारा कहे गये वचन परिणाम में हितकर हैं। बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन भी करते हैं। यह भी सत्य है कि जिस ओर धर्म होता है उसी पक्ष की जीत होती है, परन्तु ऐसा होते हुए भी वे अपने बेटे का त्याग नहीं कर सकते-

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः।।39.7।।

विदुर के अनुसार सामाजिक व्यक्ति को अपने कुटुम्बियों की रक्षा करनी चाहिए, उनका सत्कार करना चाहिए भले ही वे गुणहीन ही क्यों न हो। ऐश्वर्य को चाहने वालों को अपने जातिभाइयों से झगड़ा नहीं करना चाहिए बल्कि उनके साथ मिलकर सुखोपभोग करना चाहिए। इस जगत् में सदाचारी जाति भाई तारते हैं, जबकि अनाचारी डुबा देते हैं। महात्मा विदुर चिन्तित थे कि कहीं कुटुम्बियों के वध के अनन्तर धृतराष्ट्र को पश्चात्ताप न करना पड़े। पाण्डवों को राजपद पर प्रतिष्ठित करने से धृतराष्ट्र निष्पाप हो सम्मान का पात्र बन सकते हैं-

तां तुत्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः।
भविष्यसि कुरुश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम्।।39.30।।

जिन दो मनुष्यों के चित्त से चित्त, गुप्त रहस्य से गुप्त रहस्य तथा बुद्धि से बुद्धि मिलती है उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती-

ययोश्चित्तेन वा चित्तं नैभृतं नैभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यते।।39.34।।

श्रेष्ठ मित्र कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, मर्यादा में रहने वाला, जितेन्द्रिय, अनुरागी होता है।

आयत्तां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते।।39.41।।

जो आगामी दुःख को रोकने के उपाय जानता है, वर्तमानकालिक कर्तव्य के पालन में दृढ़निश्चयी होता है, अतीतकाल के शेष कर्तव्यों को जानता है वह मनुष्य अर्थहीन नहीं होता-

दुःखार्त्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः।।39.48।।
अग्निहोत्रफलाः वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम्।।39.51।।

जो धन अत्यन्त क्लेश से, धर्म का उल्लंघन करने से तथा शत्रु के सामने सिर झुकाने से मिलता है उसमें आप मन न लगाएँ-

अतिक्लेशेन योऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण च।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः।।39.61।।

महात्मा विदुर धृतराष्ट्र से पाण्डवों को अपनाने का आग्रह करते हैं, अपने पुत्रों के समान। विदुर अनेक प्रकार की लौकिक नीतियों को प्रस्तुत कर धृतराष्ट्र को सत्पथ पर लाने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार अनीति से, अधर्म से अर्जित धन-सम्पत्ति को जो व्यक्ति, सांप द्वारा केंचुली के समान, आकृष्ट हुए बिना छोड़ देता है वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। गुणों में दोष देखना मृत्यु के समान है, निन्दा करना लक्ष्मी का वध है, सेवा का अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा विद्या के शत्रु हैं-

असूयैकपदं मृत्युरविवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः।।40.4।।

सुख की कामना करने वाले को विद्या नहीं प्राप्त हो सकती। विद्या की कामना करने वाले को सुख नहीं मिल सकता। सुखार्थी को विद्या छोड़ देनी चाहिए तथा विद्यार्थी को सुख।

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा सुखं त्यजेत्।।40.5।।

आशा धैर्य को, यमराज समृद्धि को, क्रोध लक्ष्मी को, कृपणता यश को, असेवा पशुओं को नष्ट कर देती है, परन्तु ब्राह्मण अकेला कुपित हो जाय तो राष्ट्र को नष्ट कर देता है-

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राजन् एकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम्।।40.7।।
न जातु कामान्न भयान्न लोभात् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।।40.11।।

विदुर के अनुसार जिस पुत्र के मोह में पड़कर धृतराष्ट्र अनीति के मार्ग पर चल रहे हैं उसके मरने पर उसे स्वयं ही घर से निकाल जलती चिता में झोंक देंगे। परिजनों के लौट जाने पर मरे व्यक्ति के साथ उसके कर्म ही बच जाते हैं-

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन्स्वगृहान्निर्हरन्ति।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्तश्चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति।।40.14।।

जीवात्मा नदी है, उसके पुण्य ही तीर्थ हैं, सत्य स्वरूप परमात्मा इसका उद्गम है, अथवा सत्य ही इस नदी का जल है, धैर्य इसके किनारे हैं, दया इसकी लहरें हैं, पुण्यकर्म करने वाला इसमें स्नान कर पवित्र होता है-

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दमोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमम्भोऽम्भ एव।।40.19।।

क्रोधादिरूपी ग्राह से भरी पांच इन्द्रियों के जल से परिपूर्ण इस संसाररूपी नदी के जन्म-मरणरूपी प्रवाह को धैर्य की नौका बनाकर पार कीजिए-

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
कृत्वा धृतिमयीं नावं जन्मदुर्गाणि संतर।।40.20।।

विदुर ने अन्त में धृतराष्ट्र को चातुर्वर्ण्य का उपदेश दिया। इससे प्रत्येक सामाजिक प्राणी के कर्तव्यों का समुचित ज्ञान होता है। विदुर के सम्पूर्ण उपदेश की प्रशंसा करते हैं महाराजा धृतराष्ट्र और अन्त में, अपने पुत्रमोह को कारण बताते हैं, उसको न अपना पाने में। उनकी बुद्धि दुर्योधन से मिलकर पलट जाती है-

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान्प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते।।40.29।।

धृतराष्ट्र यह मानते हैं कि प्रारब्ध के कारण ही वे चाहकर भी सत्पथ पर नहीं चल पा रहे-

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं मर्त्येन केनचित्।
दिष्टमेव कृतं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्।।40.30।।

इन्हीं उपदेशों के साथ समाप्त होती है विदुरनीति। महाराज धृतराष्ट्र अविवेक का परित्याग नहीं कर पाते। महात्मा विदुर से धृतराष्ट्र और अधिक उपदेश का आग्रह करते हैं। विदुर ने सम्पूर्ण लौकिक उपदेश दे डाले थे, बची थी ब्रह्मविद्या, जिसका उपदेश देने के वे अधिकारी नहीं थे। वे महर्षि सनत्सुजात का स्मरण करते हैं, जिन्होंने मृत्यु को नकारा था, धृतराष्ट्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिए। सनत्सुजात उपस्थित हो धृतराष्ट्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण विदुरनीति सामाजिक उपदेशों का भण्डार है तथा लोकव्यवहार की सूक्ष्मता का प्रतिपादक ग्रन्थ। प्रत्येक सामाजिक प्राणी को जीवन के आदर्श स्वरूप से परिचित कराती है विदुरनीति।

●

स्त्री विमर्श का पाश्चात्य चिंतन

प्रो. रंगनाथ पाठक एवं सुनील कुमार मानस***

पाश्चात्य में जब पुनर्जागरण नवीन मानवीय मूल्यों के साथ वैचारिक चिंतन का केन्द्र बना, तब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्त्री स्वातंत्र्य की भी पहल हुई। लिखा भी गया है कि- ''पुनर्जागरण के महान सूत्रधारों द्वारा प्रवर्तित मानववाद ने प्रकारान्तर से सामाजिक व्यवस्था की दैवी स्वीकृतियों पर प्रश्नचिन्ह उठाकर और लौकिकता के मूल्यों की वकालत करके स्त्रियों की स्वतंत्रता की एक वैचारिक पूर्वपीठिका निर्मित करने का काम किया।'' (स्त्री अधिकार का औचित्य साधन, पृ0 15) क्योंकि ''स्त्रियों के उत्पीड़न और दासता का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना असमानता और उत्पीड़न पर आधारित सामाजिक संरचनाओं के उद्भव और विकास का इतिहास।'' (स्त्री अधिकार का औचित्य साधन, पृ0 5) इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक विश्व इतिहास के शुरूआती दौर में पुनर्जागरण काल के महामानवों के मानवतावाद व धर्म सुधार आन्दोलनों ने पितृसत्तात्मकता की दारूण दासता के विरूद्ध स्त्री-समुदाय में भी नई चेतना के बीज बोये, जिसका अंकुरण प्रबोधन काल में साफ-साफ दिखने लगा। अतः यह सही लिखा गया है कि- ''स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर चिंतन और वैचारिक संघर्षों की शुरूआत : दो शताब्दियों से भी कुछ अधिक समय पहले, अमेरिकी और यूरोपीय बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों की पूर्व बेला में हुई थी, जब प्रबोधन कालीन आदर्शों से प्रभावित और जनान्दोलनों में सक्रिय जागरूक स्त्रियों ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार और स्वतंत्रता, समानता-भ्रातृत्व की घोषणाओं को स्त्रियों के लिए भी लागू करने की माँग उठाई।'' (स्त्री अधिकार का औचित्य साधन, पृ0 06) तभी से विश्व के प्रायः सभी देशों में स्त्री आन्दोलन, स्त्री-पुरुष समानता एवं स्त्री अधिकार के विविध पक्षों को लेकर चली बहसों का और स्त्री प्रश्न पर चिंतन का सुदीर्घ इतिहास हमारे सामने मौजूद है। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि जनवादी क्रान्तियों, सर्वहारा क्रान्तियों एवं राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में स्त्रियों की भागीदारी और विभिन्न सामाजिक क्रान्तियों के बाद स्त्रियों की स्थिति में आए परिवर्तन तथा उसके संघर्ष के नये-नये आयामों का उद्घाटन भी इतिहास में दर्ज है।

स्त्री आन्दोलन की शुरूआत यूरोप से मानी जाती है। कात्यायनी ने लिखा है कि- ''यूरोप में संगठित नारी आन्दोलन की शुरूआत फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान हुई, स्त्रियाँ उस समय जन-प्रदर्शनों सहित सभी राजनीतिक कार्रवाईयों में हिस्सा ले रही थी। उस दौरान स्त्रियों के क्रान्तिकारी क्लबों के रूप में स्त्रियों के पहले संगठन अस्तित्व में आए, जिन्होंने सामंतवादी-विरोधी संघर्षों में खुलकर भागीदारी करते हुए यह माँग की कि आजादी, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को बिना किसी लिंगभेद के सार्विक रूप से लागू किया जाना चाहिए।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 15) यूरोप के स्त्री आन्दोलन के बाद अमेरिकी क्रान्ति (1776-83) के दौरान मर्सी वारेन और एबिगेल एडम्स के नेतृत्व में स्त्रियों ने पहली बार, मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की माँग करते हुए जार्ज वाशिंगटन और टामस जैफर्सन पर दबाव डाला कि- ''इन मुद्दों को संविधान में शामिल किया जाय; लेकिन बुर्जुआ वर्ग के एक बड़े हिस्से के विरोध के कारण यह संभव नहीं हो सका।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 15) लगभग इसी दौर में ''मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा तैयार की गयी और उसे 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत किया। इस ऐतिहासिक दस्तावेज में स्त्रियों पर पुरुषों के शासन का विरोध करते हुए सार्विक मताधिकार को अमल में लाने के लिए स्त्री-पुरुष के बीच पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक समानता की माँग की गई थी।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 15-16) प्रबोधन काल के अधिकांश विचारकों का मानना था कि स्त्रियों की पराधीनता मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का हनन है। जाँ आँतुओं कोन्दोर्से ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए लिखा है कि- ''स्त्रियों के बारे में समाज में मौजूद गहरे पूर्वग्रह उसकी असमानतापूर्ण सामाजिक स्थिति का बुनियादी कारण है। वह कानूनी समानता और शिक्षा के जरिए ही दूर हो सकती है।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य, पृ0 15)

1772 ई0 में स्त्री विमर्श से सम्बन्धित पहली पुस्तक मेरी वोल्सटनक्राफ्ट की 'Vindication of the Right of Woman' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन से मेरी वोल्सटन क्राफ्ट की ख्याति इंग्लैण्ड में ही नहीं, बल्कि पूरे यूरोप और अमेरिका के देशों में फैल गयी। मेरी का मानना था कि जिस तरह समाज में स्त्री की स्थिति है, उसको देखकर यही कहा जा सकता है कि- ''स्त्री के अस्तित्व का उद्देश्य सिर्फ पुरुष को सन्तुष्ट करना है।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 21) मेरी वोल्सटन क्राफ्ट प्रबोधनकालीन दार्शनिकों के विचारों और महान फ्रांसीसी जनवादी क्रान्ति के आदर्शों से अत्यन्त गहराई से प्रभावित हुई। उनका मूल आग्रह स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे को सार्विक रूप से लागू करके स्त्री की

*प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**शोधार्थी, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दोयम दर्जे की, जो सामाजिक स्थिति है, को समाप्त करना था। इसीलिए उन्होंने माँग की थी कि- ''शिक्षा, काम और राजनीति में स्त्रियों को पूर्णतः समान अवसर दिए जाने चाहिए।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 21) कात्यायनी इस बात का विश्लेषण करते हुए लिखती है कि- ''बुर्जुआ नारीवाद ने स्त्री मुक्ति और पुरुष वर्चस्व के प्रश्न को सामाजिक राजनीतिक ढाँचे और सामाजिक क्रान्ति से विच्छिन्न करके एक स्वतन्त्र स्वायत्त प्रश्न के रूप में देखा, जबकि मेरी ने इन्हें परस्पर सम्बद्ध रूप में देखा और स्त्री-पराधीनता की जड़ों की शिनाख्त सामाजिक ढाँचे में चर्च के प्रभुत्व में और राजनीतिक शासन व्यवस्था के स्वरूप में की।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 24)

मेरी वोल्सटनक्राफ्ट जिस पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों, संस्कारों, नैतिक मान्यताओं और संस्थाओं को वैज्ञानिक तर्क के आधार पर चुनौती देती है, ठीक आधी सदी के बाद उसी को वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तक मार्क्स और एगेल्स ने निजी स्वामित्व की पूँजीवाद व्यवस्था की समस्त नैतिक मान्यताओं का निषेध करते हुए स्त्री की स्थिति पर सुधार करने का प्रयास किया, क्योंकि ''पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने पहली बार ऐसी स्थिति पैदा की, जिसके अन्तर्गत सामाजिक उत्पादन में स्त्री मजदूरों और अन्य नौकरी-पेशा स्त्रियों की भागीदारी बढ़ती चली गयी।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 14) जिससे स्त्री को पुरुषों के समान बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए, की आन्दोलनात्मक पहल बड़े स्तर पर स्त्री संगठनों द्वारा हुई।

1791 से 1794 के बीच स्त्री शिक्षा की व्यवस्था के साथ स्त्रियों को पुरुषों के समान कुछ नागरिक अधिकार मिले, वे भी थर्मिडोरियक प्रतिक्रिया के दौरान समाप्त कर दिये गये। 1804 के नेपोलियानिक कोड और अन्य यूरोपीय देशों की बुर्जुआ नागरिक संहिताओं ने स्त्रियों के नागरिक अधिकारों को अति सीमित कर दिया। लेकिन 1840 के दशक में यूरोप और अमेरिका में क्रान्तिकारी जन-उभारों के साथ-साथ स्त्री आन्दोलनों की एक नयी लहर सुसंगठित रूप में आयी, जिसकी प्रेरणा-स्रोत निश्चित रूप से मेरी वोल्सटनक्राफ्ट ही थी। कात्यायनी बिल्कुल ठीक लिखती है कि- ''अमेरिकी स्त्री आन्दोलन की ऐलिजाबेथ, कैडी स्टैण्टन और मार्गरेट फुलर जैसी नेत्रियाँ मेरी वोल्सटनक्राफ्ट से विशेष तौर पर प्रभावित थी। 1848-49 की यूरोपीय क्रान्तियों के बाद इंग्लैण्ड सहित पूरे यूरोप में स्त्री अधिकार आन्दोलन जब नये संवेग के साथ आगे बढ़ा तो मेरी वोल्सटनक्राफ्ट को निर्विवाद रूप से स्त्री मुक्ति के आदि सिद्धान्तकार का दर्जा दिया गया।'' (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, पृ0 24)

निश्चित रूप से 19वीं शताब्दी के पहले तक का पाश्चात्य दौर स्त्री विमर्श की पूर्वपीठिका के रूप में देखा जाता है और स्त्री आन्दोलन की शुरूआत 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही मताधिकार माँग के रूप में होती है, जिसे पाश्चात्य महिला आन्दोलन की प्रथम लहर की शुरूआत के रूप में भी देखा जाता है। यह दौर मोटे रूप से 19वीं शताब्दी के मध्य तक जारी रहता है। इसके विषय में मेरी जॉन लिखतीं है कि- ''पहली लहर उन्नीसवीं सदी से गुजरती हुई बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों तक पहुँचती है।'' (नारीवादी राजनीति : संघर्ष और मुद्दे, पृ0 105) 19वीं सदी के आरम्भिक तीन दशकों के दौरान यूरोप में स्त्री स्वच्छन्दतावादी लेखिकाओं के लेखन को यदि देखा जाये तो उनमें उस समय के नारी आन्दोलन का प्रगतिशील पहलू और उसकी सीमाएँ- दोनों ही स्पष्ट नजर आती है। ''अन्ना सीवार्ड, हेलेन मारिया विलियम्स, मेरी हेज, अन्ना बार्बोल्ड, जो आन्ना बेली, हन्नामोर, मेरी रॉबिन्सन, फेनी बर्नी, जेन टेलर, डोरोधी वर्ड्सवर्थ, मेरी लैम्ब, मेरी रसेल, मिट फोर्ड, मेरी शेली, क्लेयर मॉण्ट और फ्रान्सिस ट्रोलोपी आदि चर्चित-अचर्चित स्त्री स्वच्छन्दतावादी लेखिकाएँ स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों की पारिवारिक सामाजिक स्थिति आदि प्रश्नों को उठाती हुई एक ओर जहाँ मेरी वोल्सटनक्राफ्ट की परम्परा को विस्तार दे रही थी, वहीं दूसरी ओर उनके लेखन में स्त्री समुदाय की मुक्ति-आकांक्षाओं को विश्वासघाती ढंग से कुचल देने वाले बुर्जुआ वर्ग के सामाजिक राजनीतिक वर्चस्व के प्रति रूढ़िवादी और प्रगतिशील- दोनों ही प्रतिक्रियाएँ नजर आ रही थी।'' (स्त्रियों की पराधीनता, पृ0 15)

1838 ई0 में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में (जहाँ दास-प्रथा प्रचलित थी) दास-प्रथा विरोधी अभियान में सक्रिय एक श्वेत महिला एन्जेलीना ग्रिमके ने सार्वजनिक घोषणा की कि- ''जब तक उसे स्वयं मुक्ति नहीं मिलती वह नीग्रो इन्सानों को गुलामी से मुक्त नहीं कर सकती।'' (नारीवादी राजनीति : संघर्ष और मुद्दे, पृ0 107) इस घोषणा से ठीक दस वर्ष बाद 200 अमरीकी महिलाओं ने 40 पुरुषों के साथ मिलकर एक आम सभा आयोजित की जिसमें महिलाओं की समानता और नागरिक अधिकार समान रूप से लागू हो- की सार्वजनिक घोषणा की गयी। जिसके विषय में कात्यायनी ने लिखा है कि- ''1830 के दशक में अमेरिका में अश्वेत दासों की मुक्ति के संघर्ष में स्त्रियों की सौ से अधिक दासता विरोधी सोसाइटियों ने हिस्सा लिया था और ब्रिटेन में मजदूरों के ऐतिहासिक चार्टिस्ट आन्दोलन में अनाज कानूनों के उन्मूलन के संघर्ष में स्त्रियों की भागेदारी बहुत अधिक थी।'' (स्त्रियों की पराधीनता, पृ0 16) वह यह भी बतलाती है कि- ''1840 के दशक का अन्त आते-आते पूरे यूरोप के राजनीतिक सामाजिक परिदृश्य पर उठ खड़े हुए झंझावतों का प्रभाव नारी आन्दोलन पर भी पड़ा और 1848-49 की क्रान्तियों तथा 1848 के पेरिस-मजदूरों के बाद महाद्वीप व्यापी मजदूर उभार ने स्त्रियों के राजनीतिक एवं नागरिक अधिकारों के संघर्ष को नया संवेग प्रदान किया। 1848 में ही फ्रान्स में फिर से नारी क्लबों का गठन हुआ जिससे स्त्रियों के समान राजनीतिक अधिकारों का संघर्ष नये सिरे से शुरू हुआ। इसी वर्ष फ्रान्स में स्त्री मजदूरों के पहले स्वतन्त्र संगठन की स्थापना हुई। स्त्रियों के राजनीतिक अधिकारों की

प्राप्ति के लिए संघर्ष के उद्देश्य से जर्मनी और आस्ट्रिया में भी तमाम स्त्री यूनियन गठित किये गए। जुलाई 1848 में एक सुनिश्चित कार्यक्रम के आधार पर नारीवादी आन्दोलन एक नया प्रस्थान-बिन्दु तब बना, जब सेनेका फॉल्स, न्यूयार्क में ऐलिजाबेथ कैण्डी स्टैण्टन और लुकेसिया कफिन मोट आदि की पहल पर प्रथम नारी अधिकार कांग्रेस का आयोजन हुआ और नारी स्वतन्त्रता का घोषणापत्र जारी किया गया, जिसमें पूर्ण कानूनी समानता, पूर्णतः समान शैक्षिक एवं व्यावसायिक अवसर, समान वेतन,मजदूरी कमाने के अधिकार तथा वोट देने के अधिकार की माँग की गयी थी।'' (स्त्रियों की पराधीनता, पृ0 16-17) 8 मार्च 1857 को न्यूयार्क शहर में परिधान और टेक्सटाइल कामगार महिलाओं ने विशाल जन प्रतिरोध संगठन तैयार किया और दो साल बाद मार्च में इन्हीं महिलाओं ने संगठित होने और यूनियन बनाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। उनका संघर्ष काम की अमानवीय परिस्थितियों, कम वेतन और 12 घंटे कार्य दिवस के खिलाफ था।

1850 ई0 के आस-पास मार्क्स-एंगेल्स के विचार पूरी दुनिया को प्रभावित करते हैं, जिन्होंने स्त्रियों व बच्चों की श्रम शक्ति के सामाजिक-आर्थिक संरचना की व्याख्या करते हुए बताया- ''बेबस स्त्रियों और बच्चों की सस्ती श्रम शक्ति की लूट पूँजीवादी समृद्धि की अट्टालिका की महत्वपूर्ण आधारशिला है।'' (स्त्रियों की पराधीनता, पृ0 17) इस बात से स्पष्ट है कि सच्ची मुक्ति की दिशा का पहला कदम पूँजीवाद व्यवस्था का खात्मा है और इसके लिए स्त्री-मजदूरों की वर्ग चेतना को उन्नत करने की पहल - की माँग करते हैं। सामाजिक-राजनीतिक जीवन में उनकी भागेदारी लगातार बढ़ाने के साथ उन्हें मजदूरों के संघर्षों, आन्दोलनों में शामिल होने की भी वकालत करते हैं। 1860 ई0 तक आते-आते सिर्फ ब्रिटेन में ही नहीं बल्कि कमोवेश पूरे यूरोप और अमेरिका में स्त्री-आन्दोलन का मुख्य आधार मताधिकार के प्रश्न पर केन्द्रित हो चुका था। 1873 ई0 में जॉन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक 'सब्जेक्शन ऑफ विमेन' प्रकाशित होती है, जो मार्क्सवादी दृष्टि से स्त्री-प्रश्न पर आधारित थी। 1884 में फ्रेडरिक एगेल्स व मार्क्स द्वारा तैयार किए गये नोट्स के आधार पर फ्रेडरिक एगेल्स की एक अत्यन्त मौलिक पुस्तक- ''दि ऑरिजिन ऑफ दि फैमिली : प्राइवेट प्रॉपर्टी एण्ड स्टेट'' (परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति) प्रकाशित हुई।

इन पुस्तकों के परिणामस्वरूप दो बातें विशेष रूप से स्त्री विमर्श के लिए उल्लेखनीय हुई। पहली, इस विमर्श को एक विषयगत आधार मिला, जिससे उसके इतिहास व संघर्ष का दस्तावेज सामने आया। दूसरी, जो स्त्री के मताधिकार का संघर्ष पहले से ही धीरे-धीरे चला आ रहा था, उसको उग्रगति मिली। 8 मार्च 1908 में न्यूयार्क में 15000 कामगार महिलाओं ने सोशलिस्टों के नेतृत्व में, वेतनवृद्धि, काम के घण्टे कम करने, महिलाओं को मताधिकार और बाल मजदूरी के खात्मे के लिए जुझारू प्रदर्शन हुआ। 28 फरवरी 1909 को समूचे अमेरिका में पहला राष्ट्रीय महिला दिवस मनाया गया, जिसमें काम के 8 घण्टे निर्धारित करने व महिलाओं को मताधिकार प्रदान किए जाने के संदर्भ में देशभर में विशाल प्रदर्शन आयोजित किये गये। इसी के तर्ज पर 19 मार्च 1911 ई0 में आस्ट्रिया, डेनमार्क, जर्मनी और स्विटजरलैण्ड ने मिलकर महिला दिवस मनाया, जिसमें दस लाख से भी अधिक महिला व पुरुष शामिल हुए। इसमें महिलाओं के काम के अधिकार, मताधिकार, सार्वजनिक पदों पर आसीन होने का अधिकार और गैर-बराबरी के अंत के अभियान को आवेग प्रदान किया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या पर, शान्ति का अभियान चलाते हुए रूसी महिलाओं ने अपना पहला अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस मनाया। 1913 में तमाम वैचारिक विमर्श के बाद अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस की तिथि बदलकर 8 मार्च कर दी गयी- जो आज भी पूरी दुनिया में अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनायी जाती है। 8 मार्च 1914 को समूचे यूरोप में महिलाओं ने प्रथम विश्वयुद्ध के विरूद्ध अभियान चलाते हुए रैलियाँ निकाली। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 1919 में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा महिलाओं के मताधिकार को संवैधानिक मान्यता मिला, इसके बाद ब्रिटेन में महिलाओं को 1927 में, फ्रान्स में 1944 में और स्विट्जरलैण्ड में 1959 में महिला मताधिकार का प्रस्ताव पारित हुआ।

पश्चिम में 1920 से 1960 तक का समय स्त्री चेतना की दृष्टि से निष्क्रियता का दौर रहा है। इसमें ऐसा कोई स्त्री-सापेक्ष आन्दोलन नहीं दिखाई पड़ता, जो स्त्री-विमर्श को गति प्रदान करता, बल्कि पिछले ही मुद्दों को लेकर कुछ स्त्री संगठन सक्रिय रहे। ऐसे में यह कहना ठीक ही है कि स्त्री-विमर्श व संगठनों के वे आन्दोलन इस दौर में नहीं हुए, जो होने चाहिए थे। इस स्त्री विमर्श की निष्क्रियता के कारण के विषय में जहाँ मेरी जॉन लिखती है कि- ''दो महायुद्धों और दक्षिणपंथी विचारधाराओं के उद्भव ने बीसवीं सदी की शुरूआत के आमूल-परिवर्तनवादी और सुधारवादी आन्दोलन जिसमें यूरोप के अधिकांश देशों के महिला आन्दोलन शामिल थे- तोड़ने की भूमिका निभाई।'' (नारीवादी राजनीति : संघर्ष और मुद्दे, पृ0 107-08) वहीं डॉ0 गोपा जोशी इसके तीन कारण बतलाती हैं- पहला 1920 में मताधिकार मिल जाने के बाद उग्र और नरम नारीवादियों को जोड़ने वाली कड़ी (मताधिकार की माँग के लिए संघर्ष) का समाप्त होना। दूसरा, 1920-30 के दशक में अमेरिकी नारीवादी आन्दोलनों में दरारों का पड़ना और तीसरा व अंतिम 1945 के बाद महिला आन्दोलन का तीन भागों में (सरकारी श्रम विभाग से जुड़ी महिलाओं का समूह, राजनीतिक दलों से जुड़ी महिलाओं का समूह एवं राष्ट्रीय महिला दल समान अधिकार संशोधन के अभियान से जुड़ी महिलाओं का समूह) में बँटना था। इसके अतिरिक्त वह एक और महत्वपूर्ण कारण मानती है- ''1940 के दशक में भी मीडिया महिला अधिकारवादियों का नकारात्मक प्रचार

कर रहा था। मसलन फर्डिनांड लुंटबर्ग व मार्यन्या फहार्म (Ferdinand Lundberg & Marynia Farnham) की पुस्तक 'Modern Woman : The Lost Sex (1947) उस समय के अमेरिकी समाज में बहुत लोकप्रिय हुई। इस पुस्तक में नारीवादियों को पागल तथा अमेरिकी समाज की सारी समस्याओं के लिए जिम्मेदार बताया। इस प्रकार के प्रकाशनों का इतना गहरा असर हुआ कि अधिकतर महिलाएँ खुद को नारीवादी कहलाने में संकोच करती थी।'' (भारत में स्त्री असमानता, पृ0 319) लेकिन स्त्रीवादी आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ था, Semone de Beauvair (सीमोन द बुआ) की पुस्तक The Second Sex (1949) में प्रकाशित हुई, जिसकी मुख्यधारा के बुद्धिजीवियों एवं प्रचारकों ने खूब मजाक उड़ाया, कुछ ही समय बाद यह पुस्तक पाश्चात्य महिला आन्दोलन की दूसरी लहर का प्रस्थान बिन्दु साबित हुई। इस पुस्तक के विषय में मेरी जॉन विचार व्यक्त करती है कि- ''द सेकेण्ड सेक्स ने दर्शनशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र का सहारा लेते हुए यह स्थापित किया है कि स्त्रियों का दमन इतिहास और संस्कृति की उपज है, और इसे एक प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं समझा जा सकता।'' (नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, पृ0 110) आज भी इस पुस्तक का वाक्य Ane is not born, but became a woman बहुप्रसिद्ध है।

1961 में राष्ट्रपति जॉन एफ0 कैनेडी ने 'कमीशन आफ द स्टेट्स आफ विमेन' गठित किया और 1963 में बैट्टी फ्रीडन (Betty Friedan) की पुस्तक The Feminine Mystique प्रकाशित हुई, जिसमें स्त्री को केवल गृहणी की भूमिका में दर्शाए जाने पर एतराज किया गया था। बेट्टी फ्रीडन की इस पुस्तक और राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा पारित किये गये महिला आयोग से महिला आन्दोलन की दूसरी लहर की शुरूआत होती है।

जहाँ दूसरी लहर की पहली धारा का आधार ग्रन्थ फ्रीडन की पुस्तक The Feminine Mystique को माना जाता है, वहीं दूसरी धारा का आधार ग्रन्थ 1970 में प्रकाशित Kate Millett (केट मिलट) की पुस्तक Sexual Politics (सैक्सुअल पोलिटिक्स) को। गोपा जोशी इस पुस्तक के विषय में लिखती है कि- ''यह एक क्लासिकल नारीवादी पुस्तक है। इसमें केट ने नारीवादी दृष्टिकोण से साहित्य की विवेचना की है।'' (भारत में स्त्री असमानता, पृ0 321) 1970 में ही स्त्री विमर्श की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण पुस्तक Toni Cade (टोली केड) की The Black Woman प्रकाशित हुई, जो उग्र नारीवादी विचारधारा की समर्थक थी। प्राख्यात महिलावादी चिन्तक अनामिका का मानना है कि- ''1968 के पहले के स्त्री-आन्दोलन की माँगे- समान पगार और समान राजनैतिक-सामाजिक अधिकारों (वोट आदि) की इगेलिटेरियन माँगे : विकास के इसी चरण का प्रतिफल थी। स्त्रियों को इस याचनापरक स्थिति से निकालकर जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय खुद लेने की स्थिति में लाना, उनमें आलोचनात्मक विवेक जगाना महत्त्वपूर्ण था।'' (स्त्री विमर्श की उत्तरगाथा, पृ0 87) निश्चित रूप से उग्रवादी नारीवाद ने याचनापरक स्थिति से महिला आन्दोलन को निकालकर स्वत्व की चेतना की ओर मुखर किया।

पश्चिम में महिलावाद की दूसरी धारा के विषय में जहाँ डॉ0 गोपा जोशी लिखती हैं कि- ''दूसरे चरण के महिला आन्दोलन में तीन प्रमुख धाराएँ थी। एक धारा लिंग आधारित समान अधिकारों पर अपना ध्यान केन्द्रित किए थी तो दूसरी धारा पूँजीवादी व्यवस्था के शोषक चरित्र के साथ महिला शोषण को जोड़ रही थी। इसे समाजवादी नारीवाद कहा गया। तीसरी विचारधारा पुरुष के वर्चस्व को सारी समस्याओं की जड़ मानती है। इसको उग्रवादी नारीवाद कहते हैं।'' (भारत में स्त्री असमानता, पृ0 322) वहीं उग्रवादी नारीवाद के विषय में मेरी जॉन लिखती हैं कि 1960 के दशक में, रेडिकल नारीवाद अपनी चरम सीमा पर था और उसने उदारवादी और समाजवादी दोनों ही धाराओं के कार्यक्रम के विस्तारण में अहम् भूमिक निभाई। रेडिकल नारीवादियों ने हिंसा, गर्भ-नियंत्रण और यौनिकता जैसे मुद्दों पर विचारोत्तेजक समीक्षाएँ प्रस्तुत की, और दूसरे घटकों के साथ साझा कार्यक्रमों और मंचों में काम किया।'' (नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, पृ0 118) उग्रवादी नारीवाद ने 1968 में शिकागो में पहला राष्ट्रीय महिला मुक्ति सम्मेलन करवाया था और Sisterhood is powerful, the personal is political (बहनापा ही शक्ति है, निजता ही राजनीतिक) जैसे नारे गढ़े, जो महिलाओ में बहुत लोकप्रिय हुए। डॉ0 गोपा जोशी उग्रवादी नारीवादियों के योगदान पर लिखती हैं कि- ''1972 में न्यूयार्क के उग्रवादी नारीवादियों ने Speak Out यानि 'कह डालो' क एक श्रृंखला आयोजित की, जिसमें महिलाओं ने शोषण व दमन के अपने निजी अनुभव सुनाए। 1973 में कैलिफोर्निया में मार्गो सैट जेम्स ने Call Off Your Old Tired Ethics सम्मेलन आयोजित किया। इसका उद्देश्य यौनकर्मियों की स्थिति सुधारना था।'' (भारत में स्त्री असमानता, पृ0 325)

1971 में अमेरिकी संसद द्वारा 26 अगस्त को महिला समानता घोषित किया जाना, 1972 में अमेरिकी उपराष्ट्रपति Hubert Homphrey द्वारा ऐसा विधेयक पास करना, जिसमें महिलाओं, शिशुओं और बच्चों के लिए विशेष पूरक पोषाहार कार्यक्रम का प्रावधान था (1975 में इस कार्यक्रम को स्थायी किया गया), 1972 में सुप्रीम कोर्ट द्वारा अविवाहित लड़कियों को गर्भ-निरोधक के इस्तेमाल को वैध ठहराना, 1972 के Title IX of the Education Amendment का पास होना, और कॉलेजों व स्कूलों से लिंग के आधार पर शिक्षा का भेदभाव मिटना, 1970 में समान वेतन और समान कानून के तहत महिलाओं के कम वेतन पर पद का नाम न बदलने का कानून पारित होना, 1973 में सुप्रीम कोर्ट द्वारा पूरे देश में गर्भपात को वैध ठहराना, 1975 में संयुक्त राष्ट्र का अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित करना, 1978 में प्रिग्नेंसी डिस्क्रिमिनेशन एक्ट का पास होना (जिसके

अन्तर्गत गर्भवती महिला को नौकरी से निकालना अवैध घोषित हुआ)। 1881 में सेड्रा डे ओ कोन्नोर का अमेरिकी सुप्रीमकोर्ट में महिला जज नियुक्त होना और इसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका की पहली महिला का राजदूत नियुक्त होना- आदि इन नारीवादी आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धियाँ रहीं हैं।

रेडिकल आन्दोलन शुरू से ही पुरुषों का विरोध करता रहा है जो उत्तरोत्तर अति की सीमा तक पहुँचता चला गया। जिस कारण Feminine Mystique लिखने वाली, व 1966 में 28 साथियों के साथ मिलकर National Organization for Woman (NOW) और 1968 में The National Abortion Right Action League की स्थापना करने वाली Betty Friedan ने 1880 के दशक में महिला आन्दोलन का साथ छोड़ दिया और अपनी नयी पुस्तक The Second Stage (द्वितीय धारा) में कहा कि महिला आन्दोलन जरूरत से ज्यादा ही बढ़ गया है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उदारवादी नारीवाद, समाजवादी नारीवाद, उग्रवादी नारीवाद आदि की विचारधारा में आपसी विभेद भले ही रहे हो, या श्वेत-अश्वेत व लेस्बियन नारियों की अपनी एवं अपने समाज को लेकर एक नयी विचारधारा के रूप में आन्दोलन की प्रवृत्ति भले ही रही हो, लेकिन 80 व 90 के दशक में नारीवादी जागरूकता का चहुँमुखी विकास हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि- ''आज समस्त विश्व में अनगिनत समूह है, तथा सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम है जो नारीवादी विचारधारा से प्रभावित है।'' (भारत में स्त्री असमानता, पृ0 327) और पूरे विश्व में स्त्री-विमर्श की एक सार्थक पहल हुई है, जो आज भी बड़े एवं व्यापक स्तर पर जारी है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. स्त्री-अधिकारों का औचित्य-साधन, मेरी वोल्सटनक्राफ्ट, अनुवाद- मीनाक्षी, राजकमल (विश्व क्लासिक) प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2003, पहली आवृत्ति, 2009
2. भारत में स्त्री असमानता, गोपा जोशी, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, संस्करण- दिसम्बर 2011
3. नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे : संपादक-साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, संस्करण 2001
4. स्त्रियों की पराधीनता- जॉन स्टुअर्ट मिल, अनुवाद- प्रगति सक्सेना, राजकमल (विश्व क्लासिक) प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2002, दूसरी आवृत्ति 2009।
5. स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800-1900), राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2009
6. स्त्री-उपेक्षिता- प्रभा खेतान, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्रा0 लि0, नयी दिल्ली, संस्करण- अक्टूबर 2008
7. स्त्री विमर्श की उत्तरगाथा- अनामिका, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2014

वस्तुध्वनि

*डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी**

कविता में पहिले छन्द को प्रधानता मिली थी जिसे वेदों में रूपायित किया गया। लोक में उतरने पर कई तत्व पहचाने गए। कविता में आकर्षण पैदा करने वाले, अलंकार, वक्रोक्ति, अनुमिति, रीति, वृत्ति आदि, परन्तु आनन्दवर्धन ने वेदों से आज तक की कविता में 'ध्वनि' तत्त्व को जब से प्रधान के रूप में गिनाया और उसका विस्तार से विवरण देते हुए अपना ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' सामने रखा, तब से यह आलोक, यह प्रकाश सर्वत्र कविता के परिवेश पर अपना प्रभाव फैला कर इतनी बड़ी पहचान के रूप में प्रतिष्ठित हुआ कि उसे समर्थनों और विरोधों ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक दृढ़ धरातल प्रदान कर दिया।

प्रश्न उठता है कि यदि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक ग्रन्थ का निर्माण न किया होता तो यह ध्वनितत्त्व प्रकाश में न आ पाता, परन्तु ऐसा प्रश्न तो सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्नों के सन्दर्भ में किया जा सकता है। आद्यगुरु शंकराचार्य की शारीरिकभाष्य में एक पंक्ति ध्यान रखने योग्य है कि— ''भगवत्कृपा से सत्यतत्त्व अधिक काल तक परोक्ष नहीं रह सकता, महाशक्ति उसके प्रकाशन की कहीं न कहीं प्रेरणा भर ही देता है, जिससे सत्यतत्त्व प्रकाशित हो उठता है, जिससे लोगों की राह सरल हो जाती है और जिज्ञासु जन अपना प्राप्तव्य पा ही जाते हैं।''

स्वयं आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनितत्त्व के विरोध के प्रसंग में अनेक विकल्प स्वयं उठाये हैं, जिन्हें 'स्थूणानिखनन' से ध्वनिसिद्धान्त की दृढ़तर स्थापना में योगदान के रूप में स्वीकार किया गया माना जा सकता है, स्वयं आनन्दवर्धन ने भी संभवतः अपने ही सामने अपने ध्वनिसिद्धान्त के विरोधी स्वरों को सुन लिया था।

ध्वन्यालोक में ध्वनि विरोधी तर्कों के विकल्प—

तस्याभावं जगदुः अपरे भाक्तमाहुः।
केचित् तदीयं तत्त्वं वाचामविषये स्थितमाहुः॥

ये तीन उठाये गए और उनकी व्याख्या भी संक्षेप से प्रस्तुत कर दी। अभाव को बतलाते हुए ध्वन्यालोक में कहा गया कि कविता में जो सुन्दरता है, उसके कारणों को अलंकार, रस, छन्द, रीति, वृत्ति आदि के रूप में आनन्दवर्धन के पहले आचार्य भरत, रुय्यक, उद्भट, भामह आदि लेखक आचार्यों ने अपने नाट्यशास्त्र आदि विख्यात ग्रन्थों में बतला ही दिया है, और भी जो कोई वाणी के घुमाव के सौन्दर्य अलंकार बनते हैं उनके भी लक्षण और उदाहरण दिखा कर तथा उनका समन्वय दिखाकर तस्वीर खींची जाती आ रही है, परन्तु उनके लिए ऐसा हल्ला नहीं मचाया जाता जो आज आप 'ध्वनि-ध्वनि' कह कर उछल कूद कर मचा रहे हैं।

यहीं उन्होंने 'अन्येन तु कृत एवाऽत्रश्लोकः' कहकर उस आशय को प्रकटित करने वाला एक श्लोक भी उद्धृत कर दिया है— 'यस्मिन्नस्ति' इत्यादि। इस उद्धरण से यह तो स्पष्ट हो ही रहा है कि आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनिसिद्धान्त का निर्माण कर उसका प्रचार भी कर दिया, छात्रों को पढ़ाकर तथा ध्वनि विरोधी स्वरों को भी सुनकर, अपने ग्रन्थ के आरम्भ में उन विरोधी तर्कों को उद्धृत कर उनके उत्तर देने का अवसर भी वे पा गए थे। कक्षा में पढ़ाते समय अध्यापक महाशय ने शायद यही कहा था कि आनन्दवर्धन ने ही अपने विरोध में कही जाने वाली बातों को स्वयं ही श्लोक बनाकर लिखकर किसी अन्य के नाम से उसे ग्रन्थ में जोड़ दिया है, परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' नाम की व्याख्या में इस श्लोक के रचयिता का नाम 'मनोरथ' कवि लिखा है। 'मनोरथ' नाम के कवि की किसी अन्य रचना का पता अभी तक नहीं चला है, अब 'लोचन' टीका में ही यह नाम सुरक्षित है।

ध्वन्यालोक में ध्वनि के तीन भेद प्रमुखता से गिनाए गए, वस्तुध्वनि, अलंङ्कारध्वनि और रसध्वनि है। हम यहाँ ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि वह सर्वविदित है। ध्वनि शब्द का व्यवहार वहीं होगा जहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से अधिक आकर्षण रखता दिखाई देगा या अनुभूत होगा। ध्वनि के तीनों भेदों में अलंकार और रस तो पहले ही अनेक ग्रन्थों में वर्णित हो चुके हैं। वाच्याथ के चमत्कार के रूप में भी और व्यंग्यार्थस्पर्श से समुद्भूत आनन्दवर्धन के रूप में भी, हमें यहाँ 'वस्तुध्वनि', जो ध्वनि की भेद गणना में प्रथम परिगणित है, उसी की कुछ चर्चा करने की इच्छा है।

वस्तुध्वनि का विस्तार अलंकारध्वनि और रसध्वनि से अधिक है। किसी भी सुन्दर दृश्य को, किसी भी छिपी हुई बात को, किसी भी सम्बन्ध की तात्कालिक चमक को किसी एक पद्य में एक कविता में कुशलता के साथ समाहित कर के सौन्दर्य की अनुभूति करा देता है, यह वस्तुध्वनि। 'वस्तु' शब्द को हिन्दी में कहना होगा तो कहा जायगा 'चीज'। आज की व्यावहारिक भाषा में किसी व्यक्ति की चालाकी चतुरता की कोटि को प्रकट करते हुए उस व्यक्ति को ही कह दिया जाता है कि वह एक छुपी हुई चीज है।

वस्तुध्वनि प्रायः मुक्तकों में विस्तार प्राप्त करता है। लक्षण

*पूर्व साहित्य विभागाध्यक्ष, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ग्रन्थों में वस्तुध्वनि के उदाहरण अधिकांश प्राकृत गाथाकाव्यों से उठाये गए मनोरम उदाहरण है।

कविसम्प्रदाय के परिवेश में यद्यपि महाकाव्य या प्रबन्धकला का निर्माण ही महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। कहा गया है कि बिना पूर्वापरसम्बन्ध के निर्वाह के, केवल चित्त को तात्कालिक रूप से चमत्कृत करने के लिए अथवा श्रोताओं के समूह को अपनी ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से बहुत कुछ कहा जाता है, परन्तु वह कहना, जिसमें पूर्वापरसम्बन्ध का निर्वाह किया गया हो, जिसे प्रबन्ध, या महाकाव्य की संज्ञा दी गई हो, जिसमें किसी कथानक को वैदिक सन्दर्भों रामायण या महाभारत या पुराण आदि से पढ़ सुन कर, काव्य या नाटक रचनाओं से सर्गबद्ध, अंकबद्ध किया गया हो, ऐसे प्रबन्ध काव्य के उदाहरण कम ही प्राप्त होते हैं।

''अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः''

यद्यपि भारत में प्रबन्ध काव्य का इतिहास रामायण से प्रारम्भ होकर अब तक अबाध गति से चला आ रहा है। आज हमारे इस काल में भारत की विभिन्न भाषाओं में तथा मुख्यतया संस्कृत और हिन्दी में (यह अपने ज्ञान की सीमा के अनुसार लिखा जा रहा है) प्रबन्ध काव्यों का निर्माण अबाध गति से चल रहा है, परन्तु जब यह कहा जाता है लोकोक्ति के रूप में कि इच्छानुसार अच्छा लगने की वजह से मुक्तक, गीत, कहानी, निबन्ध, कविता आदि के रूपों में बहुत कुछ कहा जा रहा है, परन्तु ऐसे उदाहरण कठिनता से ही मिल पाते हैं, जहाँ सम्पूर्ण कथन में पहले के अर्थ सम्बन्ध को छोड़ा न गया हो, अर्थात् प्रबन्ध के उदाहरण विरल है।

परन्तु यह बहुत कही जाने वाली कविता, यदि गद्य आदि एक महत्त्वपूर्ण ध्वनि भेद, वस्तुध्वनि के प्रचुर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने शब्दार्थों में अनेकानेक चित्र प्रस्तुत करने में अपनी अद्‌भुत क्षमता लेकर प्रकट होते ही चली जा रही है। ये न केवल संस्कृत में ही कविताएं लिखीं गईं, अपितु पालि प्राकृत और अपभ्रंश तथा हमारे सामने ही हिन्दी आदि भारतीय सभी भाषाओं में वस्तुध्वनि के उदाहरण भरे हुए मिलते हैं। मुक्तककाव्य वह शीर्षक है जो प्रबन्धकाव्य के विपरीत प्रत्येक कविता की इकाई में परिपूर्ण माना माना गया है, जबकि प्रबन्धकाव्य में अपनी परिपूर्णता तक पहुँचने के लिए आदि मध्य, अन्त की आवश्यकता का अनुभव हुआ करता है, जो मुक्तक काव्य में नहीं होता। ठेठ हिन्दी में इसे फुटकर कविता कह सकते हैं। ये संज्ञाएँ इस छन्द या कविता की इकाई के प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा द्वितीय स्थान पर रहने को संकेतित करती हैं। परन्तु यदि प्रबन्ध काव्यों के छन्दों की गणना का संकलनात्मक आकलन किया जाय, तथा उसी के साथ वस्तुध्वनि को गर्भित करने वाले मुक्तक पद्यों, गद्यस्थलों, कहावतों आदि को संख्यायित करके देखा जाये तब ध्वनि के अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि से भी अतिशायी स्वरूप को देखा सुना, समझा जा सकता है।

वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि, सौन्दर्यानुभूति का भी पर्यवसान अन्ततः रसध्वनि में ही किया जा सकता है। जैसे लिखित शब्दों में तथा बोलने में शब्दों को निगला और उगला जाता है जिनसे हमारी परम्परा की समझ को पोषण और खुराक मिलती है, वैसे ही समझ में, बुद्धि में, या ज्ञान में भी अनेक रूढ़ियाँ घुस कर बैठ जाती हैं जो पास में आते ही हावी हो जाती है। जैसे वर्तमान प्रसंग में ध्वनि विवरण में रसानुभूति। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि ये दो नाम तो ऐसा लगता है कृपापूर्वक समझने वालों की समझ को टुकड़ों में बांटकर उसी आनन्दानुभूति को समेटने और समझ की छोटी झोली में भरने के लिए सीमाबद्ध करके पाठक लेखक कवि आदि पर अनुग्रह दरसाते हुए, उन्हें एक रास्ता दिया गया हैं यद्यपि यह रास्ता दिया नहीं गया है, 'सुभाषितरत्नभाण्डागार'। वस्तुध्वनि के उदाहरणों का आनन्द प्राप्त करने के लिए ऐसे अन्य भी अनेक प्रयास हुए और होते हीरहते हैं, जिनमें प्रबन्ध काव्यों से भी अधिक आत्मिक उल्लास का साक्षात्कार हम कर लेते हैं। 'भोजप्रबन्ध' नाम का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भी ऐसे उदाहरणों से ओतप्रोत है जिसमें वस्तुध्वनि के पर्याप्त निदर्शन विद्यमान हैं। 'शार्ङ्गधरपद्धति' नामक ग्रन्थ भी इस सन्दर्भ गणनीय है।

रसध्वनि की भांति वस्तुध्वनि में विभावानुभावसंचारि के संयोग की उतनी विस्तृत अपेक्षा नहीं होती।

विश्वविख्यात भर्तृहरि के तीनों शतकाव्यों, शृंगारशतक, वैराग्यशतक, नीतिशतक वस्तुध्वनि को ही गले लगा रहे प्रतीत होते हैं। आर्यासप्तशती, गाथासप्तसती तथा आगे के अनेकानेक शतककाव्य, पञ्चाशिका काव्य सभी वस्तुध्वनि पर ही आश्रित हैं ऐसी प्रतीति होने में कोई कठिनाई नहीं। हिन्दी में या ब्रजभाषा में बिहारीसतसई जैसी अनेकानेक रचनाओं में वस्तुध्वनि को ही स्पष्टतया लाक्षित किया जा सकता है।

वस्तुध्वनि को लक्षित करने वाला एक विवादास्पद अलंकार है पर्यायोक्त। इस अलंकार के स्वरूप में व्यंग्यार्थ का स्वरूपतः समावेश होने पर भी जिस रूप में वह अर्थ व्यंग्य है, उस रूप में वह वाच्य नहीं यही बात ''यदेव व्यग्यं तदेवोच्यते, न नु यथा व्यंग्यं तथा'' कहकर स्पष्ट की गई है। अलंकारध्वनि से भिन्न जो अलंकार हैं उनमें वाच्य अर्थ ही अपनी प्रधानता रखता है, उसके स्वरूप में यदि व्यंग्य अर्थ का समावेश हो तब भी वह वाच्य अर्थ की अपेक्षा द्वितीय कोटि का ही रहेगा। यही अलंकारध्वनि अलंकारप्रधान काव्य का भेद भी है। पर्यायोक्त अलंकार में जो व्यंग्य अर्थ प्रकाशित होता है वह वस्तु रूप ही होने से उसे वस्तु ध्वनि के सौन्दर्य का स्पर्श प्राप्त हो जाता है।

वस्तुध्वनि का फैलाव बढ़ जाने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि किसी भी गंभीर दार्शनिक चर्चा को लिखने वाले आचार्यगण और विद्वान् गण बोलते-बोलते या लिखते-लिखते कभी-कभी विनोदी में आ जाते हैं और अपने कथन में या लेखन में उदाहरण आदि के रूप

में किसी छिपी हुई बात की ओर संकेत कर देते हैं, वह वस्तुध्वनि का ही सौन्दर्य प्रकट करने वाला सन्दर्भ बन जाता है। गीता में श्रीकृष्ण कहत हैं— **''मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव''** यहाँ उपमा अलंकार तो स्पष्टतया वाच्य है ही, परन्तु कृष्ण में या ईश्वर में संसार किस प्रकार पिरोया हुआ है, इसका जो दृश्य चित्त पर अंकित होता है, वह वस्तुध्वनि का ही रूप है। इस प्रकार कविता के बाहर दूसरे विषयों के ग्रन्थों में भी वस्तुध्वनि के शतशः उदाहरण संकलित किये जाते हैं। ध्वनितत्त्व शब्दों के द्वारा ही आता हो ऐसा भी नहीं, वह इंगित, चेष्टित, उच्चावच स्वर तथा व्यावहारिक विभिन्न भंगिमाओं से भी हृदयंगम होता है और वह सारा प्रवाह वस्तु ध्वनि का ही विषय बनता है। इसलिए हम स्पष्टतया देखते हैं कि आचार्य आनन्दवर्धन ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक रीति का अवलम्बन करते हुए ध्वनि के तीन प्रमुख भेद गिनाकर उनमें प्रथम स्थान वस्तुध्वनि को ही दिया।

वर्तमान में हिन्दी निबन्धों में तथा कहानियों में एक नया ही शीर्षक देखा जा रहा है 'व्यंग्य'। ये व्यंग्य शीर्षक के अन्तर्गत लिखा गया साहित्य वस्तुध्वनि का ही स्वरूप है जो अपने सौन्दर्य को गद्य आदि विधाओं में प्रकाशित कर रहा है। कभी लेखक अपनी ओर से रचना पर अपना शीर्षक लगाकर शीर्षक जोड़ देते हैं, 'एक व्यंग्य', यह भी वस्तुध्वनि ही है।

व्यंग्य अर्थ की संज्ञा है। शब्द के उच्चारण और श्रवण के अनन्तर साधारणतया शक्तिग्रह के आठ उपायों में से किसी उपाय के माध्यम से जिस शब्द के जिस अर्थ को श्रोता ने जाना, समझा, वह अर्थ तत्काल बुद्धि में भासित होता है और उस अर्थ को उस शब्द का वाच्य अर्थ कहते हैं। वाक्य के अर्थ में शब्द का वाच्य अर्थ जब रुक जाता है, वाक्य के अर्थ में अपना योग नहीं देता तब उसे कह दिया जाता है कि यहाँ वाच्य अर्थ बाधित है, रुक गया है। तब झट से वह अर्थ अपने मित्र एक दूसरे अर्थ को आगे कर देता है जिससे वाक्य अपने अर्थ को साफ-साफ प्रकट कर देता है। रुकावट वाले शब्द का यह दूसरा अर्थ को साफ-साफ प्रकट कर देता है। रुकावट वाले शब्द का दूसरा अर्थ लक्ष्य अर्थ है। अब बारी बुद्धि या विचारपट्ट पर तीसरे अर्थ की भी आती है जिसे हम व्यंग्य अर्थ नाम देते हैं। यह अर्थ स्वभावतः सहृदय के हृदय में सुन्दरता और तृप्ति भर देता। यही व्यंग्य अर्थ हैं। इसी अर्थ में जब कहीं किसी बात के लिए तीखेपन की, अर्थ के अनुसार विशेष अभिव्यक्ति की गई होती है तो उसे जो शीर्षक दिया जाता है उसके लिखने के बाद- 'एक व्यंग्य' शीर्षक दिया जाता है। यह सारा का सारा वस्तुध्वनि के अन्तर्गत ही आने वाला विषय है।

●

वैदिक ऋक्परिशिष्ट के मन्त्रों का पाठ विमर्श

शिल्पा सिंह एवं प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव***

सृष्टि के उत्पत्तिकाल से ही वेद का अस्तित्व रहा है। श्रुति परम्परा पर आधारित वेद आर्य-जाति का प्रथम धार्मिक ग्रन्थ है। वेदव्यास ने वेद के अस्तित्व को जीवन्त रखने हेतु एवं अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से वेद को चार भागों में विभाजित किया। चारों वेदों में प्रथम वेद 'ऋग्वेद' है। ऋग्वेद प्रथम वेद होने के कारण पाठक-गणों द्वारा प्रथमतः पठित होता है। देवताओं के अर्चना एवं स्तुति के साधनभूत मन्त्रों का संग्रह ऋग्वेद है। इस ग्रन्थ को अन्य वैदिक मन्त्रों का उपजीव्य कहा गया है। परवर्ती संस्कृत-साहित्य में विकसित प्रायः समस्त विषयों का मूल स्रोत वेदों को ही माना जाता है। काव्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि का उद्गम क्षेत्र वेद है। इन सभी विषयों के अनुशीलन का प्रारम्भ ऋग्वेद से किया जाता है। भाषा का प्रथम चिन्तन ऋग्वेद की ऋचाओं से आरम्भ होकर अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों तक व्याप्त है।

ऋक्परिशिष्ट

वर्तमान में ऋग्वेदीय शाकल-संहिता के संस्करणों में मुद्रित 10 मण्डल के पश्चात् 'खिल' नाम से ऋक्-परिशिष्ट भाग प्राप्त होता है। इन संस्करणों में मैक्समूलर संस्करण के अन्तर्गत 32 खिल-सूक्त प्राप्त होते हैं, परन्तु खिलों का व्यवस्थित स्वरूप चिन्तामणि गणेश काशीकर महोदय के ऋग्वेद संस्करण में प्राप्त होता है। पाँश अध्यायों में विभाजित करके खिलों का जो सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है वह पाठकगणों को अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से सहायक सिद्ध होता है। यद्यपि ऋग्वेद पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विद्वज्जनों द्वारा प्रारम्भ से ही समीक्षात्मक, आलोचनात्मक रूप से अध्ययन किया जाता रहा है, परन्तु ऋक्-परिशिष्ट या खिल-भाग पर विद्वानों का अल्प कथन प्राप्त होता है। इसका कारण यह हो सकता है कि परिशिष्ट भाग होने से यह विद्वद्गणों के दृष्टिपथ में न आया हो, अथवा अपने अध्ययन हेतु इन्हें महत्त्वपूर्ण न माना हो, परन्तु यदि इस परिशिष्ट के मन्त्रों पर दृष्टि डाली जाये तो ये मन्त्र वेद संहिताओं के ही अंश हैं। याज्ञिक प्रयोजन हेतु इन्हें आचार्यगणों ने अलग एकत्र संकलित किया है। इन परिशिष्ट मन्त्रों में मानव-जीवन के कल्याण से सम्बन्धित अनेक लौकिक-अलौकिक विषय दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ- परिशिष्ट में प्राप्त होने वाले ओषधि-सूक्त मानव के शारीरिक-स्वास्थ्य से सम्बन्धित स्तुत्य मन्त्रों का संकलन है। शिवसंकल्पसूक्त के अन्तर्गत मन को नियन्त्रित रखने हेतु स्तुति की गई है। नेजमेष-सूक्त गर्भ-सुरक्षा तथा गर्भाधान कर्मों से सम्बन्धित है। सर्प-सूक्त के अन्तर्गत सर्पों की स्तुति की गई है। श्रीसूक्त में श्री अर्थात् -लक्ष्मी की प्राप्ति से सम्बन्धित स्तुत्य मन्त्र हैं। इसी प्रकार से रात्रिसूक्त, वैद्युत-सूक्त, कृत्या-सूक्त, आयुष्य-सूक्त, लाक्षा, मेधा, सौभेषज, संज्ञान-सूक्त आदि हैं। स्पष्टतः परिशिष्ट के मन्त्र किन्हीं न किन्हीं रहस्यों का उद्घाटन करते हैं।

वैदिक-वाङ्मय में ऋक्परिशिष्ट मन्त्रों की व्यापकता

ऋक्परिशिष्ट के मन्त्र वैदिक-वाङ्मय में- चतुर्वेदों अर्थात् ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद में, ब्राह्मण-ग्रन्थों में, सूत्र-साहित्य में प्राप्त हैं। परिशिष्ट के मन्त्रों की प्राप्ति वैदिक-वाङ्मय में जिन स्थानों पर होती है उनमें कहीं-कहीं मन्त्रों में स्वरूप-भिन्नता है, तो कहीं पर पदक्रम-भिन्नता दृष्टिगत होती है, तथा कहीं पर स्वरूप एवं पदक्रम से परिशिष्ट मन्त्र वेदों में समान रूप से प्राप्त होते हैं। खिल के प्रथम-अध्याय के तृतीय-सूक्त का यह मन्त्र—

आ तिष्ठद्यत्र दुहिता विवस्वतस्तमेवावाञ्चमवसे करामहे।।

इस मन्त्र का द्वितीय-चरण '**अर्वाञ्चमिन्द्रमवसे करामहे**'[1] ऋग्वेद शाकल-संहिता में प्राप्त होता है यहाँ खिल मन्त्र और ऋक्-संहिता के मन्त्र में परस्पर स्वरूप भिन्नता है, क्योंकि ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र में 'इन्द्र' पद दृष्टिगत होता है जबकि खिल मन्त्र में 'इन्द्र' पद दृष्टिगत नहीं हैं। खिल के इसी अध्याय का यह मन्त्र—

वषड् वां दस्रावस्मिन्सुते नासत्या होता कृणोतु वेधाः।

खिल का यही मन्त्र अथर्ववेद-संहिता में इस प्रकार प्राप्त होता है-

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।[2]

तत्पश्चात् खिल के द्वितीय-अध्याय के सातवें सूक्त का चतुर्थ-मन्त्र है—

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा ध्रुवेषु तिष्ठति।

इस मन्त्र का प्रथम चरण '**ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी**'[3] वैदिक-वाङ्मय में चार स्थानों पर प्राप्त होता हैं- ऋग्वेद -संहिता,अथर्ववेद-संहिता, खादिरगृह्यसूत्र तथा गोभिलगृह्यसूत्र में। अग्रिम, खिल के इसी अध्याय के आठवें सूक्त का पाँचवाँ-मन्त्र है—

अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने वोचः सुमतिं रोदस्योः।
वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवो नृन् द्विषो
अंहांसि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम।।

---

*शोधच्छात्रा, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

यह मन्त्र ऋग्वेद-संहिता[4] में दो स्थानों पर प्राप्त होता है, शक्वरी-छन्द में उपलब्ध यह मन्त्र ऋग्वेद का अंश है जो परिशिष्ट रूप में भी संकलित है। तदुपरान्त खिल के द्वितीय-अध्याय के 10वें सूक्त का प्रथम-मन्त्र है—

आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।

यह मन्त्र वैदिक-वाङ्मय में दो स्थानों पर दृष्टिगत है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में—

'आ ते गर्भो योनिमेतु'[5] इस रूप में है। अथर्ववेद-संहिता में खिल का यही मन्त्र भिन्न-पदक्रम में प्राप्त होता है—

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।[6]

तत्पश्चात् खिल के चतुर्थ-अध्याय के पाँचवें सूक्त का 37वाँ मन्त्र है—

यो नः स्वो अरणो यश्च निष्टयो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥

खिल का यह मन्त्र वैदिक-वाङ्मय में तीन स्थानों पर प्राप्तव्य है। ऋग्वेद-संहिता[7] में यह खिल-मन्त्र समान रूप से उपलब्ध है, सामवेद-संहिता में यह मन्त्र-

यो नः स्वो अरणो यश्च निष्टयो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् शर्म वर्म ममान्तरम्॥[8]

परन्तु अथर्ववेद-संहिता में परिशिष्ट-मन्त्र के चारों चरणों में से प्रथम दो चरण एक स्थान पर भिन्न पदक्रम एवं स्वरूप लिए हुए हैं—

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्टयो या अस्माँ अभिदासति।[9]

इसके बाद अन्तिम दो चरण अथर्ववेद-संहिता[10] में समान रूप से प्राप्तव्य है। इसके बाद खिल के इसी अध्याय के छठें सूक्त का 5वाँ मन्त्र है—

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं जज्ञे अधि मर्त्येषु।
य एनद्वेद स इदेनदर्हति जरामृत्युर्भवति यो विभर्ति॥

यह मन्त्र अथर्ववेद-संहिता[11] में अल्प भिन्न स्वरूप में प्राप्त होता है द्वितीय-चरण में 'जज्ञे' के स्थान पर 'दध्रे' तथा तृतीय-चरण में 'दर्हति' के स्थान पर 'मर्हति' उपलब्ध है। तत्पश्चात् खिल के इसी अध्याय के आठवें 'मेधासूक्त' का द्वितीय-मन्त्र है—

मेधां मे वरुणो राजा मेधां देवी सरस्वती।
मेधां मे अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा॥

हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र में दो स्थानों पर इस खिल-मन्त्र का द्वितीय एवं तृतीय-चरण दृष्टिगत होता है—

.....मेधां देवी सरस्वती।
मेधां मे अश्विनौ.....॥[12]

ऋक्-परिशिष्ट अथवा खिल के चतुर्थ-अध्याय के 11वें सूक्त में 'शिवसंकल्पसूक्त' से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं इन सभी मन्त्रों का अन्तिम चरण है- **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**। ये सभी मन्त्र शुक्ल-यजुर्वेद[13] में छः मन्त्र 'शिवसंकल्पोपनिषद्' के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जो मानवीय मन और उसकी वृत्तियों के स्वरूप को बतलाने में अत्यन्त उपादेय हैं। तदुपरान्त परिशिष्ट या खिल के पाँचवें-अध्याय के प्रथम-सूक्त का द्वितीय-मन्त्र है—

संज्ञानं नः स्वेभ्यः संज्ञानमरणेभ्यः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छताम्॥

यह मन्त्र अथर्ववेद-संहिता[14] में भिन्न स्वरूप में प्राप्त होता है— प्रथम-चरण में 'स्वेभ्यः' का 'स्वेभिः', द्वितीय-चरण में 'अरणेभ्यः' का 'अरणेभिः' तथा चतुर्थ-चरण में 'यच्छताम्' का 'यच्छतम्' इस प्रकार प्राप्तव्य है। इसके बाद खिल के इसी अध्याय के द्वितीय-सूक्त का द्वितीय-मन्त्र है—

परि वर्त्मान्येषामिन्द्रः पूषा च चक्रतुः।
तेषां तो अग्निदग्धानामग्निगूव्ह्यानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्॥

यह मन्त्र अथर्ववेद में दो स्थानों पर भिन्न स्वरूप में एवं पदक्रम में द्रष्टव्य हैं। प्रथम स्थान पर खिल-मन्त्र के प्रथम और द्वितीय-चरण इस प्रकार हैं—

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः।[15]

अथर्ववेद के दूसरे स्थान पर खिल-मन्त्र का तृतीय एवं चतुर्थ-चरण इस रूप में है—

तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥[16]

तत्पश्चात् इसी अध्याय एवं सूक्त में खिल का तीसरा-मन्त्र है—

ऐषु नह्य विषादनं हरिणस्य धियं यथा।
पराङमित्रां ऐषत्ववर्वाची गौरुपेजतु॥

वैदिक-वाङ्मय में यह मन्त्र अथर्ववेद-संहिता में भिन्न स्वरूप में प्राप्त होता है, प्रथम एवं द्वितीय-चरण में यह भिन्नता तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है परन्तु तृतीय एवं चतुर्थ-चरण में स्वरूप भिन्नता सूक्ष्म रूप में है। अथर्ववेद में यह मन्त्र है—

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणभ्या धियं कृधि।
पराङमित्र एषत्ववर्वाची गौरुपेपतु॥[17]

अग्रिम, खिल के पाँचवें-अध्याय के प्रथम-सूक्त का पाँचवाँ-मन्त्र है—

तच्छंयोरा वृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये.....

खिल के इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या शतपथ-ब्राह्मण में दृष्टिगत होती है— तछम्योरावृणीमहऽइति तां यज्ञस्य संस्थामावृणीमहे यां शम्युर्बार्हस्पत्योऽवेदित्येवैतदाह।। गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतयऽइति। गातुं ह्येष यज्ञायेइति गातुं यज्ञपतये यो यज्ञस्य संस्थां देवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति स्वस्ति नो देवत्रास्तु स्वस्ति मनुष्यत्रेत्येवैतदाहोर्ध्वं जिगातु भेषजमित्यूर्ध्वं नोऽयं यज्ञो देवलोकं जयत्वित्येवैतदाह।। शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति। एतावद्वाऽइदं सर्वं यावद्द्विपाच्चैव चतुष्पाच्च तस्माऽएवैतद्यज्ञस्य संस्थां गत्वां शं करोति तस्मादाह शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति।।[18]

ऋक्-परिशिष्ट में प्रैष-मन्त्रों का भी संकलन है। परिशिष्ट में पाँचवें-अध्याय का 7वाँ सूक्त जो कई खण्डों में गद्यात्मक स्वरूप में विभाजित है, यहाँ पर यह 'प्रैषाध्याय' नाम से संकलित है। इसमें प्रथम-सूक्त के 'ऐ' खण्ड का मन्त्र है—

सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे वि श्रयन्तामृतावृधो व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥

यह मन्त्र यास्करचित निरुक्त में इस प्रकार से उपलब्ध है—

'सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्ताम्'। सुप्रगमनाः॥[19]

अर्थात्, तेज चलने वाले (लोग) इस यज्ञ में विश्राम करें। सुन्दर (या तेज) गति वाले।।

निरुक्त के साथ-साथ ऐतरेय-ब्राह्मण में भी प्रैष-मन्त्रों की व्याख्या उपप्रैषा या उपप्रैष या उपप्रेष्य इस रूप में भी प्राप्त होती है—

अत उपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्याहाध्वर्युः॥[20]

अब अध्वर्यु कहता है कि 'हे होता, देवों के हव्य के लिए निर्देश दो।' इस प्रकार अध्वर्यु को मैत्रावरुण के प्रति प्रैषमन्त्र पढ़ना चाहिए। अग्रिम मन्त्र में उपप्रैष का कथन है—

अजैदग्निरसनद्वाजमिति मैत्रावरुण उपप्रैषं प्रतिपद्यते॥[21]

अर्थात् 'अग्नि की विजय हो। अग्नि हविरूप अन्न का भक्षण करे'- इस प्रकार मैत्रावरुण उपप्रैष का प्रतिपादन करता है।

तदुपरान्त परिशिष्ट के अन्तर्गत 5वें अध्याय में सूक्त 8 से 22 तक कुन्ताप-मन्त्रों का संकलन है अतः इनका नाम 'कुन्तापाध्याय' उपलब्ध होता है। ये कुन्ताप-मन्त्र सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर दृष्टिगत होते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण में इन मन्त्रों की विस्तृत रूप में व्याख्या द्रष्टव्य है। खिल के 8वें सूक्त में '**इदं जना**' इत्यादि मन्त्र है। ऐतरेय-ब्राह्मण में कुन्ताप सूत्रगत ऋचाओं का विधान इस प्रकार है—

नाराशंसीः शंसति, प्रजा वै नरो वाक्शंसः, प्रजास्वेव तद्वाचं दधाति, तस्मादिमाः प्रजा वदत्यो जायन्ते य एवं वेद, यदेव नाराशंसी३:॥[22]

अर्थात् नराशंस सम्बन्धी ऋचा का शंसन करता हैं। वस्तुतः वहाँ 'नर' शब्द से प्रजा विवक्षित है और 'शंस' शब्द से वाक् विवक्षित है। अतः उस (शंसन) से वह प्रजाओं में वाणी को स्थापित करता है। इसलिए ये प्रजाएँ (लोक में) बोलते हुए जन्म लेती हैं। जो इस प्रकार जानता है (उसके वाग्व्यवहार की क्षमता प्रकाशित होती है)। इस प्रकार जो यह नराशंस सम्बन्धी ऋचा हैं, वे पूज्य हैं।

इसके बाद परिशिष्ट में कुन्ताप-सूक्त में '**रेभ**'[23] शब्द-युक्त तीन मन्त्र प्राप्त होते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण में 'रेभ' के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— '**रेभन्तः शब्दं कुर्वन्तः, कीर्तिं कुर्वन्त इत्यर्थः**'।।[24] ऐतरेय-ब्राह्मण में कुन्ताप -सूक्तों की विस्तृत व्याख्या की गई है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो 'परिक्षित्' शब्द-युक्त ऋचाएँ हैं वे पूज्य हैं। प्रकारान्तर से उसकी प्रशंसा करते हुए दृष्टिगत है—

संवत्सरो वै परिक्षित्, संवत्सरो हीमाः प्रजाः परिक्षेति, संवत्सरं हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति॥[25]

तात्पर्य यह है कि- उनमें 'परिक्षित्' शब्द 'संवत्सर' को ही कहा गया है, क्योंकि संवत्सर उस सम्पूर्ण प्रजा का परिपालन करते हुए ही निवास करता है और क्योंकि, प्रजा भी उस संवत्सर को चारों ओर से सेवन करते हुए ही निवास करती है।

ऋक्-परिशिष्ट या खिल के सभी मन्त्र वैदिक-वाङ्मय के ही अंश हैं इन्हें ऋग्वेद-संहिता के अन्त में खिल नाम से एकत्र संकलित किया गया है। वैदिक-काल में जब ऋषिगणों को याज्ञिक कार्यों हेतु जिन-जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती थी उन्हें बारम्बार वैदिक-वाङ्मय में अन्वेषण न करना पड़े एवं कालान्तर में पाठकगणों को इसके अध्ययन में सुविधा प्राप्त हो, तथा इनकी अध्ययन परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, इसी कारणवश इन खिल-मन्त्रों का एकत्र संकलन हुआ, परन्तु ये खिल-मन्त्र वस्तुतः वेद मन्त्र ही हैं।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद-संहिता 10/38/4, मैक्समूलर-संस्करण।
2. अथर्ववेद (शौनकीय) 1/11/111[1], होशियारपुर, वैदिक शोध संस्थानम्।
3. ऋग्वेद-संहिता 10/173/4, अथर्ववेद (शौनकीय) 6/88/1, खादिरगृह्यसूत्र 1/4/4,गोभिलगृह्यसूत्र 2/3/12।
4. ऋग्वेद-संहिता 6/2/11, 6/14/6, मैक्समूलर-संस्करण।
5. हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र 1/25/1
6. अथर्ववेद (शौनकीय) 3/23/2, होशियारपुर, वैदिक शोध संस्थानम्।
7. ऋग्वेद-संहिता 6/75/19, मैक्समूलर-संस्करण।
8. सामवेद-संहिता (उत्तरार्चिक) 2/9/3/8/3
9. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय) 1/19/313[1]
10. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय) 1/19/424[2]

11. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय) 19/26/1
12. हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र 1/6/42,3. ,1/8/42,3 $4^{2,3}$
13. शुक्ल-यजुर्वेद 34/1-6, प्रथम-संस्करण 1971, मोतीलाल बनारसीदास।
14. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय) 7/52/1
15. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय)$6/67/11^{1}$
16. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय) $6/67/22^{2}$
17. अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय)6/67/3
18. शतपथ-ब्राह्मण (शुक्ल-यजुर्वेद, माध्यन्दिन-शाखा) 1/9/1/26-28, डॉ0 अल्बेर्तेन वेबेरेण, तृतीय-संस्करण, चौखम्बा-संस्कृत सीरीज वाराणसी।
19. निरुक्तम् 4/18, पृ0 119, संस्करण 2008 ई0, डॉ0 उमाशंकर शर्मा 'ऋषिः',चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
20. ऐतरेय-ब्राह्मणम् (प्रथम भागः) 2/5, डॉ0 सुधाकर मालवीय, प्रथम-संस्करण।
21. ऐतरेय-ब्राह्मणम् (प्रथम भागः) 2/5, डॉ0 सुधाकर मालवीय, प्रथम-संस्करण।
22. ऐतरेय-ब्राह्मणम् (द्वितीय भागः) 6/32, डॉ0 सुधाकर मालवीय, प्रथम-संस्करण।
23. ऋग्वेद-संहिता, अथ खिलानि, 5/9/1-3, सी0जी0 काशीकर, पूना प्रकाशन।
24. ऐतरेय-ब्राह्मणम् (द्वितीयभागः) 6/32,पृ0 1056, डॉ0 सुधाकर मालवीय, प्रथम-संस्करण।
25. ऐतरेय-ब्राह्मणम् (द्वितीय भागः) 6/32, डॉ0 सुधाकर मालवीय, प्रथम-संस्करण।

स्फोटस्वरूपविमर्श

भूपेन्द्र कुमार ओझा एवं प्रो. भगवत् शरण शुक्ल***

व्याकरण शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त स्फोटवाद है। स्फोट के विषय में विविध विवेचन शास्त्रों में प्राप्त होता है, जिसके स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने का प्रयास इस निबन्ध के माध्यम से किया जा रहा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरणमहाभाष्य में केवल दो स्थलों पर ही स्फोट शब्द का उल्लेख किया है, और उन दोनों ही स्थलों पर ध्वनि के ही प्रसङ्ग में स्फोट का उल्लेख प्राप्त होता है— **एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनि शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। तद्यथा भेर्याघातः। भेरीमाहत्य कश्चित् विंशति पदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत् कश्चिचत्वारिंशत् स्फोटश्च तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।**[1]

''अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते। र्श्रुतेल्र्श्रुतिर्भवति।[2] इतना ही नहीं भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीयम् तथा दीपिका में सर्वत्र स्फोट का उल्लेख ध्वनि के ही सन्दर्भ में किया है। एवं पाणिनीय सूत्र **''तपरस्तत्कालस्य''**[3] में द्रुत वृत्ति में वर्ण को तपर करने पर कालभिन्न माध्यम व विलम्बित वृत्तियों में भी पृथक् से तपर करने की आवश्यकता नहीं है, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि शब्दवृन्द में से प्रत्येक में ध्वनि और स्फोट दोनों स्वभावतः विद्यमान है, जिसमें केवल ध्वनि ही लक्षित होता है। किन्हीं शब्दों में यह ध्वनि अल्प और किन्हीं में महान् देखी जाती है। **ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते। अल्पो महांश्च केषांश्चित् उभयं तत्स्वभावतः।**[4] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि द्रुतादि भेद केवल वृत्तिगत है। ये वृत्तियाँ वक्ता के चिर या आशु अभिधान शीलत्व के कारण होती हैं। जैसे एक ही मार्ग को पद से चलने वाला व्यक्ति (यात्री) चिरकाल में तय करता है जबकि रथारोही व अश्वारोही अपेक्षाकृत जल्दी पार कर लेते हैं, जबकि मार्ग का आयाम वही होता है। इसी प्रकार वर्ण अथवा शब्द तो अवस्थिर स्थिर, एक जैसा है— **''सिद्धं त्ववस्थिता वर्णाः वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते।**[5] इन द्रुतादि वृत्तियों के उच्चारण में वह अवस्थित शब्द ही स्फोट है, ध्वनि उस शब्द का गुण है **''एवं तर्हि स्फोटः शब्द ध्वनिः शब्दगुणः''**[6]**।** स्फोट उतना ही रहता है, वृद्धि, क्षयादि केवल ध्वनि में ही पाए जाते हैं **''स्फोटस्तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः''**[7]। इस प्रतिपाद्य को भेर्याघात के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जाता है जैसे भेरी को आहत करने पर उत्पन्न होने वाला शब्द बीस तीस पग प्रसारित होता है, तो कोई चालीस पग तक जिसमें विभिन्नता का कारण होता है, अत्यन्त बलवान् आघात होने पर उत्पन्न प्रतिध्वनि दीर्घकालिक होने के कारण दूर तक जाती है जबकि मृदु आघात से उत्पन्न होने पर अल्पकालिक अतएव निकट ही समाप्त हो जाती हैं इस प्रकार प्रतिध्वनि कृत वैषम्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रतिध्वनि ही वैषम्य को अनवस्थित करती है। ध्वनि आघात शब्द दोनों अवस्थाओं में तुल्य है।

द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों में भी मूल शब्द अवस्थित है। केवल करणाभिघात रूप प्रयत्न की विषमता, अल्पता व आधिक्य वृत्तिभेद का कारण बनते हैं। यह तो स्पष्ट है कि दीर्घप्लुतादि उच्चारणों में करणाभिघात की पुनरावृत्ति नहीं होती। करणाभिघात से प्रथम उत्पन्न ध्वनि से ही अन्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, क्योंकि द्रुतादि उच्चारणों में पुनः पुनः करणाभिघात न होकर प्रथम करण सन्निपातज ध्वनि, ध्वन्यन्तर को प्रारम्भ करती है। अतः इस अवस्था में जब ध्वनि से ध्वनियों की उत्पत्ति होती है, तब आस्य का व्यापार तो प्रथम ध्वनि की उत्पत्ति में ही समाप्त हो चुका होता है। इसीलिए काल को **''आस्यवाह्य''** कहना उचित ही है। **''तत्र यस्यामवस्थायां करणसन्निपाताद् ध्वनिर्ध्वन्यन्तरमारभते तदोपरत एवाऽऽस्य व्यापार इति युक्तमुच्यते बाह्यश्च पुनरास्यात्कालःइति**[8]**''** दीपिकाटीका में भर्तृहरि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि दीर्घप्लुतादि में पुनः पुनः करणसन्निपात जो आस्थान्तर्वर्ती प्रक्रिया है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित काल का आस्य बाह्यत्व निरर्थक हो जाता, क्योंकि तब द्रुतादि में करणाभिघात के पुनः पुनः होते रहने से पुनः पुनः 'आस्य' योगदान भी रहता है, ऐसी अवस्था में काल को आस्य बाह्य प्रतिपादित करने का कोई अर्थ नहीं है **''बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः''**[9]

एवं दीपिका टीका में भी कहा गया है, **''अथ दीर्घप्लुतेषु पुनःपुनः करणाभिघातः तद् द्रुतादिष्वेवं सति कालस्यास्याद् बाह्यत्वं दुरूपपादं करणाभिघातस्यानुपरमात्''**[10] एक ही प्रयत्न के नैरन्तर्य की अवधि की अल्पता, अधिकता आदि वृत्ति व्यवस्था के हेतु रहते हैं। मूल शब्द अवस्थित है तथा सब ध्वनि धर्मों से सर्वथा युक्त है। **''स्फोट तो क्षण मात्र में होने वाली वह प्रतीति है, जो नाद काल समाप्त होते ही ग्रहीता की बुद्धि में उत्पन्न होती है।**[11]**''** उच्चार्यमाण शब्दों में विद्यमान इस स्फोट अंश के स्थैर्य गुण के कारण ही शब्दों का नित्यत्व स्वीकार किया जाता है। **''एवमर्थमेव शब्दानां**

*अनुसन्धाता, व्याकरणविभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, व्याकरणविभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नित्यत्वमभ्युपगम्यते।[12]'' एवं महाभाष्य में भी कहा गया है ''**ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यावृद्ध्यव्ययोगि यत्तन्नित्यम्।**[13]

शब्दों में विद्यमान इन स्फोट व ध्वनि अंशों का परस्पर सम्बन्ध व्यङ्ग्य-व्यञ्जक रूप है। स्फोट अवस्थित व नित्य अंश है, जिसे ध्वनि अभिव्यक्त कर देती है। ध्वनि के विना स्फोट की उपलब्धि नही हो पाती। नित्य की अभिव्यञ्जक ये ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं (क) प्राकृत ध्वनि और (ख) वैकृत ध्वनि **तस्य नित्यस्य पुनर्येऽभिव्यञ्जकास्ते च केचित् प्राकृता केचित् वैकृता**[14] वाक्यपदीय में भी कहा गया है, ''**ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियत्ता यथा। व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भावेन तथैव स्फोटनादयोः**''[15] जहाँ तक इन दोनों प्रकार की ध्वनियों के स्वरूप का प्रश्न है सभी वैयाकरण ऐकमत्य से प्राकृत ध्वनि उसे कहते हैं जो अवस्थित स्फोट शब्द की उपलब्धि का कारण है, तथा जिसके विना स्फोट का रूप अभिव्यक्त नहीं हो पाता जबकि अभिव्यक्त हुए स्फोट की पुनः पुनः **अविच्छेदेन** अथवा **नैरन्तर्येण** उपलब्धि वैकृत ध्वनि के कारण होती है—

''शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थिति भेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते''[16]

स्फोट की उपलब्धि प्राकृत ध्वनि के साथ ही तिरोहित नहीं हो जाती अपितु पुनःपुनः अविच्छेदेन या नैरन्तर्येण होती रहती है। द्रुत उच्चारण में कुछ देर तक मध्यम उच्चारण में अपेक्षाकृत अधिक समय तक तथा विलम्बित उच्चारण में उससे भी अधिक देर तक इस **नैरन्तर्येण** की जो द्रुत मध्यम आदि उच्चारणों के लिए उत्तरदायी है, ''वैकृत ध्वनि'' के ही आधार पर व्याख्यात किया गया है। प्रत्येक अभिव्यञ्जक ध्वनि के मूल में अभिव्यङ्ग्य स्फोट रहता है, यद्यपि उन दोनों का परस्पर अत्यन्त संसृष्टरूप पृथकत्वेन भासित नही होता, अतः स्फोट को ध्वनि की प्रकृति कहा जाता है।

उस प्रकृति से उत्पन्न होने वाली ध्वनि प्राकृत कहलाती है। नैरन्तर्येण उपलब्धि या अनुसरण में हेतु ध्वनियाँ इस प्राकृत ध्वनि से विलक्षण होती हैं, क्योंकि उनकी प्रकृति स्फोट नहीं अपितु प्रकृति स्फोट से उद्भूत प्राकृतध्वनि है, जो वस्तुतः स्फोट की विकृति है। अतः उस विकृति से उत्पन्न होने के कारण वह वैकृत ध्वनि कहलाती है ''**ध्वनिस्फोटयोः पृथक्त्वेनानुपलम्भात् तं स्फोट तस्य ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यते। तत्र भवः प्राकृतः। तदुत्तरकालभावी तस्माद्विलक्षण एवोपलभ्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्येति वैकृत उच्यते**''[17] सर्वप्रथम उत्पन्न प्राकृत ध्वनि में मात्राभेद या कालभेद रहता है। इसलिए उसमें ह्रस्व, दीर्घादिगुण पाये जाते हैं, क्योंकि स्फोट का स्वरूप प्राकृत ध्वनि से अभिव्यक्त होने के कारण प्राकृत ध्वनि से संसृष्ट रूप में उपलब्ध होता है। जैसे ''**ध्वनिना तु संसृष्टं स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते**''[18] अतः नित्य, निरवयव स्फोट को भी उपचार से मात्राकालिक कह दिया जाता है। प्रकृत ध्वनि के काल का स्फोट पर आरोप हो जाने से ही शब्द में ह्रस्वादि भेदों की सत्ता दृष्ट होती है। जैसे ''**स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु। प्रकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥**''[19]

वैकृत ध्वनियों का प्रभाव स्फोट पर नहीं पड़ता उसका काल भी स्फोट में आरोपित नहीं होता, क्योंकि वह शब्द काल नहीं अपितु ध्वनिकाल है। अनुसरण के कारण शब्दों में नही होते अपितु वृत्तिभेदेन उच्चारणों में भी ''**स एवायम्**'' प्रतीति अखण्ड रहती है, अतः द्रुत मध्यम आदि वृत्तियाँ वैकृति ध्वनि के धर्म है—

''शब्दस्योर्ध्वम-भित्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मातैर्न भिद्यते''॥[20]

प्राकृत व वैकृत ध्वनियों के उक्त स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी भर्तृहरि शब्दाभिव्यक्तिप्रक्रिया के सूक्ष्म विश्लेषण में अन्य आचार्यो को अतिक्रान्त कर गए हैं। दीपिका में भर्तृहरि ने प्राकृतध्वनि के भी दो विभाग प्रतिपादित करते हुए कहा है—

1. जो करणसन्निपात से उत्पन्न होती है। 2. जो उस करणसन्निपातज ध्वनि से उत्पन्न होती हैं। वे दोनों प्रकार की ध्वनियाँ प्राकृत हैं, क्योंकि उनदोनों से विशेष शब्दस्वरूप की उपलब्धि होती है— **यः करणसन्निपातादुत्पद्यते, यश्च तस्मात् तौ प्रकृतौ ताभ्यां विशेषोलब्धिः। यस्तु ध्वनितो ध्वनिरूत्पद्यते स वैकृतः।** ''**ततो विशेषभावात् केवलं तु स एवमुपलब्धों वैकृत इति एष विशेषः**''[21] द्विविध प्राकृत ध्वनियों के स्वरूप के विषय में भर्तृहरि ने दीपिका में स्पष्ट प्रतिपादित किया है। अभिव्यञ्जक ध्वनि के विना स्फोट की उपलब्धि ही नहीं हो सकती तब ''**कृपो रो लः**''[22] में विना ध्वनि के केवल स्फोटमात्र का निर्देश है, यह कैसे कहा जा सकता है? इस विषय के स्पष्टीकरण के अवसर पर भर्तृहरि ने स्फोट की उपलब्धि की हेतुभूत ध्वनियों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है।

आद्यध्वनि यह सूक्ष्म ध्वनि है, जो वर्णरूप को ईषत् प्रकट करती है। प्रतीति इसकी किञ्चित् होती है। पर यह क्या है इसका बोध नहीं होता। ईषद्रूपमात्र की प्रतिपादिका यह सर्वथा शब्दगत विशेषों से विनिर्मुक्त होती है। वर्णगत वैशिष्ट्य जो उसके स्वरूप को पूर्णतः स्फुट करे, उसका बोध इस प्रथम ध्वनि के काल में नहीं होता।

इस दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट किया गया है, कि गो विशेष को दूर से ही ठीक प्रकार से देख सकने के कारण उसके चौपायत्व आयामादि में ऐसी भ्रान्ति होती हो कि यह अश्व है, उसी प्रकार से इस प्रथम ध्वनि के काल में भी वर्णों का स्वरूप स्फुट नहीं होता केवल आभास मात्र होता है कि न तो यह पूर्णतया अभिव्यक्त है, न ही अनभिव्यक्त यह मध्यवर्ती ध्वनि स्वतन्त्र नहीं हैं उभय छोर पर आश्रित यह परतन्त्र ध्वनि है। जैसे दीपिका में वर्णित है- ''**य एवासौ आद्यो ध्वनि-रूपमात्रस्य प्रतिपादकः विद्यमानेऽपि तत्राविशेषे आरूपमात्रं यथा गोविशेषेऽश्वोपलब्धिरारूपमात्रेण वोपलब्धि**''[23]

द्वितीय ध्वनि यह वर्णगत समस्त वैशिष्ट्य विशेषधर्मों की प्रतिपादिका है। यह ध्वनि वही है, जो वर्णादि समुदायों में वर्णादि रूपों में श्रूयमाण

होती है। पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाने के कारण यह स्वतन्त्र है जैसे **''यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः यः समुदायस्थो यः स्वतन्त्र इति''**[24]**।** स्वोपज्ञ वृत्ति में भर्तृहरि के द्वारा इन दो ध्वनियों का उल्लेख 'सूक्ष्मध्वनि' और 'नाद' के नाम से किया गया है। जैसे सूक्ष्म अभ्रसंघात का प्रचय स्थूल अभ्रसंघात को जन्म देता है, उसी तरह सूक्ष्मध्वनि का प्रचय नादात्मक उपलब्ध होकर स्फोट को अभिव्यक्त करता है। जैसे तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करणव्यापारेण प्रतीयमाने **स्थूलेनाभ्रसघातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन तद्विवर्तानुकारेणात्मन्तमविवर्तमानं विवर्तमानमिव गृह्यते''**[25] यह व्याख्यान वाक्यपदीयम् की स्वोपज्ञ वृत्ति में उपलब्ध है।

उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट है कि स्फोट की अभिव्यञ्जिका प्राकृतध्वनि के ये दो भाग क्रमशः व्यक्तनादरहित तथा व्यक्तनादयुक्त हैं।

प्रकृत और वैकृत इन उभयविध ध्वनियों से अभिव्यङ्ग्य स्फोट है, जिसे शब्द का नित्य व अवस्थित अंश कहा गया है- स्फोट का स्वरूप विवादास्पद है अतः गवेषणीय है, कि नित्यस्फोट क्या है तथा स्फोट का यह स्वरूप पतञ्जलि से लेकर भर्तृहरि तक क्या एक ही रहा है या इसके स्वरूप के विषय में परिवर्तन होता रहा है। पाणिनीय सूत्र **''कृपो रो लः''**[26] में आदेश के विषय में ऋकार ग्रहण की आवश्यकता का प्रत्याख्यान करते हुए पतञ्जलि का कथन है कि सूत्र में ऋ के पृथक् ग्रहण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि र ल में उभयतः स्फोटमात्र का निर्देश है, अत एव र श्रुति को ल श्रुति हो जाती है। जैसे **''उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते र श्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति''**[27]। इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि पतञ्जलि के अनुसार जो 'र ल' वर्णात्मक ध्वनियाँ सूत्र में पठित हैं, सूत्रकार को वे अभीष्ट नहीं है अपितु इससे परे कोई ध्वनि व्यतिरिक्त सत्ता स्फोट है, उसी की ओर यहाँ सूत्र में निर्देश किया गया है, दीपिकाकार का भी यही मन्तव्य है जैसे **''अध्वनिकः स्फोटः इत्युक्तं भवति''**[29]**।** परन्तु केवल रूप में स्फोट विना ध्वनि के उपलब्ध नहीं कराया जा सकता, इस कारण उस स्फोट की उपलब्धि कराने मात्र उद्देश्य से सूत्र में र,ल ध्वनियों का ग्रहण किया गया है। वस्तुतः ये ध्वनियाँ ईषद्रूपमात्र की प्रतिपादिका (आद्य प्राकृत ध्वनियों) के रूप में ही समझी जानी चाहिए। र ल इस स्फोट रूप की प्रतिपादिका स्वतन्त्र ध्वनियों के रूप में नहीं, अपितु उभयविध ध्वनियों से परे की सत्ता ही यहाँ ''स्फोट'' पद से उक्त है। 'र' ध्वनि के स्फोट के निर्देश द्वारा रेफ भक्ति रेफांश युक्त ऋ का भी स्वतः ही ग्रहण हो जाता है। जैसे **'ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति एवं तर्हि य एवासौ आद्यो ध्वनि रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः यः समुदायस्थो यः स्वतन्त्र इति नासावाश्रीयते विद्यमानेऽपि तत्राविशेषे आरूपमात्रं यथा गोविशेषेऽश्वोपलब्धिरारूपमात्रेण वोपलब्धि-स्तामादारूपमात्रग्रहणमुभयोः''।**[30] वस्तुतः स्फोट वाक् तत्त्व का वह रूप है जिसमें ध्वनिप्रतिरूप स्वरूप स्फोट शब्द और उसका उपलक्षितार्थ सम्पृक्त होते हुए भी सम्भिन्न अवस्था में जाने जाते हैं। इसलिए स्फोट के साथ उसका अर्थ अनिवार्य रूप से प्रतिबद्ध है। कहा भी गया है कि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के अपृथक् स्थित दो भेद हैं— जैसे वाक्यपदीय में उक्त है **''एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ''**[31]। अखण्ड वर्णसंघात के बुद्धि द्वारा गृहीत होने पर पहले ही बुद्धि में नित्य अवस्थित ध्वनि बिम्ब के आधार पर श्रोता बुद्धि में ही वर्णों के पौर्वापर्य को अवधारित कर अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार वाचक तो नहीं पर अर्थप्रतिबद्ध होने के कारण वाचन में निमित्त अवश्य बना रहता है।

वस्तुतः यदि देखा जाए तो भर्तृहरि व पतञ्जलि के अभिमत बुद्धिस्थ सामान्यात्मक ध्वनिप्रतिरूप स्वरूप वाले स्फोट को मध्यमावाक् से अभिन्न माना जा सकता है। वाणी के प्रकारों की परिचर्या के अवसर पर मध्यमावाक् को परिभाषित करते हुए भर्तृहरि का कथन है, कि वह बुद्धिस्थ है और बुद्धिस्थ होने के कारण अन्तःसन्निवेशिनी है, उसका ग्रहण भी मात्र बुद्धि से ही सम्भव है। बुद्धि के एकत्व और उसके अभेद के कारण मध्यमा वाक् में वस्तुतः क्रम न रहने पर भी क्रम परिग्रह प्रत्यवभासित होता रहता है। जैसे **''मध्यमात्वत्तः संनिवेशिनी परिगृहीतक्रमेण बुद्धिमात्रोपादाना। सा तु सूक्ष्मा प्राणवृत्त्यनुगता''**[32] एवं इस विषय का उल्लेख वाक्यपदीयम् में भी है। जैसे-

परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरीकण्ठदेशगा॥
वैखर्याकृतो नाद परश्रवणगोचरः।
मध्यमा कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥''[33]

भर्तृहरि ने दीपिका के विभिन्न प्रसङ्गों में स्फोट के स्वरूप के विषय जिन मतभेदों का उल्लेख किया है, वे जहाँ भर्तृहरि के काल में वैयाकरणों में अत्यधिक विप्रतिपत्ति को सूचित करते हैं, वहीं भर्तृहरि के स्फोटसम्प्रत्यय के निर्धारक भी सिद्ध होते हैं, दीपिका में उपन्यस्त ये मन्तव्य हैं—

कार्यस्फोटवाद- इस मत में ताल्वादि उच्चारण स्थानों के साथ जिह्वा के संयोग से उत्पन्न अथवा दलद्वय के विभाग से उत्पन्न अथवा संयोग-विभाग या विभाग उभय के द्वारा उत्पन्न प्रथम मूल ध्वनि जो प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है, वह स्फोट है। इस मूल स्फोट शब्द से आगे अनुवर्ती क्षणों में जो अनुसरणन रूप शब्दज शब्द उत्पन्न होते हैं वे ही ध्वनियाँ है **''कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगात् विभागात् संयोगविभागाभ्यां वा निष्पद्यते यत्त्वनुरणनं तत शब्दत एव''**[34] इसी सिद्धान्त को वाक्यपदीयम् में भी कहा गया है, जैसे—

यः संयोगाविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥[35]

अब स्फोट के व्युत्पत्ति पर विचार किया जा रहा है। स्फोट वह है, जिसके आधार पर अर्थविकसित किया जाए, अथवा जिससे अर्थ विकसित व प्रकाशित हो— **''स्फुटति प्रकाशतेऽर्थोऽस्मादिति**

स्फोट या स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोट'' वर्णों के द्वारा स्फुटित या व्यक्त होने के कारण भी स्फोट कहा गया है। **''स्फुट्यते व्यञ्जयते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभित्यङ्गयः''** यह व्युत्पत्ति भी स्फोट को ध्वनिप्रतिरूप लेने से सङ्गत ठहरती है, क्योंकि वक्ता का बुद्धिस्थ यह स्फोट (ध्वनिप्रतिरूप) उसके द्वारा उच्चारित वर्णों से व्यक्त हो जाता है, तथा ये उच्चारित वर्ण श्रोता के बुद्धिस्थ स्फोट को उद्वेलित करते हुए उसे अभव्यक्त कर देते हैं।

भाषाशास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए जो भी प्रयास विविध दार्शनिक सरणियों में तथा स्वयं व्याकरण दर्शन में हुए उस समय चिन्तन में भतृहरि का स्फोट सिद्धान्त जो महाभाष्यकार पतञ्जलि के आधार पर उन्होंने विकसित किया है, वह स्फोट वास्तव में अप्रतिम कहा जा सकता है। मीमांसासूत्रों के शाबर भाष्य ने, न्याय सूत्रों के वात्स्यायन भाष्य ने, योगसूत्र के व्यासभाष्य ने, तथा आद्यबौद्ध दार्शनिकों ने भर्तृहरि से अपनी विचारधारा को पल्लवित व परिष्कृत करने में बहुत सहायता प्राप्त की। भर्तृहरि ने जो व्याकरण शास्त्र में महाभाष्यकार पजञ्जलि द्वारा वर्णित सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया है, वह अतुलनीय है, और उसी प्रतिभाशाली व्याख्यानों को देखकर कैयट ने अपने मङ्गलाचरण में लिखा है—

''तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।
क्रममाण शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत्''।[36]

उपर्युक्त व्याख्यान महाभाष्कार पतञ्जलि, भर्तृहरि, सहित अनेक विद्वानों के व्याख्यानों का अनुशीलन है।

सन्दर्भसूची

1. व्याकरण महाभाष्य आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
2. व्याकरण महाभाष्य आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
3. अठाध्यायीसूत्रपाठ- 1.1.70.
4. महाभाष्य- 1.1.70, आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
5. महाभाष्यवार्तिक संख्या 520 आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
6. व्याकरण महाभाष्य आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
7. व्याकरण महाभाष्य आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
8. महाभाष्यदीपिकाटीका पृ. 48 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
9. व्याकरणमहाभाष्य अइउण् सूत्र में, आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
10. महाभाष्यदीपिका टीका पृ.सं. 49 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
11. व्याकरणशास्त्र की दर्शन भूमिका पृ.सं. 102 आचार्य रामाज्ञापाण्डेय कृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
12. महाभाष्यदीपिकाटीका, पृ.सं. 49 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
13. महाभाष्यदीपिकाटीका, पृ.सं. 31 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
14. महाभाष्यदीपिकाटीका, पृ.सं. 49 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
15. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड 1,17, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
16. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड स्वोपज्ञ वृत्ति 1.76, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
17. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड पर रचित वृषभदेवकृत वृत्ति 1.76, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
18. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड 1.76, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
19. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड 1.76, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
20. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड 1.77, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
21. महाभाष्यदीपिका टीका पृ.सं. 49 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
22. अठाध्यायिसूत्रपाठ- 8.2.18.
23. महाभाष्यदीपिका टीका पृ.सं. 76 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
24. महाभाष्यदीपिका टीका पृ.सं. 76 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
25. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड स्वोपज्ञवृत्ति 1.46, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
26. अठाध्यायिसूत्रपाठ- 8.2.18.
27. व्याकरण महाभाष्य एओङ् सूत्र आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
28. महाभाष्यदीपिका टीका पृ.सं. 76 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
29. महाभाष्यदीपिका टीका पृ.सं. 76 आचार्य भर्तृहरिकृत, सम्पादक श्री वी. स्वामीनाथन्, प्रकाशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् 1965.
30. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
31. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड स्वोपज्ञवृत्ति 2.31, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
32. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड स्वोपज्ञवृत्ति 1.142, आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
33. परमलघुमञ्जुषा, आचार्य नागेशभट्टकृत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
34. व्याकरण महाभाष्य आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.
35. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड आचार्य भर्तृहरिकृत, प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।
36. महाभाष्य प्रदीप टीका का मठलाचरण आचार्य पतञ्जलि प्रणीत, प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्र.स. चतुर्थ सन् 1996.

राजतरङ्गिणीकालीन पूजापद्धति

सुधा श्रीवास्तव एवं प्रो. उमेश प्रसाद सिंह***

राजतरङ्गिणीकार का प्रादुर्भाव कश्मीर की उस अनुपम दिव्य भूमि में हुआ है, जहाँ पर जन्म की कामना देवगण भी करते हैं। भारतवर्ष का स्वर्ग सदृश यह प्रदेश संस्कृत विद्वानों की उर्वर पुण्यस्थली रही है। संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में कश्मीर कवि सदैव से ही अपनी रचनाओं से संस्कृत साहित्य को समृद्ध करते आये हैं, उन्हीं प्रतिभाशाली कवियों की परम्परा में महाकवि कल्हण का नाम अतीव महत्वपूर्ण है। राजतरङ्गिणी ऐतिहासिक महाकाव्यों में सर्वोपरि रचना है। जो आधुनिक ऐतिहासिक रीति से साधनों के पर्यालोचन के आधार पर विद्वान कवि कल्हण द्वारा निर्मित है। राजतरङ्गिणी प्राचीन कश्मीर का एक महनीय इतिहास-ग्रन्थ है। राजतरङ्गिणी कश्मीर के ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि इत्यादि को जानने के लिए एक विश्वकोश है।[1]

राजतरङ्गिणी कश्मीर के चार राजवंशों–मोनन्द, कर्कोट, सातवाहन एवं लोहर वंश के राजाओं का प्रामाणिक इतिहास है। इसमें कवि ने पुरातन कालीन (महाभारत काल) कश्मीर के राजा गोनन्द प्रथम से लेकर 1149 ई0 में कश्मीर पर शासन करने वाले राजा जयसिंह तक का वर्णन किया है।

प्राचीन काल से कश्मीर हिन्दू (वैदिक) धर्म का मुख्य केन्द्र रहा है। इस धर्म को कई नामों से जाना जाता है। जैसे–आर्य धर्म, सनातन धर्म, हिन्दू धर्म, वैदिक धर्म इत्यादि। प्रारम्भ में इस धर्म में यज्ञादि कर्मकाण्डों की प्रधानता थी, किन्तु धीरे-धीरे यज्ञादि कर्मकाण्डों में कमी आयी। नीलमत पुराण में कश्मीर क्षेत्र में होने वाले अनेक वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञ, देवी, देवताओं की पूजा, अर्चना, तीर्थ, व्रत, दान एवं प्रतिग्रह आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[2] कल्हण ने भी राजतरठिणी में इस ग्रन्थ के मतों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है।[3]

कश्मीर में लोग नीलमतपुराण में वर्णित धार्मिक कृत्यों में नागपूजा, नागयात्रा की प्रथा प्रचलित थी।[4] यह परम्परा निर्विघ्न रूप से चलती रही, किन्तु बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव के समय कुछ कमी आयी। प्रारम्भ में बौद्ध, हिन्दू धर्म के प्रबल विरोधी थे। जिसका परिणाम हुआ कि बौद्ध धर्मानुयायी शास्त्रार्थ में पण्डितों को पराजित कर नीलमत विहित मत का उच्छेद कर दिया—

ते वादिनः पराजित्य वादेन निखिलान्बुधान्।
क्रियां नीलपुराणोक्तमच्छिन्दन्नागमद्विषः।।[5]

राजतरङ्गिणी के अनुसार कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण चन्द्रदेव ने इस विनाश को देखकर पुरातन धर्म की रक्षा के लिए तपस्या की और पुनः कश्मीर में इस धर्म का प्रचार-प्रसार होने लगा।[6]

वैदिक धर्म सम्बन्धित अनेक आख्यानों तथा कथाओं के अन्तर्गत शैव एवं वैष्णव मतों का विशेष प्रचार-प्रसार था। शिव एवं विष्णु की पूजा वैदिक रीति से की जाती थी। यज्ञादि का सम्पादन किया जाता था। तदनन्तर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। तत्पश्चात् प्रचुर दान दिया जाता था।[7] गंगाजल को अत्यन्त पवित्र माना जाता था। जो दूरवर्ती तीर्थ-स्थलों से मँगवाया जाता था। इस धर्म के अन्तर्गत आने वाले सम्प्रदाय जो इस प्रकार हैं—

शैव सम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय कश्मीर में अपने विकास के प्रारम्भिक काल से ही विद्यमान था। इसके अन्तर्गत राजतरङ्गिणी के अनुसार सम्राट् अशोक के शासन काल में शिव की पूजा रूढिगत देवता के रूप में होती थी। स्वयं अशोक ने बौद्ध होते हुए भी पुत्र प्राप्ति के लिए भूतेश (शिव) की आराधना की थी—**'तपस्संतोषिताल्लेभे भूतेशात्सुकृती सुतम्'**। अशोक का पुत्र जलौक तथा उसकी पत्नी ईशान देवी शैव धर्म से इतना प्रभावित थे कि उन्होंने बौद्ध धर्म को छोड़कर शैव को स्वीकार किया। राजा जलौक प्रतिदिन प्रसिद्ध तीर्थ स्थल नन्दि क्षेत्र जाकर स्वयं ज्येष्ठेश्वर (शिव) की आराधना किया करता था।[8] कश्मीर में कृष्ण चतुर्दशी के दिन शिव की विशेष पूजा अर्चना होती थी। जिसमें आमोद-प्रमोद के साथ नृत्य-गीत भी किया जाता था।

कश्मीर में शिव के कई नाम थे। जैसे–ज्येष्ठेश, भूतेश, गोकर्णेश्वर, विजयेश्वर, वर्द्धमानेश्वर, अमृतेश्वर आदि।[9] शिव की पूजा मूर्ति एवं लिङ्ग दोनों रूपों में होती थी। कश्मीर के राजा, रावण वटेश्वर नामक शिवलिङ्ग की नित्य पूजा किया करता था।[10] प्रतिदिन सहस्रलिङ्ग बनाकर शिव की पूजा करने की प्रथा थी। कश्मीर के सरोवरों को शिवलिङ्ग के विसर्जन से नमर्दामय हो जाता था।[11] इसके अतिरिक्त राजा सन्धिमान ने विशाल शिव मन्दिर, शिवलिङ्ग एवं अनेक त्रिशूल स्थापित कर कश्मीर देश को पूज्य एवं शिवमय बना दिया—

अकरोत्स महाहर्म्यैर्महालिङ्गैर्महावृषैः।
महात्रिशूलैर्महतीं महामाहेश्वरो महीम्।।[12]

*शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कश्मीर में शिव मन्दिरों पर शिव-रात्रि के अवसर पर उत्सव मनाये जाते थे। लोहरवंशीय शासक उच्चल शिवरात्रि के अवसर पर जनता को अपार धन देता था।[13] इस वंश के अन्तिम शासक जयसिंह ने धार्मिक कार्य हेतु लोगों को प्रोत्साहित करता था एवं तत्त्ववेत्ताओं के साथ शिव पूजन में व्यस्त रहता था। उसने मन्दिरों में समय-समय पर होने वाले व्यय की समुचित व्यवस्था भी की थी।[14]

इस प्रकार कश्मीर में राजाओं द्वारा अनेक शिव मन्दिर बनाने, शिवलिङ्ग एवं प्रतिमा स्थापित करने का निर्देश राजतरङ्गिणी से प्राप्त होता है।

वैष्णव सम्प्रदाय—कश्मीर में शैव सम्प्रदाय के प्रचार के साथ वैष्णव सम्प्रदाय का भी प्रभाव दिखाई देता है। विष्णु की पूजा कश्मीर में अनेक नामों से होती थी। भगवान् विष्णु, केशव, विपुलकेशव, अमृतकेशव, कमलाकेशव, गोपालकेशव, परिहासकेशव आदि नामों से पूजित होते थे।[15] इसके अतिरिक्त विष्णु के लिए असुररिपु, कैटभरिपु, उपेन्द्ररिपु, त्रिविक्रडम जयस्वामी एवं गम्भीर स्वामी आदि नाम भी प्रयुक्त होते थे।[16]

कल्हण ने विष्णु के योगशायी मन्दिर एवं शेषशायी विष्णु का नामोल्लेख किया है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की पूजा धन की अधिष्ठातृ देवी के रूप में होती थी। उन्होंने विष्णु के वाहन गरुड़ का भी निर्देश किया है। विष्णु के दशावतार कश्मीर में प्रचलित था। इन दशावतारों में से राम एवं कृष्ण की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। राम की पूजा राघव एवं कृष्ण की चक्रयुध मधुसूदन आदि नाम से होती थी। उत्पल वंश के शासक अवन्तिवर्मा शिव का उपासक होने के साथ ही विष्णु का भी पूजा किया करता था तथा विष्णु मन्दिर भी बनवाया था।[17] कहा जाता है, राजा अवन्तिवर्मा जीवन के अन्तिम समय श्रीमद्भगवद्गीता सुनते हुए, विष्णु का ध्यान करते हुए अपना शरीर त्याग दिया—

तेनाऽन्ते भगवद्गीताः श्रृण्वता भावितात्मना।
ध्यायता वैष्णवं धाम निरमुच्यत जीवितम्॥[18]

अवन्तिवर्मा का काल वैष्णव धर्म के विकास एवं प्रचार की दृष्टि से कश्मीर के इतिहास में स्वर्ण युग माना जा सकता है। 11वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर में वैष्णव धर्म की अवनति होने लगी।

राजतरङ्गिणी के अनुसार जब राजा हर्ष, परिहास केशव की मूर्ति को नष्ट कर रहा था, उसी समय जङ्गली कबूतर के पंख के समान धूसरवर्ण धूल उड़ने लगी और वह तब तक उड़ती रही जब तक हर्ष का सिर कट नहीं गया—

तस्मिन् विघटिते पांसु कपोतच्छदधूसरः।
रोदसीच्छादनं हर्षशीर्षच्छेदावधि व्यधात्॥[19]

हर्ष के मृत्यु के बाद राजा उच्चल ने चक्रधर, युगेश एवं परिहास केशव की मूर्ति स्थापित करायी। इनके समय में पुनः उत्सवों एवं त्योहारों का आयोजन होने लगा।

शाक्त सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत शक्ति की पूजा होती थी। शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी पार्वती हैं। धीरे-धीरे उनका तान्त्रिक एवं दार्शनिक विकास हुआ और वह भरणा काली, सिद्धवाहिनी दुर्गा बन गयी। शाक्त पुराणों में शक्ति की पूजा दो रूपों में बतायी गयी है। दुर्गा, कात्यायनी, काली, कपाली, भवानी, चण्डी, चण्डिका, भैरवी, वैरोचनी, कामेश्वरी आदि देवी की तामसिक प्रवृत्ति (उग्र) के एवं उमा, गौरी, शिवा, कन्याकुमारी आदि उनके सौम्य रूप के माने जाते हैं। मार्कण्डेयपुराण[20], देवीभागवतपुराण[21] एवं वायुपुराण[22] में देवी शक्ति को सर्वोपरि बताया गया है।

कश्मीर के निवासी अधिकांशतया शैव धर्म के अनुयायी थे, इसलिए शिव से सम्बन्धित शक्ति की पूजा प्रारम्भिक काल से ही प्रचलित थी। कल्हण ने स्वयं अर्धनारीश्वर की वन्दना की है। कश्मीर में शक्ति की उपासना सौम्य एवं उग्र दोनों रूपों में होती थी। साम्य रूप में गौरी, पार्वती, अम्रोघदर्शना, भगवती एवं चौसठ योगिनियों तथा उग्र रूप में विन्ध्यवासिनी, भ्रमरवासिनी, चामुण्डा, काली एवं दुर्गा आदि देवियों की पूजा की जाती थी। राजतरङ्गिणी में भीमादेवी दुर्गा का उल्लेख है। कल्हण ने दुर्गा के साथ उनके भक्तों द्वारा की जाने वाली उपासना एवं पढ़े जाने वाले मन्त्रों का निर्देश किया है। अनेक रानियों ने मातृचक्रों की स्थापना की थी।[23]

वामाचार के अन्तर्गत देवी के उग्र रूप की पूजा होती थी, जिसमें तान्त्रिक विधियों जैसे–मद्यपान, मांस आदि के साथ बलि जैसे कृत्यों का प्रचार था तथा दुर्गोत्तारिणी विद्या का पाठ किया जाता था। राजतरङ्गिणी में अनेक स्थानों पर देवी के सम्मुख बलि का उल्लेख मिलता है। चण्डिका पतन में देवी के सम्मुख बलि दी गई थी।[24] ये सभी विवरण में प्रचलित शक्तिपूजा को सम्पुष्ट करते हैं।

अन्य देवी देवता—कश्मीर में शिव, विष्णु एवं शक्ति पूजा के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा होती थी। राजतरङ्गिणी में अन्य देवताओं में–सूर्य, गणेश एवं देवियों में–सरस्वती एवं लक्ष्मी जी की पूजा का उल्लेख मिलता है। राजतरङ्गिणी में सर्वप्रथम सूर्य की उपासना राजा रणादित्य के प्रसङ्ग में मिलता है। उसने कश्मीर में सूर्य का मार्तण्ड मन्दिर बनवाया था। राजा कलश के वर्णन प्रसङ्ग में 'ताम्रस्वामी' मन्द्रिर का उल्लेख प्राप्त है। इस मन्दिर में ताँबे की भगवान सूर्य की प्रतिमा थी। गणेश जी की पूजा भी कश्मीर में प्रचलित थी। लम्बोदर, सिद्धि विनायक एवं गजानन आदि नामों से इनकी आराधना की जाती थी। देवी सरस्वती की उपासना भेदा देवी के नाम से किया जाता था। इनका नाम शारदा भी था। राजतरठिणी में सरस्वती के राजहंस रूप का उल्लेख मिलता है।[25] 'भेदा' देवी के विषय में कहा जाता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी तथा नवमी को

पूजा प्राप्त कर देवी ने यहाँ अपनी छः प्रकृतियों का वर्णन किया। प्रकृति के भेद वर्णन के कारण देवी का एक नाम 'भेद' पड़ गया। राजतरङ्गिणी में सरस्वती से सम्बन्धित मन्दिर का उल्लेख नहीं मिलता है।

इसके अलावा भी धार्मिक क्रिया-कलाप के अन्तर्गत अनेक धार्मिक उत्सवों का आयोजन किया जाता था। यज्ञ महोत्सव, महीमानोत्सव, वराहोत्सव आदि सम्पन्न किये जाते थे। महीमानोत्सव फाल्गुन शुक्ल अष्टमी, नवमी तथा दशमी को मनाया जाता था। अष्टमी को सीता की पूजा तथा नवमी को लक्ष्मी (करीपणी) की पूजा की जाती थी। दशमी को भोज का आयोजन होता था, जिसमें ब्राह्मण एवं मित्रों को आमन्त्रित किया जाता था। मासिक पूजा, इन्द्रपूजा एवं कुम्भ प्रतिष्ठा की जाती थी। इस अवसर पर वराह क्षेत्र की यात्रा की जाती थी तथा धनादि का दान किया जाता था। आषाढ़ पूर्णिमा के अवसर पर नन्दि क्षेत्र में अनेक उत्सव मनाये जाते थे। देव समापन पूजा आषाढ़ माह के अन्तिम दिनों में होती थी। शिवरात्रि एवं तिलद्वादशी के दिन भी उत्सव मनाये जाते थे। तिलद्वादशी, माघ कृष्ण द्वादशी को मनाया जाता था तथा तिल से पूजा होती थी।[26]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कश्मीर में प्रारम्भ से लेकर 12वीं शताब्दी तक किसी एक धर्म का या सम्प्रदाय का वर्चस्व नहीं था। सभी धर्म समान रूप से विद्यमान रहे।

सन्दर्भ-सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास–आचार्य बलदेव उपाध्याय
2. नीलमतपुराण (नी.म.पु.)–भूमिका पृ. 5-6 (वेदकुमारीघई)
3. राजतरङ्गिणी (रा.त.)–1/4, 16, 22, 28
4. रा.त.–1/220
5. रा.त.–1/178
6. रा.त.–1/183
7. रा.त.–8/244
8. रा.त.–1/113
9. रा.त.–1/133, 131, 346, 47, 2/123
10. रा.त.–1/194
11. रा.त.–2/131
12. रा.त.–2/133
13. रा.त.–8/70
14. रा.त.–8/2387
15. रा.त.–1/38, 4/183, 508, 208, 659, 5/244
16. रा.त.–3/215, 474, 350-51, 4/80, 5/249, 8/79
17. रा.त.–5/100, 4/508, 6/139, 5/5, 7/215, 4/52, 199, 3/473, 1/69, 7/255, 1/71, 5/43
18. रा.त.–5/125
19. रा.त.–7/1347
20. मार्कण्डेयपुराण, 37/83
21. देवी भागवतपुराण, 5/98, 99
22. वायुपुराण, 30/164
23. रा.त.–1/2, 3/46, 2/135, 3/83, 8/106, 1/122, 358
24. रा.त.–7/699, 3/33
25. रा.त.–3/462, 7/699, 1/35, 1/35
26. रा.त.–7/2682, 8/2072, 8/2425, 8/169, 8/282, 495, 5/395

●

विज्ञापनों में धार्मिक चित्रों का प्रयोग एवं उनका भविष्य

आशीष कुमार गुप्ता एवं प्रो. हीरालाल प्रजापति***

भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है, इसका प्रमाण सिन्धु सभ्यता से प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट हो जाता है। मातृ-देवी एवं अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियाँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारतवर्ष का इतिहास धार्मिक, पौराणिक एवं देवी-देवताओं की कथाओं से भरा पड़ा है। देवी-देवताओं की पौराणिक कथाएँ एवं घटनाएँ जीवन में एक आदर्श स्थापित करती चली आ रही है। सभी धर्मों से सहिष्णुता, भाई-चारा, सर्वधर्म समभाव ने अनेकता में एकता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है, किन्तु समय के साथ-साथ विचारधाराओं में बदलाव आता रहा है। जैसे-जैसे हम प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, वैसे-वैसे हमारी विभिन्न मान्यताएँ और विश्वास की भावनाएँ भी बदलती जा रही हैं। हम यहाँ विज्ञापन के परिदृश्य में केन्द्रित विचार करते हैं कि किस प्रकार विपणन एवं विज्ञापन में ईश्वर के रूपों का प्रयोग कर उसकी श्रद्धा को उत्पाद के प्रति श्रद्धा में बदलने का प्रयास, विज्ञापन के माध्यम से किया जाने लगा। इसका प्रमाण हमें वर्तमान में ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक पन्नों में भी देखने को मिलता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पादों में हुई बेतहाशा वृद्धि से एक ओर बाजारवाद को बढ़ावा मिला तथा दूसरी ओर व्यापार एवं बाजारवाद को बढ़ावा देने वाले विज्ञापनों ने इसे फलने-फूलने का और अवसर प्रदान किया। ऐसी स्थिति में व्यापारिक विस्तार देने में देवी-देवताओं को भी बाजारीकरण का हिस्सा बना लिया गया। मनोवैज्ञानिक पहलुओं को भुनाने की दृष्टि से देवी-देवताओं की छवि विज्ञापनों में मुद्रित कर उत्पाद के प्रति श्रद्धा एवं बिक्री को बढ़ाने का सरल हथकण्डा अपनाया जाने लगा।

आज हम एक ऐसी उपभोक्तावादी दुनिया में है, जहाँ चारों तरफ विज्ञापन ही विज्ञापन हैं। यदि गौर करें तो देखते हैं कि औद्योगीकरण की शुरुआत से विज्ञापनों ने विभिन्न उत्पादों के बाजार को फैलाने और एक नयी उपभोक्ता संस्कृति रचने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जब विदेशी उद्योगपतियों ने अपने उत्पादों को भारत में बेचना शुरू किया तो बंडलों (पैकिंग) पर पहचान के लिए पर्ची (लेबल) लगाते थे। लेबल का फायदा यह होता था कि खरीदारों को कम्पनी का नाम व उत्पाद की जगह पता चल जाती थी। जब उत्पादों पर लेबल लगा होता था तो खरीददारों को उत्पाद खरीदने में किसी प्रकार का डर नहीं रहता था। उत्पादों की उचित पहचान के साथ बेहिचक उत्पादों को खरीद लिया करते थे। इन लेबलों पर सिर्फ शब्द और अक्षर ही नहीं होते थे, बल्कि उन पर आकर्षक तस्वीरें भी बनी होती थीं। उन लेबलों को देखकर उस उत्पाद के निर्माताओं की सोच, उनके हिसाब-किताब और लोगों के मनोभावों को समझ कर उन्हें आकर्षित करने का अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता था। विदेशी उपनिवेशवाद ने भारतीय मानसिकता को भुनाने के उद्देश्य से धार्मिक देवी-देवताओं को विज्ञापनों, विशेष कर लेबल डिजाइन के रूप में प्रयोग किया। यह ऐसे काल की बात है, जब भारतवर्ष में मुद्रण का प्रारम्भ मात्र हुआ था और इन पर बने चित्रों को कौतूहलता के साथ देखा जाता था। यहाँ हम ऐसी ही कुछ उत्पादों के लेबल का उल्लेख करना चाहेंगे, जो तत्कालीन मूल्यों को प्रतिपादित करते हैं तथा व्यापारिक उत्पादों के लिए अति लाभकारी सिद्ध हो रहे थे।

धार्मिक चित्रों का सम्प्रेषण में प्रयोग

विदेशी उत्पादों को भारत में आसानी से बेचने के लिए विदेशी उत्पादनकर्त्ताओं ने एक आसान तरकीब सोच निकाली और उन्होंने उत्पाद के लेबलों पर धार्मिक देवी-देवताओं के विभिन्न चित्रों को छापकर बाजार में उतारना शुरू किया। ऐसे में विज्ञापन एवं लेबलों पर चित्रण का फायदा यह होता था कि विदेशी उत्पाद होते हुए भी भारतीयों को जाने-पहचाने व स्वदेशी लगते थे, जिससे वे उन उत्पादों को निःसंकोच खरीद लेते थे, क्योंकि इन चित्रों से उनका भावनात्मक लगाव होता था। इस प्रकार सर्वप्रथम विदेशी उत्पादों के विज्ञापन में भारतीय धार्मिक चित्रों का प्रयोग बहुलता से और भी अन्य उत्पादों के लिए किया जाने लगा। देवी-देवताओं की तस्वीर के बहाने निर्माता ये दिखाने की कोशिश करते थे कि ईश्वर भी चाहता है कि लोग उस उत्पाद को खरीदें। ''ऐसे ही एक लेबल में एक देवी, अहमदाबाद के मिल में बना कपड़ा दान कर रही हैं और लोगों से भारत में बने कपड़े का इस्तेमाल करने का आह्वान कर रही हैं।'' (चित्र सं. 1) सनलाइट साबुन के एक कैलेण्डर 1934 में भगवान विष्णु को गरुड़ के साथ सनलाइट साबुन के साथ विज्ञापन में प्रकाशित होते दिखाया गया है। (चित्र सं. 2) ऐसे ही एक और कैलेण्डर 1928 जिसमें बालकृष्ण के चित्र का प्रयोग किया गया है। उस समय बच्चों से सम्बन्धित वस्तु का प्रचार व विज्ञापन के लिए बालकृष्ण की छवि काफी लोकप्रिय थी और अधिकता से प्रयोग की जाती थी। (चित्र सं. 3) यूरोपियन प्रभावों से युक्त 1910 का ग्रामोफोन कम्पनी

*शोध छात्र, व्यावहारिक कला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, व्यावहारिक कला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चित्र सं. 1. भारत में बने कपड़े का लेबल

चित्र सं. 2. सनलाइट साबुन का विज्ञापन

चित्र सं. 3. ग्राइपवाटर का विज्ञापन

का पोस्टर, जिसमें भारतीय परिवेश में स्त्री, पुरुष साधु-सन्तों को ग्रामोफोन सुनते दिखाया गया है, साथ-साथ भारतीय देवी-देवताओं, सरस्वती, विष्णु, शिव-पार्वती, गणेश आदि देवी-देवताओं का चित्रण भी आकाश में किया गया है। इस सम्पूर्ण विज्ञापन में ग्रामोफोन केन्द्र बिन्दु में है, जिसे सुनते हुए देवताओं के साथ-साथ स्त्री-पुरुषों को दिखाया गया है। यह पोस्टर काफी रोचक है। (चित्र सं. 4) भारतीय उद्योगपतियों ने भी अपने उत्पादों पर भारतीय देवी-देवताओं के चित्रों को स्वदेशी के साथ जोड़कर बाजार में अपने उत्पादों को उतारना शुरू किया, शायद उन्हें भी विदेशी उद्योगपतियों की नीति समझ में आ गयी थी। इन नीति का फायदा भारतीय उद्योगपतियों ने भी उठाया।

चित्र सं. 4. ग्रामोफोन का विज्ञापन

भारत में धार्मिक छवि वाले विज्ञापनों का सूत्रपात

19वीं सदी में भारत में पौराणिक विषय-वस्तु से निर्मित दृश्यों से सम्प्रेषण के प्रभावों से अवगत हो चुके थे। देवी-देवताओं व पौराणिक कथाओं पर आधारित चित्रों को मुद्रित करने में मुद्रण व्यवसाय का रुझान उल्लेखनीय है। लाखों की संख्या में कम लागत पर चित्र मुद्रित किये जा रहे थे। चित्रों का सस्ता मुद्रण जल्द ही उस समय के भारतीय समाज के दृश्य सम्प्रेषण का प्रभावशाली माध्यम बन गया था। इन चित्रों को केवल धार्मिक चित्रों के रूप में नहीं समझा गया, बल्कि जल्द ही ये उत्पादों और सेवाओं के विज्ञापन का माध्यम बन गये थे। (चित्र सं. 5) इन चित्रों का प्रकाशन लिथोग्राफी प्रक्रिया द्वारा किया जाता था। प्रारम्भ से ही लिथोग्राफी प्रक्रिया का प्रचार हेतु चित्रों की छपाई के लिए प्रयोग होने लगा था। सन् 1920 ई0 में बंगाली स्वामित्व की सर्वप्रथम लिथो प्रेस कलकत्ता में (शुरा पथुरिया) प्रेस के नाम से स्थापित हुआ, जिसने विशेषकर हिन्दू देवी-देवताओं की आकृतियों को छापना प्रारम्भ किया। कलकत्ता में 1880 ई0 तक रंगीन लिथोग्राफी

चित्र सं. 5. पौराणिक कथाओं पर आधारित विज्ञापन

अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थी और रंगमंच के बड़े-बड़े पोस्टर भी लिथोग्राफी प्रक्रिया द्वारा छपने लगे थे।

कला एवं सम्प्रेषण की दुनिया में राजा रवि वर्मा का योगदान

राजा रवि वर्मा (1848) यूरोपीय उपनिवेशवाद के साथ यूरोपीय कलाकारों की कृतियों से अत्यधिक प्रभावित दिखते हैं, जिसे उन्होंने अपने भारतीय कथानकों को चित्र रूप में अंकित किया। यही कारण था कि धार्मिक और सामाजिक उद्देश्यों को अधिकाधिक भारतीय आम जनता तक पहुँचाने में प्रमुख योगदान भारतीय कलाकार राजा रवि वर्मा को जाता है। प्रारम्भ में रवि वर्मा द्वारा बनाये गये चित्रों और उनके द्वारा स्थापित लिथोग्राफी प्रेस ने इस कला के पथ-प्रदर्शक का कार्य किया था। रवि वर्मा ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक सन् 1893 में अपनी एक लिथोग्राफी प्रेस जर्मनी से आयात कर घाटकोपर (मुम्बई) में स्थापित की। इस प्रेस से वे अपने तैलचित्रों को आलियोग्राफ करते थे। अपने तैलचित्रों की लोकप्रियता और बढ़ते प्रशंसकों से प्रेरित होकर ही रवि वर्मा ने इस प्रेस की स्थापना की थी। अधिक संख्या में प्रकाशित किये गये सस्ते चित्र (Icon) उस समय भारत में धार्मिक और लौकिक चित्रात्मक सौन्दर्य के लिए एक प्रतिमान रूप में हुआ करते थे। यद्यपि इस प्रकार के लाखों चित्रों का मुद्रण प्रारम्भिक प्रेस में किया जाता था। कम मूल्य और आसान उपलब्धता ने जल्द ही इनकी प्रारम्भिक प्रतिष्ठा को कम कर दिया और मुद्रित चित्रों की कला के रूप में प्राप्त छवि खत्म हो गई। लेकिन इन चित्रों ने लोकप्रिय स्वीकृति प्रदान कर ली और उपभोक्ता वस्तु का रूप धारण कर लिया था, तथा विभिन्न उत्पाद जैसे- माचिस, चाय, तम्बाकू, कपड़े, हैण्डलूम, धूम्रपान उत्पादों आदि पर पहचान के तौर पर इन चित्रों का प्रयोग तेजी से किया जाने लगा था। (चित्र सं. 06) इनका निर्माण आलियोग्राफी पद्धति द्वारा किया जा रहा था।

चित्र सं. 6. पौराणिक कथाओं पर आधारित विज्ञापन

इन चित्रों की विषय-वस्तु देवी-देवताओं के अतिरिक्त वीर कथाओं के नायक-नायिकाओं, राजा-महाराजा हुआ करते थे। महाभारत एवं रामायण की कथा के विषय से सम्बन्धित चित्रों का प्रयोग लेबल एवं विज्ञापन के तौर पर प्रमुखता से किया जाता था।

कैलेण्डर और धार्मिक चित्रों का प्रयोग

विक्रय संवर्धन हेतु उत्पादों के निर्माता एवं विक्रेता कैलेण्डर का बहुतायक से प्रयोग करते आ रहे हैं। जहाँ देवी-देवताओं की तस्वीरों को प्रमुखता से छापा जाता था। इसका प्रमुख कारण यह था कि अखबारों और पत्रिकाओं को तो सिर्फ पढ़े-लिखे ऊँचे वर्ग के लोग ही समझ सकते थे। लेकिन कैलेण्डर उन्हें भी समझ में आता था, जो पढ़े-लिखे नहीं थे। उस समय भारत की अधिकतर जनसंख्या अशिक्षित थी। धार्मिक चित्रों के प्रयोग के कारण ये कैलेण्डर हर भारतीय के घर में पहुँच चुके थे, क्योंकि धार्मिक भावना से जुड़े होने के कारण दुकानों, दफ्तरों, घर में इन्हें प्रमुख स्थान मिल जाता था। (चित्र सं. 07) इस प्रकार उपभोक्ता कई सालों तक कैलेण्डर (वर्ष समाप्ति के उपरान्त भी) के साथ उन उत्पादों के विज्ञापनों को भी देखते थे और उत्पाद की छवि उनके मस्तिष्क में आसानी से बनी रहती थी तथा उन उत्पादों से उनका खासा अपनापन व लगाव हो जाता था।

माचिस के डिब्बों पर लेबल

माचिस एक ऐसा उत्पाद था, जहाँ धार्मिक चित्रों एवं विज्ञापन का प्रयोग प्रमुखता से किया जाता था। भारतीय पौराणिक विषय वस्तु आधारित इन लेबलों की डिजाइन तो भारत में होती थी, लेकिन ये अधिकतर विदेशों से, जैसे स्वीडन, आस्ट्रिया, जापान आदि से मुद्रित किये जाते थे। (चित्र सं.-8)

सर्वप्रथम स्वीडन ने 1947 से पहले राधाकृष्ण की तस्वीर के लेबल वाली माचिस निकाली थी। 1917 से पहले भारत में माचिस स्वीडन से ही आयात होती थी। उस समय स्वीडन, जापान और आस्ट्रिया से माचिस मँगवाते थे, जिनमें से अधिकतर लेबलों पर हिन्दू पौराणिक कथाओं से सम्बन्धित चित्रों का इस्तेमाल किया जाता था। जिसमें प्रमुखता से राधा-कृष्ण, कृष्ण संग गोपियाँ, मीरा, दुर्गा, काली, शिव, विष्णु, गणेश, ब्रह्मा, गुरुनानक साहब, शकुंतला-दुष्यन्त, लैला-मजनूँ आदि का चित्रण प्रमुखता से देखने को मिलता है।

धार्मिक चित्रों की दुनियाँ एवं वर्तमान विज्ञापन जगत

जड़ स्थिर पुराने विश्वासों के साथ छेड़खानी करके नये उपभोक्ता पैदा करने की एक रणनीति के तहत् आज कम्पनियाँ विज्ञापनों द्वारा छेड़छाड़, भड़काकर, तथा बार-बार प्रचारित कर अपने ब्राण्ड को स्थापित करने के होड़ में लगी हुई हैं। वे प्रायः भावनात्मक छेड़छाड़ करके उपभोक्ताओं का ध्यान अपने उत्पादों की ओर आकर्षित कर उनके

चित्र सं. 7. धार्मिक चित्रों के कैलेण्डर

चित्र सं. 8. धार्मिक चित्र वाला लेबल

मन में जबरदस्ती जगह बनाने का प्रयास करते हैं, जिससे इसकी तीखी प्रतिक्रियाएँ भी होती है। इस प्रतिक्रिया का अनुपात ही उस ब्राण्ड की स्मृति मूल्य (रिकाल वैल्यू) और उससे प्रेरित उपभोक्ता बाजार का भविष्य तय करता है। ऐसा मानना है, हिन्दी के समालोचक एवं मीडिया विशेषज्ञ सुधीश पचौरी का। उदाहरण के तौर पर आस्ट्रेलिया की जूता बनाने वाली एक कम्पनी ने जूतों और चप्पलों के ऊपर हिन्दू देवी-देवताओं के बने चित्रों के साथ बाजार में उतारा (चित्र सं. 09) वहाँ की हिन्दू जनता ने इसका जमकर विरोध किया तो उत्पाद को बाजार से हटाना पड़ा, लेकिन ब्राण्ड को प्रसिद्धि मिल गयी। अक्सर विज्ञापनों में कभी ईसाई तो कभी इस्लामी एवं हिन्दू भावनाओं को ब्राण्ड विज्ञापन के जरिए ठोस पहुँचाई जाती है। हल्ला होता है और विज्ञापन वापस ले लिये जाते हैं। विज्ञापन और ब्राण्ड की दुनियाँ में यह छेड़छाड़ फायदेमंद होती है। इससें कौतूहल-जिज्ञासा और ब्राण्ड की प्रभावशीलता तय होती है।

अमेरिका की एक प्रसिद्ध अण्डरगारमेण्ट्स बनाने वाली कम्पनी ने अण्डरगारमेण्ट्स पर हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र छाप दिये, काफी हंगामा के पश्चात् इसे प्रतिबन्धित कर दिया गया । (चित्र सं. 10) जाहिर है। ब्राण्ड का नया बजार तैयार हो गया और ब्राण्ड की रिकाल वैल्यू भी बढ़ गई। दरअसल ब्राण्ड की रिकाल वैल्यू स्मरणीयता की क्षमता में होती है। इस तरह के विज्ञापन सांस्कृतिक व धार्मिक उपद्रव करके अपने ब्राण्ड की याददाश्त (रिकाल वैल्यू) बढ़ाते हैं। ऐसे कई उत्पादों के उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं, जो अपने विज्ञापन में धार्मिक चित्रों का प्रयोग करते हैं और वे सभी ब्राण्ड आज प्रसिद्ध है। उदाहरण (चित्र सं. 11) यह SANYO ब्राण्ड के टी.वी. का विज्ञापन

चित्र सं. 9. जूते पर हिन्दू देवी का चित्र

चित्र सं. 10. कपड़े पर हिन्दू देवी का छपा चित्र

चित्र सं. 11. अर्द्धनारीश्वर का चित्र

पोस्टर है, जिसमें अर्द्धनारीश्वर के चित्र का प्रयोग किया गया है और पोस्टर की हेडलाइन है (One Screen, Two Channels) यानि एक ही टी.वी. स्क्रीन में ले दो चैनलों का मजा, वो भी एक साथ। यह कैसा विज्ञापन है, जिसमें ईश्वर के रूप की कल्पना चैनल से की गयी है। ऐसा ही एक प्रसिद्ध ब्राण्ड है ''बर्गर किंग'' जिसने स्पेन में 2009 में बर्गर के पोस्टर में हिन्दू देवी ''लक्ष्मी'' का चित्र बर्गर के साथ छापा और शीर्षक दिया गया "La Meriendaes Sagrada" मतलब "The Snack's is Sacred" यह बर्गर पवित्र है। यह सोचने वाली बात है कि लक्ष्मी का बर्गर और बर्गर का पवित्रता से क्या सम्बन्ध है। (चित्र सं. 12) इसी तरह ''बिग बाजार'' के इस विज्ञापन में ''वुमन डे'' के उपलक्ष्य में डिस्काउण्ट-सेल (Only for Women) के विज्ञापन में हिन्दू देवी दुर्गा को सेल में खरीददारी करने गये हुए दिखाया गया है। पोस्टर में सिर्फ शेर को दिखाया गया है, क्योंकि स्कीम (Only for Women) के लिए है। यह विज्यूलाईजर की सृजनात्मक सोच है या विकृति इसका पता लगाना मुश्किल है। (चित्र सं. 13) भारतीय क्रिकेट के कप्तान महेन्द्र सिंह धोनी को इंडिया टुडे की कवर पर विष्णु अवतार के रूप में दिखाया गया है, यानि धोनी की तुलना भगवान विष्णु से की गई है। क्योंकि वे क्रिकेट के इतिहास में सबसे सफल कप्तान रहे हैं, जिन्होंने टेस्ट, वन डे, टी-20, वर्ल्ड कप में जीत हासिल की है और उनका विज्ञापन का कारोबार भी कम नहीं है, इसलिए उनकी पूजा करने को कहा गया है और कवर की सब हेडलाइन में साफ-साफ लिखा है कि ''कप्तान को करें सलाम''। (चित्र सं. 14) इसके पहले दशावतार रूप में सचिन को भी दिखाकर उनकी पूजा करने की बात की गई थी।

निष्कर्ष

विज्ञापन आज हमारे समाज में महत्वपूर्ण भूमिका है और हमारा समाज प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से इससे प्रभावित होता है। विज्ञापन

चित्र सं. 12. बर्गर का विज्ञापन

चित्र सं. 13. बिग बाजार का विज्ञापन पोस्टर

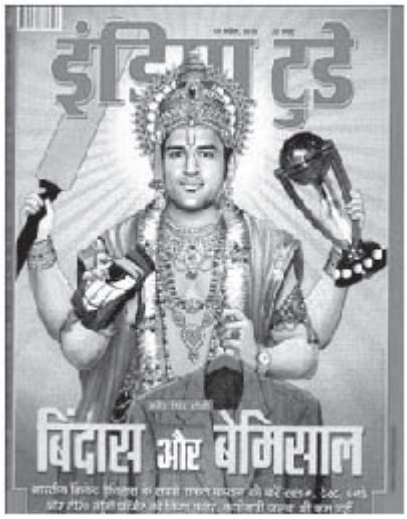

चित्र सं. 14. इंडिया टुडे का कवर पेज

का प्रभाव सकारात्मक हो अथवा नकारात्मक, उसका प्रभाव पूरे समाज पर पड़ता हैं। जहाँ तक विज्ञापन में धार्मिक चित्रों के प्रयोग की बात है हमने देखा की धार्मिक चित्रों का प्रयोग पहले भी किया जाता रहा है और आज भी हो रहा हैं। लेकिन दोनों समय के विज्ञापन उद्देश्यों में काफी भिन्नताएँ है। पुराने विज्ञापनों में धार्मिक चित्रों का प्रयोग समाज की मानसिकता को, उसके प्रभाव को ध्यान में रखकर किया जाता था। वे विज्ञापन अभद्र नहीं होते थे और न ही व्यक्ति अथवा समाज की आस्था को ठेस पहुँचाने वाले होते थे किन्तु वर्तमान में जिन विज्ञापनों में धार्मिक चित्रों का प्रयोग हो रहा है, उसे देखकर ऐसा लगता है कि उनका उद्देश्य ही समाज अथवा व्यक्ति के भावनाओं एवं उनकी आस्था को ठेस पहुँचाना है।

आज वर्तमान में ऐसे हजारों विज्ञापन हमें देखने को मिलते हैं, जिनमें धार्मिक चित्रों को विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बार-बार ऐसे विज्ञापनों को देखते-देखते आज के उपभोक्ता इसके इतने अभ्यस्थ हो गये हैं कि अक्सर ऐसे विज्ञापनों पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, लेकिन उपभोक्ता को अपनी विकृत सोच से बाहर निकलकर यह सोचना होगा कि ये हमारी संस्कृति का अपमान तो नहीं है? और हम किस दिशा की ओर उन्मुख हैं और इसका क्या भविष्य होगा?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चतर्वेदी, जगदीश्वर, सिंह, सुधा; डिजिटल युग में माल कल्चर और विज्ञापन, दिल्ली, 2010.
2. डॉ. कुमार, सुनील; भारतीय छापाचित्र कला (आदि से आधुनिक काल तक), दिल्ली 2000.
3. डॉ. सेठी, रेखा; विज्ञापन डॉट कॉम, दिल्ली, 2012.
4. मालवीय, कृष्ण कुमार; आधुनिक विज्ञापन, इलाहाबाद, 2007.
5. यादव, नरेन्द्र सिंह; ग्राफिक डिजाइन, जयपुर, 2006.
6. अहा! जिंदगी; प्रेम महाविशेषांक, दिल्ली, 2013.
7. Mitter Partha; Art and Nationalism in Colonial India (1850-1922), Cambridge University Press.

Websites

1. http://www.britishmuseum.org
2. http://www.news.lib.uchicasgo.edu
3. http://www.hinduism.about.com
4. http://www.timesofindia.com

●

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी आलोचना

प्रो. सुमन जैन एवं अवनीश कुमार मिश्र***

हिन्दी साहित्य में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी गद्य एवं पद्य दोनों का संतुलित विकास करने वाले युग पुरूष हैं। उन्होंने भाषा और साहित्य के उत्थान में चिरस्मरणीय योगदान दिया है। वे एक साथ ही कवि, आलोचक, निबंधकार, अनुवादक तथा सम्पादकाचार्य थे। आचार्य द्विवेदी के प्रयत्नों से हिन्दी में जीवनी, यात्रा वृतान्त, कहानी, उपन्यास, समालोचना, व्याकरण कोष, अर्थशास्त्र, पुरातत्व विज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन तथा धर्म आदि विविध विषयों का समावेश हुआ। उनकी विलक्षण योग्यता, कार्यकुशलता और साहित्य सेवाओं से प्रभावित होकर नागरी प्रचारिणी सभा ने 'आचार्य' की पदवी से तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'विद्या वाचस्पति' की पदवी से विभूषित किया। हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार अज्ञेय ने आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कहा है कि, ''द्विवेदी युग का नाम उस युग के प्रमुख रचनाकार पर न होकर संपादक के नाम पर हो, इसमें एक संगति है। वास्तव में, यह युग संपादक का युग था। हिन्दी साहित्य वाचिक परंपरा से बाहर निकलकर छपाई के 'आधुनिक' घेरे में आ गया था। गद्य का परिनिष्ठित विकास, इतिहास बोध की प्रबलता, वाचन, श्रवण के बदले पठन-मनन की परंपरा में प्रवेश आधुनिकता की ओर संक्रमण का यही दौर था। भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को आधुनिक में प्रवेश दिलाने के साथ प्रतिष्ठित किया। उनकी महिमा के आधार पर यह नामकरण गलत नहीं है।''[1]

समालोचना के वास्तविक रूप के दर्शन हमें आधुनिक काल में होते हैं। गद्य की अन्य विधाओं के समान वर्तमान हिन्दी समालोचना भी बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य एवं आधुनिक काल की देन है। उपन्यास, कहानी, निबंध आदि के विवेचन एवं मूल्यांकन के लिए प्रतिमानों की आवश्यकता थी। इसीलिए हिन्दी समीक्षा अथवा आलोचना का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु युग में कई साहित्यिक विधाओं का नवीनीकरण हुआ। जिनमें से एक आलोचना विधा भी थी। आलोचना की उत्पत्ति लुच धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'देखना।' हिन्दी आलोचना का प्रारंभ रीतिकाल से थोड़ा पहले प्रारंभ होता है। रीतिकाल का रीतिबद्ध साहित्य रीतिवादी आलोचना से प्रभावित है और लक्षणों के उदाहरण रूप में रचा गया है। रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों का आधार संस्कृत का काव्यशास्त्र है। उनमें सामाजिकता का नितांत अभाव था। इस दिशा में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष योगदान रहा। यह वस्तुतः आलोचना का उद्‌भव काल था। इस युग के प्रमुख समीक्षक हैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, बालमुकुंद गुप्त, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि। साहित्य में इस काल को 'भारतेन्दु युग' के नाम से जाना जाता है। ''भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आँखें खुली और यह आभासित हुआ कि रस किसी छंद में नहीं है, वह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक- नायिका कविजी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं, प्रगतिशील संसार की नानाविधि परिस्थितियों और सुख-दुःख की तरंगों में डूबने-उतराने और घुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्दकोश के पन्ने उलटने में नहीं।''[2] इस प्रकार ''जनसमूह के हृदय की भावनाओं का आग्रह करके ही हिन्दी की आलोचना रीतिकालीन केंचुल उतारकर आधुनिक बनी।''[3] आधुनिक काल से हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ मानने का अर्थ यह है कि हिन्दी के साहित्य-मनीषियों में कवि-विशेष या कृति-विशेष का अध्ययन करने के बाद उसके महत्व और मूल्य का प्रतिपादन करते हुए स्वतंत्र रूप से प्रबन्ध या निबंध लिखने की शुरूआत आधुनिक काल में की है। भारतेन्दु युग में रीतिकालीन आलोचना से भिन्न नवीन युग-चेतना का बोध कराने वाली आलोचना लिखी जाने लगी। नवीन वैज्ञानिक क्रांति, भारत एवं पश्चिम के राजनीतिक संपर्क तथा शिक्षा एवं साहित्य के माध्यम से यूरोपीय विचारों के आगमन से आलोचना की नयी चेतना प्रकट हुई। इसके अतिरिक्त मुद्रण यंत्र के प्रचार-प्रसार से और देश में नवीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति ने भी आलोचना के विकास में महती भूमिका निभायी। इस युग में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना लिखी गयी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' पुस्तक में नाटक की सैद्धान्तिक व्याख्या कर नाटकों को युगानुरूप संशोधित और परिवर्तित करके उसे राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का वाहक बनाने का क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किया। इस युग में कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (आलोचना-संभूषिता), आनंद कादम्बिनी, सारसुरा निधि, हिन्दी प्रदीप (गंभीर आलोचनात्मक पत्रिका) आदि प्रकाशित पत्रिकाओं के माध्यम से आलोचना की चेतना का प्रसार हुआ। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा बालकृष्ण भट्ट ने ऐसी व्यावहारिक आलोचनाएं लिखीं, जिनमें आलोच्य रचनाओं के गुण-दोष-कथन या निरूपण के साथ ही सूक्ष्म सैद्धान्तिक चर्चा भी मिलती है। मुख्यतः संपादकीय लेख, गुण-दोष विवेचनपरक स्वतंत्र लेख, पुस्तक परिचय, टिप्पणियों आदि के रूप में भारतेन्दुयुगीन आलोचना परिलक्षित होती है। पत्र-

*प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के रूप में प्रकाशित होने वाली आलोचनाओं के अतिरिक्त इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है। रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में लिखित सैद्धान्तिक आलोचना, ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली गद्य में लिखी गयी टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना और इतिहास-ग्रन्थों में कवि परिचय के रूप में लिखी गयी आलोचना। द्विवेदी युगीन रचनाकारों ने भारतेन्दुयुगीन आलोचनात्मक कार्यों को आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण, श्रेष्ठ एवं सफल कार्य किया। द्विवेदी युग में पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा का प्रारम्भ 'आनन्द कादम्बिनी' द्वारा हुआ। आचार्य महावीप्रसाद द्विवेदी ने पुस्तकवार समीक्षा का आरम्भ किया। उनकी प्रथम आलोचना पुस्तक थी 'हिन्दी कालिदास की आलोचनाएँ।' 1930 में 'समालोचना समुच्चय' शीर्षक से उन्होंने अपनी बीस ऐसी समालोचनाओं का संकलन प्रकाशित किया। इसके आरम्भिक निवेदन में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं कि ''इस संग्रह में निवेदनकर्ता की जो समालोचना जिस समय निकली थी उसका उल्लेख उसी के नीचे कर दिया गया है। आलोचनाएँ अधिकतर हिन्दी के पुस्तकों की है। पर कुछ संस्कृत-पुस्तकों और उनके अंश-विशेषों की भी हैं। दो एक आलोचनाएँ अन्य भाषाओं की पुस्तकों की भी हैं।'' 'समुच्चय' में संकलित समीक्षाएँ अधिकतर प्राचीन काव्य और ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों के सन्दर्भ में है।

परिमाण और गुण की दृष्टि से द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना अपने पूर्ववर्ती युगों से अधिक सशक्त, समृद्ध एवं मौलिक है। ''भारतेन्दु युगीन लेखकों के साहित्य पर उनकी सहृदयता और जीवन्तता की छाप है तो द्विवेदी युग के साहित्य पर कर्त्तव्यपरायणता और उपयोगिता की। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य की उपयोगिता को कसौटी पर आंकते थे और उसे 'ज्ञानराशि का संचित कोष' मानते थे। उनका प्रभाव प्रत्येक साहित्यांग पर पड़ा। वे स्वयं सम्मान्य आलोचक थे। द्विवेदी युग ने ज्ञान की साधना पर विशेष बल दिया। इस युग के लेखक प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान की खोज और पश्चिम के नये आलोक से अपने देशवासियों को परिचित कराना चाहते थे।''[4] द्विवेदी युग में पहली बार आलोचना अपने मूल या वास्तविक स्वरूप, जो भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर क्रीड़ा करने वाली प्राचीन नवीन के विराट संघर्ष से प्रसूत नवयुगीन विचारधारा के आलोक में क्रमशः तैयार हो रहा था, के निकट पहुँचने का प्रयास करती दिखायी पड़ी। द्विवेदी युग की सबसे बड़ी उपलब्धि संस्कृत-समीक्षा सिद्धांतों का पुनराख्यान करके तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों को भारतीय संस्कारों के अनुकूल ढालकर, दोनों के समन्वित आधार पर हिन्दी के लिए उचित शास्त्रीय समीक्षा सिद्धान्तो का निर्माण माना जा सकता है। साथ ही इन सिद्धांतों का उचित उपयोग करते हुए व्यावहारिक समीक्षा की व्याख्यात्मक पद्धति के विकास को भी इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी युग में कृतियों के मूल्यांकन में सामाजिक मूल्यों को महत्व देने की परम्परा का विकास भी हुआ। द्विवेदी युग में पहली बार रचनाओं की श्रेष्ठता का निर्णय मात्र कला की दृष्टि से न करके उनकी सामाजिक-नैतिक उपयोगिता के आधार पर की गयी। द्विवेदी युग में कुल मिलाकर दो प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ प्रमुख रूप में सामने आईं। एक तो वे आलोचक जिनकी काव्य-रूचि रीतिबद्ध थी। जिन्होंने या तो रीतिकाल के कवियों को लेकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया या उस काव्य के अर्थ-प्रकाशन पर ध्यान दिया। इनकी आलोचना के प्रतिमान शुद्ध साहित्यिक प्रतिमान थे जिनमें काव्य के शैली-शिल्प के परीक्षण का विधान तो था किन्तु सामाजिक चेतना के अथवा कवि की अन्तश्चेतना के संदर्भ में साहित्य को देखने-परखने की कोई गुंजाइश नहीं थी। वस्तुतः यह रीतिकाल की आलोचना-पद्धति का खड़ीबोली संस्करण था। आलोचना की दूसरी प्रवृत्ति जीवन के संदर्भ में साहित्य को जाँचने-परखने का आग्रह उनके 'नैतिक उपयोगितावाद' के रूप में दिखायी देता है। और इस दूसरी प्रवृत्ति के उन्नायक हुए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। आचार्य द्विवेदी नवीन भारतीय मध्यवर्गीय आलोचक थे, जो हिन्दी साहित्य को स्वाधीनता प्राप्ति और राष्ट्रीय निर्माण के एक साधन के रूप में देखना चाहते थे और उसी दृष्टि से उसकी आलोचना कर रहे थे। उनकी आलोचना पद्धति उनके जीवन और विचारधारा का अंग थी। जिसका ज्ञान उनके उन भाषणों, निबंधों और संपादकीय टिप्पणियों से होता है जिनका विषय केवल साहित्य न होकर समाज, राष्ट्र और विश्व की अनेकों सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याएँ थीं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने आलोचना के दोनों मुख्यरूपों-सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक से सम्बद्ध मुक्तक लेखों, पुस्तक परिचयों, टिप्पणियों एवं स्वतंत्र पुस्तकों को प्रस्तुत किया। इसके साथ ही साथ पाश्चात्य और भारतीय लेखकों तथा कवियों (बेकन, कालिदास, भवभूति आदि) की ओर साहित्य प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य द्विवेदी की समीक्षा सम्बन्धी मान्यताएं 'सरस्वती' की सम्पादकीय टिप्पणियों के अतिरिक्त 'रसज्ञरंजन' के कतिपय लेख 'नाट्यशास्त्र', 'काव्य और कविता' आदि पुस्तकों और समीक्षात्मक लेखों में प्रकट हुई है। उनकी दृष्टि समग्रतः सुधारवादी एवं उपयोगितावादी थी। द्विवेदी जी की आलोचना पद्धति की एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी निर्भीकता थी। उनकी व्यावहारिक आलोचना मुख्य रूप से संस्कृत कवियों तथा उनकी रचनाओं पर आधारित है। इसके अतिरिक्त 'रसज्ञरंजन' तथा 'साहित्यसीकर' के निबंधों में भी उनकी व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप उभरकर सामने आता है। आचार्य द्विवेदी युगीन परिवेश की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्य को श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी दृष्टि में जो साहित्य अपने समाज को पूरी तरह प्रकट ना कर सके वह मूल्यहीन है। उन्होंने सदैव जीवन और साहित्य के समन्वय पर बल दिया। उनका युग जागरण-सुधारकाल के नाम से जाना जाता है। उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब हिन्दी संक्रांति की अवस्था में थी। हिन्दी में ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ले रही

थी, देश के सामने स्वराज्य-प्राप्ति का जटिल एवं ज्वलंत प्रश्न था और राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, तिलक और गाँधी आदि महापुरूषों द्वारा राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन प्रगति पर था। ऐसे वातावरण में द्विवेदीजी ने सुधारवादी नवीनतावादी दृष्टि से हिन्दी साहित्य जगत में प्रवेश किया। अपनी समीक्षा दृष्टि का निर्माण उन्होंने अपने युग की परिस्थितियों, उपलब्ध साहित्यिक उपकरणों तथा प्राचीन भारतीय काव्य एवं इतिहास-पुराण के अध्ययन से प्राप्त चिंतन-स्फूर्तियों के योग से किया। 'कवि और कविता' जैसे लेख के द्वारा उन्होंने नवीन सैद्धांतिक समीक्षा को आगे बढ़ाया, 'काव्य की उपेक्षिता उर्मिला' जैसे लेख के द्वारा साहित्य में मानवता एवं नारी विषयक उच्च भावनाएँ प्रस्तुत की, कालिदास की रचनाओं की गुण-दोष मूलक विस्तृत व्याख्या करके समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया। इसके साथ ही खड़ीबोली आंदोलन का नेतृत्व करके भाषा को निर्मल, पुष्ट व प्रवाहमयी बनाकर आलोचना के बाह्य और अभयान्तर कलेवर को सँवारने का युगान्तकारी कार्य उन्होंने किया। यद्यपि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के कवियों या लेखकों के संबंध में कोई विस्तृत या सुनियोजित सांगोपांग समीक्षा नहीं लिखी परन्तु व्यावहारिक स्तर उनकी दो समीक्षाएँ महत्वपूर्ण हैं। 'हिन्दी नवरत्न की समीक्षा' और 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक से लिखी गयी छायावादी कवियों की समीक्षा। ये दोनों ही समीक्षाएँ आचार्य द्विवेदी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नैतिक आदर्श और परिष्कृत काव्य-संस्कार की परिचायक हैं। वे उसी साहित्य को महत्वपूर्ण मानते थे, जिसमें उच्च भावों का उद्‌बोधन हो, जिसमें समाज और देश-हित की भावना निहित हो और जिसमें मानव चरित्र के उन्नयन की क्षमता हो। ''यद्यपि द्विवेदीजी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्यसमीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया।''[5]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य में संयम, मर्यादा और शुद्धाचरण की प्रतिष्ठा पर अधिक बल दिया। उन्होंने प्राचीन मान्यताओं में युगानुकूल परिवर्तन की ही बात न करते हुए, कुछ मान्यताओं के सर्वथा त्याग पर भी बल दिया। समाज और संस्कार को उन्होंने सर्वोपरि महत्व दिया। 'काव्य में अन्य भावों के उद्‌बोधन और मानव चरित्र के उन्नयन की शक्ति होनी चाहिए।' इस सूत्र को आचार्य द्विवेदी ने हमेशा सामने रखा और इसी आधार पर कृतियों की श्रेष्ठता या हीनता प्रमाणित की। उनकी समालोचना में तीव्र संघर्ष की झलक है जो साहित्य को रूढ़िवाद से मुक्त करके नई दिशा में विकसित करती है। यह संघर्ष केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं है बल्कि राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। ''द्विवेदी जी अपने समय के सबसे अधिक उदार और प्रगतिशील आलोचक हैं। उन्होंने अलंकारों की कलाबाजी और समस्यापूर्ति तथा नायिका भेद के खेलवाड़ का विरोध किया। पूर्व प्रचलित छंदों के घेरे को तोड़कर उनके स्थान पर नए-नए छंदों के प्रयोग का आग्रह किया।''[6]

गद्य शैली और हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं की प्रतिष्ठापना में 'सरस्वती' पत्रिका का विशेष योगदान है। सन् 1900 में सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और 1920 तक द्विवेदी जी उससे जुड़े रहे। इन दो दशकों पर भारतेन्दुकाल के नवजागरण का भी प्रभाव है जो अपनी समस्त विशेषता के साथ आगे के युग को भी प्रभावित करता है। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी गद्य का विकास किया। आधुनिक हिन्दी को विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाया। कविता में ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया। जिसके पीछे उनकी मान्यता थी कि 'बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों के विरूद्ध है।' उनकी चिन्ता रीतिकालीन संस्कारों से मुक्ति पाने की रही। साहित्य से उन्होंने रीतिवाद को बहिष्कृत किया। द्विवेदी जी के दो दशकों के ही परिश्रम का फल है कि आगे साहित्य को विकसित होने की आधारशिला मिल गई। उन्होंने रूढ़िवादी दृष्टि का खण्डन किया और प्राचीन उपलब्धियों का पुनर्मूल्यांकन किया। वे अतीत के प्रति भावुकता और रहस्यवाद का विरोध कर ठोस बौद्धिकता एवं नैतिकता के पक्षधर बने रहे। ''नैतिकता के आग्रह के कारण महावीरप्रसाद द्विवेदी को मेघदूत पसन्द नहीं आया था। पर जब उन्होंने उसमें नैतिक मूल्यों को खोज निकाला तो अपने मत को संशोधित कर लिया। कालिदास की निरंकुशता, कालिदास की विद्वता, मेघदूत रहस्य, प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्‌भावना आदि निबन्धों की श्रेष्ठता उनमें प्राप्त होने वाले नैतिक आनंद पर निर्भर है। उनकी दृष्टि में उत्तम काव्य वही है जिससे संसार का उपकार-साधन हो।''[7] 'साहित्य की महत्ता' नामक अपने निबंध में उन्होंने साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा कि ''ज्ञानराशि के संचित कोष का ही नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती है तो वह रूपवती भिखारिन के समान कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।'' इसी प्रकार 1901 ई0 में प्रकाशित 'कवि-कर्त्तव्य' नामक लेख में वे लिखते हैं कि 'कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परिकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है, न स्वीकीयाओं के गतागत की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है।' इस प्रकार द्विवेदी जी ने कविता के नये आयामों को हिन्दी साहित्य में स्थापित किया। इसी क्रम में आचार्य द्विवेदी ने कवि की भाषा पर भी साहित्य प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्हीं के शब्दों में, ''कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ

ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है। परन्तु जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके अवलोकन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है। जो कुछ लिखा जाता है, वह इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि लेखक का हृद्‌गत भाव दूसरे समझ जाएँ। यदि इस उद्देश्य ही की सफलता न हुई, तो लिखना ही व्यर्थ हुआ। अतएव क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही सब प्रकार वांछनीय है। कालिदास, भवभूति और तुलसीदास के काव्य सरलता के उदाहरण हैं, परम विद्वान् होकर भी उन्होंने सरलता ही को विशेष मान दिया है इसीलिए उनके काव्यों को इतना आदर है। जो काव्य सर्वसाधारण की समझ से बाहर होता है, वह बहुत कम लोकमान्य होता है। कवियों को इतना सदैव ध्यान रखना चाहिए।''[8] आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने समालोचक का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए कहा है कि ''किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को भी लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं; यहीं विचारणीय विषय हैं। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।'[9] आलोचना के क्षेत्र में उनके महत्व को स्वीकार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि ''यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरूद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखायी पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रूकती।''[10] संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आलोचक व्यक्तित्व की निम्न विशेषताएँ हैं-प्राचीनता से उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग, नवीनता की विवेकपूर्ण स्वीकृति, शास्त्र के स्थितिशील तत्वों की उपेक्षा, समाज-संस्कार को महत्व, उपयोगिता, सोद्देश्यता, सदाशयता, स्वाभाविकता, सरलता और प्रभावोत्पादन क्षमता को काव्य के आवश्यक तत्वों के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह आदि। द्विवेदी जी की सामाजिक चेतना की तुलना उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य प्रगतिशील विचारकों से करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''महावीरप्रसाद द्विवेदी की सामाजिक चेतना की तुलना 19वीं सदी के पाश्चात्य प्रगतिशील प्रचारकों की सामाजिक चेतना से की जाय, तो देखा जाएगा कि बीसवीं सदी का आरम्भ होते-होते हिन्दी-बुद्धिजीवियों की सामाजिक चेतना तेजी से बदल रही है और पूर्ववर्ती पाश्चात्य विचारकों की चेतना के समानान्तर आगे बढ़ रही है। यही कारण है कि इतिहास और समाजशास्त्र के विवेचन में द्विवेदी जी की विचारधारा इतनी आधुनिक और वैज्ञानिक दिखायी देती है और दार्शनिक विषयों का विवेचन यह नवीन बुद्धिवादी तार्किक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। यह स्थिति दर्शन और इतिहास के क्षेत्रों में नहीं है। इसके साथ साहित्य के क्षेत्र में भी वही चेतना सक्रिय है।''[11]

कहना गलत न होगा कि हिन्दी साहित्य चिन्तन के नये युग का प्रारम्भ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य क्षेत्र में प्रवेश से होता है। आचार्य द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस अर्थ में अपना समान व्यक्तित्व रखते हैं कि दोनों के साहित्यिक दृष्टिकोण में समान रूप से नैतिकता, लोकमंगल और रसवाद की प्रतिष्ठा है। फिर भी द्विवेदी युग का समीक्षा साहित्य भाषा-शैली तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रारंभिक ही माना जाना चाहिए। द्विवेदी युग अपनी पूर्ववर्ती परंपरा से इस अर्थ में भी भिन्न है कि जहाँ भारतेन्दु युग के लेखकों के साहित्य पर उनकी सहृदयता और जीवन्तता की छाप है, वहीं द्विवेदी युग के साहित्य पर कर्त्तव्य परायणता, नैतिकता और उपयोगिता की। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ज्ञान की साधना पर सदैव ही बल दिया। उन्होंने प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान की खोज और पश्चिम के नये आलोक से अपने देशवासियों को परिचित कराने का प्रथम साहसिक और साहित्यिक प्रयास किया। नवीन साहित्य का साँचा द्विवेदी युग में ही तैयार हुआ। उसके मूल में नवयुग की भावना थी। इस भावना को आदर्शवाद (नैतिकता) एवं राष्ट्रीयवाद कहा जा सकता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बोलचाल की भाषा तथा सरल एवं प्रसादिक शैली में काव्य-रचना का एक नया आदर्श लोगों के सामने रखा और 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने निबंधों के द्वारा काव्य और साहित्य के उपकरणों की ओर साहित्य प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया, जो पश्चिमी काव्य और साहित्य में प्राप्त थे। निश्चित ही ''आचार्य द्विवेदी युग बोध और नवीनता के पोषक आचार्य हैं। वे हिन्दी के प्रथम लोकवादी आचार्य हैं। वे परंपरा की शक्ति और सीमा समझकर उसके विकास में योगदान करने की सामर्थ्य रखते हैं। वे प्राचीन को समझते थे इसीलिए उसकी सीमाएँ जानते थे, वे देशभक्त, जनप्रेमी थे इसलिए अपने युग की शक्ति समझते थे। वे समसामयिक रचनाओं में भी विकासशील एवं क्षयिस्णु को पहचान सकते थे। वे युगद्रष्टा आचार्य थे।''[12] आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति कविवर सुमित्रानंदन पंत ने निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी श्रद्धा अर्पित की है जो आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व को गौरवान्वित करता है-

'भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर संधान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश की वीणा को दे दिया एक आकार।
पंखहीन थी अहा कल्पना, मूक कंठगत गान,
शब्द शून्य थे भाव - रूद्ध, प्राणों के वंचित प्राण।
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न, बन्दी थे हृदयोद्‌गार,
एक देश था सही एक था क्या वाणी व्यापार?
वाग्मि आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र कंकाल।
शत कंठो से फूट आपके शतमुख गौरवगान,

शत-शत युग स्तम्भों में ताने स्वर्णिम कीर्ति-वितान।
चिर स्मारक सा उठ युग-युग में भारत का साहित्य,
आर्य, आपके यशः काय को करे सुरक्षित नित्य।'[13]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पालीवाल, कृष्णदत्त : आलोचक अज्ञेय की उपस्थिति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ0 78
2. वाजपेयी, पंडित नंददुलारे : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ0 56
3. त्रिपाठी विश्वनाथ : हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला छात्र संस्करण : 1992, पृ0 17
4. उपरिवत् , पृ0 25
5. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठवां संस्करण : 2009, पृ0 362
6. सिंह, डॉ0 बच्चन : आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, परिवर्धित संस्करण : 1986
7. उपरिवत्, पृ0 148
8. वागर्थ (मासिक पत्रिका), संपादक : एकांत श्रीवास्तव एवं कुसुम खेमानी, भारतीय भाषा परिषद प्रकाशन, कलकत्ता, जनवरी : 2012
9. डॉ0 नगेन्द्र (संपादक), हिन्दी-साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरवैक्स प्रकाशन, नोयडा, संस्करण : 1993, पृ0 518
10. उपरिवत्, पृ0 518
11. शर्मा, डॉ0 रामविलास : महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1977, पृ0 277
12. त्रिपाठी, विश्वनाथ : हिन्दी आलोचना, पृ0 30
13. तिवारी, डॉ0 रामचन्द्र : हिन्दी आलोचना शिखरों का साक्षात्कार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1996, पृ0 43

याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित न्याय एवं दण्ड व्यवस्था : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

माधुरी यादव एवं प्रो. सरस्वती सिंह***

समाज में आराजक तत्त्वों द्वारा उत्पन्न की गयी अव्यवस्था को दूर करने के लिए न्याय एवं दण्ड की व्यवस्था की गयी है। न्याय तभी पूर्ण माना जाता है, जब अपराधी को दण्डित किया जाता है इसके अतिरिक्त दण्ड का दूसरा पक्ष यह भी होता है कि दण्ड इसलिए दिया जाता है कि जिससे दूसरा व्यक्ति अनुचित कार्य न करें। मनु ने दण्ड के विषय में कहा है कि 'दण्ड' ही एक ऐसा साधन है, जिसके प्रयोग से लोग न्याय की ओर अग्रसर होते हैं। दण्ड ही प्रजा पर शासन करता है तथा उनका रक्षण करता है। दण्ड सोते हुए भी जागृत रहता है दण्ड भी एक प्रकार से धर्म है।

'दण्डाः शास्ति प्रजा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्ड धर्म विदुर्बुधा।।[1]

न्याय एवं दण्ड शब्द की शाब्दिक व्याख्या—"नि उपसर्ग इ एवं घञ् प्रत्यय से न्यायः शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है– 'नियन्ति अनेन' अर्थात् प्रणाली, तरीका, रीति, नियम, पद्धति, योजना"[2]। दण्ड शब्द का अर्थ है–सजा देना, जुर्माना करना।

Ency.. of the laws of England–"Judgment is the determination of a court declaring the rights to be recognised and the remedies to be awarded between the Parties upon facts found by the court or admitted by the Parties or upon their default in the course of Proceedings instituted for the redress of a legal injury"[3].

स्मृति-साहित्य में याज्ञवल्क्यस्मृति में अन्य स्मृतियों की अपेक्षा न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति तीन अध्यायों में विभक्त है, जिसमें द्वितीय अध्याय व्यवहाराध्याय है। इस अध्याय में न्याय परिषद्, व्यवहार का विषय, न्यायाधीश, साक्ष्य, दण्ड इत्यादि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र 'याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित न्याय एवं दण्ड व्यवस्था : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में' कितनी प्रासङ्गिक है, इसी विषय को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहार के विषय का वर्णन किया गया है कि जब समाज में कोई व्यक्ति स्मृति तथा सदाचार के विरुद्ध दूसरे द्वारा उत्पीड़ित किया जाता है तो वह अपने उत्पीड़न के सम्बन्ध में राजा से निवेदन कर सकता है।

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्।।[4]

वर्तमान समय सदाचार और नियमों का उल्लङ्घन समाज के लिए बड़ी समस्या है। यही समस्याएँ व्यवहार का विषय बनी हुई हैं और याची इन्हीं समस्याओं से पीड़ित होकर न्यायालय में याचिका दायर करता है। याचिका की सुनवाई के लिए तीन या चार सदस्यीय पीठ का गठन किया जाता है, इसके पश्चात् जिस निर्णय के पक्ष में तीन न्यायाधीश होते हैं वहीं निर्णय मान्य होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहार के निर्णय के लिए एक न्यायपरिषद् होती थी जिसमें तीन या चार सदस्य होते थे, जो श्रुति, स्मृति के ज्ञाता होते थे, तथा वे धर्म-अधर्म के विषय में जो निर्णय देते थे वहीं धर्म होता था।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः।।[5]

ऐसे विषय जिनसे समाज की शान्ति सन्तुलन नष्ट होता है, प्राणहरण, चोरी, स्त्रियों से सम्बन्धित विषय (अपहरण, बलात्कार) इत्यादि विवादों का निर्णय शीघ्र करना चाहिए।

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम्।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः।।[6]

प्रस्तुत श्लोक आधुनिक न्यायव्यवस्था के लिए प्रासङ्गिक है। वर्तमान समय में ऐसे विवाद न्यायालय में लम्बित रहते हैं, यदि इसका कारण वर्तमान न्याय-प्रक्रिया है तो धर्मशास्त्रों में वर्णित न्याय-प्रक्रिया को स्वीकार करना चाहिए।

व्यवहार के निर्णय हेतु न्यायालयों की भी स्थापना की गयी थी। याज्ञवल्क्यस्मृति में चार प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया गया है—

(1) एक ही वंश-परम्परा का संघ–कुल न्यायालय।
(2) एक व्यवसाय के लोगों (व्यापारियों का समूह) का संघ–श्रेणी न्यायालय।
(3) मठों में निवास करने वाले ब्राह्मण इत्यादि का संघ–गण न्यायालय।

*शोधच्छात्रा, संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

(4) एक ही ग्राम में निवास करने वाले विभिन्न जाति या वर्गों का संघ–पूग न्यायालय।[7]

वर्तमान समय में भारत में पाँच प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की गयी है—

(1) सर्वोच्च न्यायालय
(2) उच्च न्यायालय (हर राज्य में एक)
(3) जिला न्यायालय (हर जिले में एक)
(4) मुन्सिफ न्यायालय (हर जिले में अनेक)
(5) न्याय पंचायत न्यायालय (गाँव में एक)

इस प्रकार जिस स्तर पर सामाजिक विभाजन किया गया था उसी स्तर पर न्यायालयों का गठन भी किया गया था, जिससे समाज में अव्यवस्था न उत्पन्न हो। आधुनिक काल में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है।

न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा द्वारा उनके गुण के आधार पर की जाती थी और न्यायाधीश राजा के प्रशासन में सहयोग करता था। राजा दो प्रकार के न्यायाधीश को नियुक्त करता था—

(1) प्रधान न्यायाधीश (धर्माध्यक्ष)।

(2) सहायक न्यायाधीश (प्रधान न्यायाधीश को सहयोग प्रदान करने वाले)।

ये न्यायाधीश लोक-कल्याण, सदाचार और सर्वजनहिताय की कामना करने वाले, वेदज्ञ, धर्मज्ञ, स्थिर बुद्धि, समभावी, सत्यवादी, कर्त्तव्यशील, अनुभवी, नीतिज्ञ गुणों से युक्त होते थे।

श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः।।
अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित्।।[8]

वर्तमान में उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा निम्नलिखित योग्यता के आधार पर की जाती है—वह भारत का नागरिक हो, किसी उच्च न्यायालय में लगातार कम से कम 10 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो, वह उच्चन्यायालय या किसी भी न्यायालय में कम से कम दस वर्ष से विधिव्यवसाय कर रहा हो, वह राष्ट्रपति की राय से लब्धप्रतिष्ठ विधिवेत्ता हो। याज्ञवल्क्यस्मृति में न्यायाधीशों की जिस योग्यता का वर्णन किया गया है वह वर्तमान में आपेक्षित है। न्यायाधीश क्रोध, लोभ मुक्त होना चाहिए, जिससे वह शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करे।

याज्ञवल्क्यस्मृति में न्यायालय की जिस पद्धति का वर्णन किया गया है, वह अपने में एक सुदृढ़ पद्धति थी। यथा कि 'पूर्व में जैसा अर्थी (वादी) ने (अभियोग के सम्बन्ध में) आवेदन किया है वैसा ही प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के समक्ष अभियोग को लिखें और उस लेख पर वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम तथा जाति अङ्कित कर दें। यदि प्रतिवादी भी अपने बचाव पक्ष में कुछ कहना चाहता है तो उसे वादी के समक्ष अङ्कित करना चाहिए। तदनन्तर वादी अभियोग को पुष्ट करने वाला साक्ष्य तत्काल प्रस्तुत करे जिससे न्याय देने में सुविधा होती थी।

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥
श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्ववेदकसन्निधौ।
ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्।।[9]

विवादों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए न्यायालयों में प्रतिनिधियों की नियुक्ति की जाती थी। शुक्रनीतिसार में कहा गया है कि ऐसे विवाद जिसका शीघ्रता से निर्णय करने पर समाज का हित हो ऐसे विवादों का प्रतिनिधि राजा के समक्ष पैरवी करें; परन्तु जिस समय विवादों का निर्णय करना समाज के अहित में हो तो उस समय प्रतिनिधि स्वयं उस विवाद की पैरवी न करें न तो राजा के समक्ष प्रस्तुत करें। इस प्रकार प्रतिनिधि समय परिस्थिति उचित अनुचित का ध्यान रखकर ही विवादों की पैरवी करते थे।

अकर्तुं यद्धितमपि राज्ञप्रतिनिधिः सदा।
बोधयेत्कारयेत्कुर्यान्न कुर्यान्न प्रबोधयेत्।।[10]

आधुनिक प्रतिनिधि को भी ऐसे विवादों की पैरवी पूरी सच्चाई के साथ करनी चाहिए जो समाज के हित में हो।

विवाद को सुलझाने के लिए चार प्रस्तर बनाये गये थे, जिन्हें चतुष्पाद कहते थे—

- प्रथम प्रस्तर—वादी द्वारा दूसरों से अपने को पीड़ित होने के आरोप को राजा (न्यायाधीश) के समक्ष लिपिबद्ध कराना–भाषापाद।
- द्वितीय प्रस्तर—आरोप के खण्डन हेतु प्रतिवादी द्वारा पक्ष उपस्थित करना–उत्तर पाद)
- तृतीय प्रस्तर—प्रतिवादी की बात को असिद्ध करते हुए अपनी बात की पुष्टि में साक्ष्य उपस्थित करना–क्रियापाद।
- चतुर्थ प्रस्तर—वाद को वादी द्वारा जीतना–साध्यसिद्धि रूपी पाद।

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा।

चतुष्पाद्व्यहाराऽयं विवादेषूपदर्शितः।।[11]

इसी प्रक्रिया के आधार पर विवादों का निर्णय कर दिया जाता था। वर्तमान में भी यह प्रक्रिया विचारणीय है जिससे विवादों का निर्णय शीघ्रता से किया जा सके।

अभियोग की सिद्धि के लिए तीन प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति में किया गया है—लिखितप्रमाण, भुक्तिप्रमाण (कब्जा या अधिकार) और साक्षी।

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः सक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतमुच्यते॥[12]

लिखित प्रमाण के अन्तर्गत जब व्यक्ति किसी से ऋण लेता था तो उसी समय ऋणी से ऋण भुगतान का समय, ब्याज की दर आदि तय करके लेख-पत्र में दो चार साक्षियों के समक्ष लिख लिया जाता था। प्रमाण की द्वितीय कोटि भुक्ति था, इसका तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप से किसी वस्तु पर अधिकार प्राप्त करना था। लिखित प्रमाण के अभाव में 'भुक्ति' को प्रमाणिक माना जाता था। लिखित एवं भोग के अभाव में साक्षी प्रमाण के आधार पर ही न्यायालय में विवादों को निपटाया जाता था। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में साक्षी का निरूपण किया है—**'साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाच्च भवति'** अर्थात् साक्षी प्रत्यक्ष देखने और सुनने वाला होता है। साक्षी वही हो सकता है जो तपस्वी, दानी, कुलीन, धर्म को मानने वाला हो। पागल, उन्मत्त, मद्य का सेवन करने वाले व्यक्ति को साक्षी नहीं स्वीकार किया जाता था। याज्ञवल्क्य ने कहा है—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः॥[13]

इसके अतिरिक्त दिव्य प्रमाणों का भी प्रयोग किया जाता था। जो वर्तमान में प्रचलित नहीं है। आज भी न्यायालय में विवादों का निपटारा गवाह (साक्षी) के आधार पर किया जाता है; परन्तु साक्षी कितना सत्य और कितना असत्य बोलता है, इसको प्रमाणित करना कठिन कार्य है।

प्रमाण के सिद्ध हो जाने पर अपराधी को दण्डित किया जाता था। दण्ड का मुख्य उद्देश्य सदाचार की रक्षा और अनैतिक कार्यों की निवृत्ति करना था। याज्ञवल्क्यस्मृति में दण्ड के विषय में वर्णन किया गया है कि दण्ड का निर्णय अपराधी के अपराध देश, काल, बल, अवस्था, कर्म और धन को देखकर किया जाता था।

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥[14]

याज्ञवल्क्यकालीन दण्ड व्यवस्था में सबसे प्रचलित दण्ड अर्थदण्ड था, यह दो प्रकार का था—(1) नियत (अपरिवर्तनशील) अर्थदण्ड और (2) अनियत (परिवर्तनशील) अर्थदण्ड। नियत अर्थदण्ड के अन्तर्गत प्रथम साहस 260 पण, मध्मय साहस 540 पण, उत्तम साहस 1080 पण का अर्थदण्ड वसूला जाता था। न्यायालय का खर्च अर्थ दण्ड द्वारा वसूले गये पण से चलता था।

साशीतिपणसाहस्त्रो दण्ड उत्तमसाहसः।
तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः॥[15]

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित प्रकार के दण्ड प्रचलित थे—देश निष्कासन–झूठ बोलने, धन का अपहरण करने, अपराध को दोहराने पर देश निष्कासन का दण्ड दिया जाता था। बन्दी बनाना, कशाघात, बेड़ी-बन्धन, वाक्यपारुष्य, इसके अन्तर्गत मानहानि के लिए दण्ड दिया जाता था। जब कोई व्यक्ति किसी विकलाङ्ग तथा रोगी को सत्य अथवा असत्य और मजाक रूप में आक्षेप करें, तो उसे साढ़े तेरह पण का दण्ड दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति द्वारा स्त्रियों के लिए अपशब्द का प्रयोग किया जाय तो उसे पञ्चीस पण का दण्ड राजा द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए।

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाठेन्द्रियरोगिणाम्।
क्षेपं करोति चेद्दण्डयः पणानर्धत्रयोदशान्॥
अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह।
शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम्॥[16]

दण्डपारुष्य, इसमें वे अपराध आते हैं जिनमें किसी पर अचानक हमला किया जाता है। यदि किसी एक व्यक्ति को व्यक्तियों का समूह बनाकर मारा-पीटा जाता है तो जो दण्ड निर्धारित किया गया है उसका द्विगुणित दण्ड दिया जाना चाहिए। कलह में अपहृत वस्तु को लौटाकर उसका दूना अर्थदण्ड वसूलना चाहिए।

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्तद्द्विगुणो दमः।
कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः॥[17]

इस प्रकार याज्ञवल्क्यकालीन समाज में व्यक्ति के सारे व्यक्तिगत अधिकार सुरक्षित थे और इन अधिकारों का संरक्षण प्रशासन द्वारा भी किया जाता था।

स्त्री-पुरुष द्वारा नियम विरूद्ध तरीके से मिलने एवं सम्भोग आदि के लिए भी राजा द्वारा इसे व्यभिचार की कोटि में रखकर दो सौ पण का दण्ड दिया जाता था।

पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया।
सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा॥[18]

मृत्यु दण्ड जघन्यतम अपराध के लिए दिया जाता था। यथा राजद्रोह, आग लगाना, दुराचार, ब्रह्महत्या इत्यादि।

न्याय एवं दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र नैतिकता तथा मानवीय गुणों का विकास करना है। अपराध एक मानसिक रोग है, जिसके लिए अपराधी को दण्डित नहीं करके उसका इलाज करना चाहिए; परन्तु आधुनिक समय में मानव जिस प्रकार से अमानवीयता का प्रदर्शन कर रहा है उसे केवल दण्डित करके ही रोका जा सकता है। आधुनिक भारतीय न्याय एवं दण्ड व्यवस्था अपने में एक सशक्त

व्यवस्था है; परन्तु विलम्ब से मिला दण्ड अपराधों को रोकने में प्रभावी नहीं होता अतः याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित न्यायिक पद्धति अनुकरणीय है जिससे अपराधों पर नियन्त्रण करके एक नैतिक मानवीय गुणों से युक्त स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके।

सन्दर्भ-सूची

1. मनुस्मृति, सं. श्री हरगोविन्द शास्त्री, (संस्करण षष्ठ, वि.सं. 2055), वाराणसीः चौखम्भा साहित्य सीरीज ऑफिस, 7/18
2. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, सं. वामन शिवराम आप्टे, (संस्करण द्वितीय 1969), दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास, पृ. 595
3. Concise Law dictionary–Ramanatha Aiyars's, (Fourth Edition 2012), Nagpr: Lexis Butterworsh wadhwa, Page-693.
4. याज्ञवल्क्यस्मृति, सं. डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, (संस्करण पुनर्मुद्रण वि.सं. 2065), वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 2/5
5. याज्ञवल्क्यस्मृति–1/9
6. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/12
7. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/30
8. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/2-3
9. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/6-7
10. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/89
11. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/8
12. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/22
13. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/68
14. याज्ञवल्क्यस्मृति–1/368
15. याज्ञवल्क्यस्मृति–1/366
16. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/204-205
17. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/221
18. याज्ञवल्क्यस्मृति–2/283

डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि में प्रेमचंद का सृजन और संघर्ष

*डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी**

हिन्दी साहित्य की आलोच्य विधा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपरांत जिस तीसरे मूर्धन्य मनीषी ने अपनी मेधा से सर्वाधिक प्रभावित किया, वे हैं आलोचक रामविलास शर्मा। डॉ0 रामविलास शर्मा का आलोच्य कर्म उनके गंभीर अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं गवेषणापूर्ण किये गये अनेक ख्यातिनामा साहित्यकारों के साहित्यिक अवदान सम्बन्धी विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन का परिणाम है। उनके इन कार्यों से हिन्दी की आलोच्य विधा को जहाँ एक नई ऊँचाई प्राप्त हुई वहीं साहित्य और आलोचना को एक नये ढंग से देखने-परखने तथा आत्मसात करने की दृष्टि भी प्राप्त हुई। डॉ0 शर्मा हिन्दी के पहले ऐसे व्यवस्थित मार्क्सवादी आलोचक हैं, जिन्होंने आलोचना को एक नया 'सौन्दर्यशास्त्र' भी प्रदान किया। उनके चिंतन और लेखन में सर्वत्र 'एकात्मकता', 'अंतःसम्बद्धता' और 'अंतःसूत्रता' विद्यमान है। वास्तव में अपने आलोचना कर्म में उन्होंने सामंती और साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ जहाँ एक ओर आवाज बुलंद की वहीं दूसरी ओर देश-हित और राष्ट्र के गौरव के लिए उनकी लेखनी निरंतर संघर्ष करती रही।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, निराला, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचंद जैसे सुधी साहित्यकारों और समीक्षकों पर साधिकार लेखनी चलाई तथा इन रचनाकारों के बहाने एक तरह से उनके युग के मिजाज की पूरी पड़ताल भी की है। 'निराला की साहित्य साधना' (तीन भाग), आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचंद और उनका युग, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, के अतिरिक्त 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद', हिन्दी जाति का साहित्य', भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' आदि उनके महत्वपूर्ण, गंभीर और अत्यन्त गवेषणापूर्ण ग्रंथ हैं। इस बहाने इतिहास और परम्पराबोध के साथ-साथ कवियों और साहित्यकारों के बहाने उन्होंने भारतीय भाषाओं के ह्रास और विकास को भी रेखांकित करने का प्रयास किया।

डॉ0 रामविलास शर्मा को कवियों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और आलोचकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल जितने प्रिय हैं कथाकारों में उतना ही प्रेमचंद, यही कारण है कि उक्त सभी रचनाकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को लेकर तथा उन पर स्वतंत्र ग्रंथों की रचनाकर अत्यंत सूक्ष्मता एवं गहनता के साथ उनके साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन किया। इसमें प्रेमचंद को लेकर उन्होंने 'प्रेमचंद और उनका युग' शीर्षक से पुस्तक की रचना की जिससे उनकी प्रखर आलोच्य शक्ति और गहन तर्कपूर्ण गवेषणा का पता चलता है। डॉ0 शर्मा की आलोचनाओं और मूल्यांकनों से नयी मान्यताओं और अवधारणाओं ने हिन्दी में अनेक बहसों को जन्म दिया, उनके द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर आज भी मनोमंथन जारी है।

प्रेमचंद की समस्त कथा कृतियों का ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामयिक परिवेश में मूल्यांकन करते हुए डॉ0 शर्मा ने प्रेमचंद के संदर्भ में अपनी स्थापना दी, कि 'प्रेमचंद हिन्दी समाज की जातीयता के प्रतिनिधि कथाकार थे' और उनके पात्र हमारे ही बीच के हाड़-मांस से बने मनुष्य होते हैं। इन पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद जब समाज की कुरीतियों, समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं तो उसका परिदृश्य बहुत व्यापक हो जाता है। पाठक स्वयं इनमें अपने जीवन की यथार्थता को देखने लगता है और इस प्रकार प्रेमचंद का 'व्यक्ति चरित्र' पूरे भारत का 'राष्ट्रीय चरित्र' बन जाता है। 'प्रेमचंद के पूर्ववर्ती लेखकों ने उपन्यास को या तो शिक्षा और उपदेश के लिए अपनाया था या फिर मनोरंजन के लिए, प्रेमचंद ने इसे यथार्थ के धरातल पर सामाजिक बुराईयों से लड़ने और उसका प्रतिकार करने का माध्यम बनाया।' 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों के माध्यम से जो कार्य भारतेन्दु बाबू ने किया था, उपन्यासों के माध्यम से वही कार्य प्रेमचंद कर रहे थे जैसा कि मधुरेश ने लिखा है कि ''उन्होंने उपन्यास को सामाजिक और राष्ट्रीय सवालों से जोड़ा और उसकी कलात्मकता का विकास भी किया। उन्होंने उद्देश्य और मनोरंजन की दो भिन्न सारणियों को मिलाकर एक किया।''[1]

प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी का कथा-साहित्य वस्तुतः 'पंचतंत्र', 'वृहत्कथा' और बौद्ध जातक कथाओं आदि नीतियों, कहानियों और उपदेशों तक सीमित था। डॉ0 रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'चन्द्रकांता' और तिलिस्म' होशरूबा' को पढ़ने वाले लाखों थे, प्रेमचंद ने इन लाखों पाठकों को 'सेवासदन' का पाठक बनाया।' प्रेमचंद अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतवर्ष के अद्वितीय और अमर कथाकार हैं। डॉ0 त्रिभुवन सिंह का मानना है कि ''हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचंद एक युग प्रवर्तक के रूप में आये .... उपन्यास साहित्य की परम्परा में उन्हें युग-स्रष्टा के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।''[2] प्रेमचंद ने पहली बार पाठकों के भ्रम को तोड़ते हुए उपन्यास को साधारण जनता से जोड़ा। ''वे स्वयं ग्रामीण थे। किसानों की जिंदगी का गहरा साक्षात्कार उन्होंने किया था। जमींदारों, राय बहादुरों, साहूकारों

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, वाराणसी।

तथा सरकारी अधिकारियों का मारा दीन, हीन, रोज मृत्यु से जूझता, अपनी अटूट जिजीविषा के बल पर श्रम-जीवी गरीब किसान उनकी संवेदना के रेशे-रेशे में घुल गया था।''[3] प्रेमचंद के उपन्यासों की अंतर्वस्तु को देखकर उनके कथा-स्रोतों की पहचान स्वमेव होने लगती है। भारतीय समाज में विधवा की नियति, अनमेल विवाह, दहेज और स्त्री शिक्षा के महत्व का प्रतिपादन आदि ऐसे ही विषयों को लेकर प्रेमचन्द अपने उपन्यास-यात्रा की शुरूआत करते हैं।

'सेवासदन' प्रेमचंद का पहला हिन्दी उपन्यास है जो वेश्यावृति की समस्या पर आधारित है। डॉ0 रामविलास शर्मा का कहना है कि ''वेश्या जीवन पर हिन्दी में पहले भी उपन्यास लिखे गये थे और बाद को भी। हिन्दी के इन उपन्यासों में कहीं पर तो वेश्या जीवन मूल कथा के सिलसिले में आ गया है, कहीं-कहीं वह स्वयं मूल कथा। कुछ उपन्यासों में धनी लड़कों को बिगड़ते दिखाकर जिनके घर में अक्सर सुंदर स्त्री भी होती थी लेखक पाठकों को सावधान करता था कि वे इस तरह कुमार्ग पर जाने से बचें।''[4] और आगे लिखा कि- ''प्रेमचंद का यह उपन्यास लोगों को सस्ती शिक्षा देने के लिए नहीं लिखा गया। वास्तव में वेश्या-जीवन उसका मुख्य विषय है भी नहीं, सुमन कथा पर छायी हुई है इसीलिए ऐसा आभास होता है कि उपन्यास वेश्या-जीवन पर है।''[5] किन्तु ऐसा नहीं है डा0 शर्मा के अनुसार- ''सेवासदन की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है।''[6] गोपाल राय भी यही मानते हैं कि - ''प्रेमचंद ने वेश्या-जीवन पर आधारित पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह इस वृत्ति का चटपटा वर्णन नहीं किया। वे चाहते तो यथार्थ चित्रण के नाम पर ऐसा कर सकते थे। पर ऐसा न करने के पीछे या तो उनकी नैतिक दृष्टि थी या वे उपन्यास संबंधी इस प्रचलित धारणा को निरस्त करना चाहते थे कि वह पाठकों के लिए 'चरित्रनाशक' होता है।''[7] यही कारण है कि सेवासदन में सुमन का चरित्र एक वास्तविक वेश्या के प्रामाणिक अनुभवों की सहज परिणति न होकर प्रेमचंद के आदर्श विचार की परिणति है। जिसके संदर्भ में डा0 शर्मा ने कहा कि - ''हिन्दी उपन्यासों में यह नया यथार्थवाद था, जिसे प्रेमचंद जन्म दे रहे थे।''[8]

'प्रेमाश्रम' प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास है जिसमें पहली बार अत्यंत व्यापक फलक पर औपनिवेशिक व्यवस्था में ग्राम जीवन को अंकित किया गया है। इसमें जमींदार, रैयत और पुलिस तीनों की कहानी को प्रेमचंद ने उद्घाटित किया है। प्रेमाश्रम का फलक बहुत विस्तृत है, इसमें प्रेमचंद ने भारतीय समाज के वर्गों और स्तरों का बड़ी सघनता से चित्रण किया है। ''वस्तुतः प्रेमचंद उन उपन्यासकारों में थे जो पेड़ का पत्ता देखकर संतोष न करते थे, बल्कि उसकी जड़ें खोदकर देखते थे, चाहे वह पाताल तक ही क्यों न गई हो।''[9] प्रेमाश्रम में उन्होंने यही कार्य किया, डॉ0 रामविलास जी के अनुसार- ''सामाजिक अन्याय के विषवृक्ष की जड़ों को उन्होंने प्रेमाश्रम में पूरी तरह उघाड़ दिया, शब्द जाल और छल-कपट की मिट्टी हटाकर दिखला दिया कि अन्याय और अत्याचार के फल किन डालों में लगते हैं और उन्हें कहाँ खाद-पानी मिलता है।''[10] और फिर 'प्रेमाश्रम' के संदर्भ में अपनी स्थापना दी की- ''प्रेमाश्रम किसान जीवन का महाकाव्य है।''[11] पुनः आगे लिखा कि - ''प्रेमचंद के किसान देवता नहीं हैं, वे मनुष्य हैं। उनमें कमजोरियाँ हैं वे उनसे लड़ते हैं। कभी जीतते हैं, कभी हारते हैं। प्रेमचंद ने चरित्र का उत्थान पतन दिखाने में एक साहसी लेकिन अति व्यथित किसान का हृदय पढ़ने में, अपनी ज्वलंत प्रतिभा का परिचय दिया है और प्रेमचंद ही विधवा-विलासी में गर्व-भाव का उदय होना दिखा सकते थे कि विधवा हुई तो क्या, उसने अन्याय के सामने कभी सिर नहीं झुकाया।''[12]

'निर्मला' और 'गबन' प्रेमाश्रम के बाद लिखे गये उपन्यास हैं। 'निर्मला' में अनमेल विवाह जैसी सामाजिक बुराई पर चोट है तो 'गबन' में उत्तर भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों के संक्रमणीय समय को बिम्बित किया गया है। पन्द्रह वर्ष की निर्मला का विवाह उसके उम्र के तिगुने मुंशी तोताराम से हो जाता है जिसके बच्चे भी निर्मला से बड़े हैं। डॉ0 रामविलास शर्मा मानते हैं कि इस उपन्यास में प्रेमचंद ने यथार्थ को पूरी तरह से निबाहा है, ''निर्मला प्रेमचंद के कथा साहित्य के विकास में एक मार्ग चिन्ह है।''[13] इसी तरह गबन की नारी पात्र जालपा के विषय में उनका मत है कि ''जालपा भारत का उगता हुआ नारीत्व है। यह भविष्य के तूफानों की अग्र सूचना है।''[14] और इस प्रकार यह कह सकते हैं कि 'निर्मला' के बाद 'गबन' हिन्दी साहित्य के यथार्थ में प्रेमचंद का आगे एक और बढ़ा हुआ कदम है। मधुरेश ने भी लिखा कि - ''गबन परिवार से शुरू होकर राष्ट्र में संक्रमित होने का उल्लेखनीय उदाहरण है।''[15]

'रंगभूमि' की कथा अंधे भिखारी सूरदास को लेकर रची गयी है, जो अपनी और गाँव की जमीन के लिए मरते दम तक लड़ता है। उसकी जमीन पर जान सेवक कारखाना बनाना चाहता है, किंतु सूरदास है कि वह किसी भी कीमत पर अपनी जमीन देने को तैयार नहीं है। 'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने बहुत ही विस्तृत फलक पर नवविकसित पूँजीवाद और भारतीय परम्परा के द्वन्द्व को अंकित किया है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक संदर्भ अपनी पूरी रंगत के साथ आये हैं। डॉ0 रामविलास शर्मा ने इसके विषय में लिखा- ''रंगभूमि' सन् 20 और 30 के आंदोलनों के बीच हिंद-प्रदेश की रंगभूमि है।''[16] और फिर लिखा कि- ''इसमें राजा, ताल्लुकेदार, पूँजीपति, अंग्रेज-हाकिम, किसान, मजदूर हिन्दुस्तानी जीवन की एक विशद झाँकी देखने को मिलती है। नायकराम का हास्य, सोफिया की सरलता, विनय का साहस, राजा महेन्द्र प्रताप की धूर्तता, जान सेवक की स्वार्थपरता, वीरपाल का साहस, सूरदास की दृढता पाठक के हृदय पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं। अभी तक प्रेमचंद के किसी भी उपन्यास में इतने अविस्मरणीय पात्र एक साथ न आये थे।''[17] रंगभूमि के कथा विन्यास में प्रेमचंद जितने सफल हुए हैं 'कायाकल्प' की बुनावट में वे उतने ही असफल

दिखते हैं, इसमें पुर्नजन्म की धारणा को कथा का आधार बनाया गया है।

'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' से सीख लेकर व्यापक फलक पर सोचना शुरू किया। इस उपन्यास में उन्होंने अछूतों की समस्याओं को उठाया है। डॉ0 रामविलास जी ने लिखा कि - ''कर्मभूमि' हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास है। यह आन्दोलन एक जबरदस्त सैलाब की तरह तमाम जनता को अपने अंदर समेट लेता है। विद्यार्थी, किसान, अछूत स्त्रियाँ, शिक्षक, व्यापारी, मजदूर-सभी इसके प्रवाह में आगे बढ़ चलते हैं। प्रेमाश्रम के किसान अब अकेले नहीं हैं।''[18] वस्तुतः प्रेमचंद ने यह उपन्यास सविनय अवज्ञा आंदोलन के दिनों में लिखा था। कर्मभूमि के कथानक के यथार्थ के संदर्भ में डॉ0 शर्मा ने लिखा कि ''कर्मभूमि में प्रेमचंद का यथार्थ और बुलंदी पर पहुँचा। अमरकांत के चरित्र में उन्होंने अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है मुन्नी उनकी वीर नारियों में सिरमौर है।''[19] 'प्रतिज्ञा' उपन्यास प्रेमचंद के आरंभिक उपन्यास 'प्रेमा' का ही पुनर्लेखन है, जिसका धारावाहिक प्रकाशन 'चाँद' में हुआ था। प्रेमचंद ने इसमें परस्पर दो विरोधी मूल्यों की टकराहट को दिखाया है।

प्रेमचंद लगभग दो दशक तक कथा-लेखन करते रहे। सन् 18 से 36 तक, अर्थात 'सेवासदन' से 'गोदान' तक। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि 'सेवासदन से 'गोदान' तक की यात्रा' हिन्दी उपन्यास की सबसे भव्य और बृहत्तर यात्रा है। ''गोदान तक आते-आते प्रेमचंद अपने आदर्शवाद और यथार्थवाद संबंधी विचारों में आधारभूत परिवर्तन करते दिखाई देते हैं। आदर्शवाद और यथार्थवाद यहाँ दो परस्पर विरोधी विचार-सरणियाँ न होकर संस्लिष्ट और द्वन्द्वात्मक रूप में उपस्थित हैं।''[20] डॉ0 त्रिभुवन सिंह ने भी लिखा है कि - गोदान तक आते-आते प्रेमचंद जी बदल अवश्य गये थे, इतना स्वीकार करना पड़ेगा। जीवन भर कठिनाईयों और संघर्षों से जूझकर जो मान्यताएँ मानव-जीवन के प्रति स्थापित की थीं, वे सब उन्हें ही असत्य जान पड़ने लगीं। मानवता के प्रति अंतिम विजय के प्रति भी उनका विश्वास डिगने लगा था।... यह भले ही है कि उन्होंने हार को जीवन की जययात्रा मान ली परन्तु वह उनकी वास्तविक हार ही थी। जीवन-संग्राम में होरी की सदा हार हुई जिसे वह विजय पर्व ही मानता रहा।''[21] डॉ0 रामविलास शर्मा ने 'गोदान' की मूल समस्या को ऋण की समस्या बताया है।'[22]

'गोदान' प्रेमचंद का राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय महत्व का भी उपन्यास है, जहाँ किसान अपनी मरजाद तथा जमींन, जायदाद के लिए अपनी जान लड़ा देता है। सेठ, सामंत और साहूकार उसे जीवन-पर्यंत ठगते हैं फिर भी वह हार नहीं मानता, पराजित नहीं होता। डॉ0 रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की तुलना में 'गोदान' के विषय में लिखा कि- ''गोदान की गति धीमी है, होरी के जीवन की गति की तरह। यहाँ सैलाब का वेग नहीं, लहरों के थपेड़े नहीं। यहाँ ऊपर से शांत दिखने वाली नदी की भँवर हैं जो भीतर ही भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती है और दूसरों को वह तभी दिखाई देती है, जब उसकी लाश बहती हुई दिखाई देती है।''[23] मेहता जैसे शहर में खोखला जीवन जीने वाले लोग भी होरी के सामने परास्त हो जाते हैं। डॉ0 शर्मा का इस संदर्भ में मानना है कि- ''जवॉमर्दी की परीक्षा में सिर्फ होरी पास होता है, खेत में कुदाल चलाने वाला किसान और मानवतावाद पर लेक्चर झाड़ने वाले सब सज्जन फेल हो जाते हैं।''[24] और होरी जैसे परिश्रमी किसान की प्रशस्ति में उन्होंने लिखा- ''होरी का चरित्र भारत के अपराजेय किसान का चरित्र है। 'गोदान उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा है।''[25] किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि डॉ0 त्रिभुवन सिंह जैसे समीक्षकों का दृष्टिकोण डॉ0 शर्मा से भिन्न है, वे होरी की जीत को खोखली और आधारहीन बताते हैं और मानते हैं कि होरी जैसे भारत के अनेक किसानों का जीवन संघर्ष, जो सेठ-साहुकारों के तलवे चाटने को विवश होता है, जो ऋण के खातिर अपनी बेटी तक को बेंच देता है, वह आजीवन व्यवस्था से हारता ही रहता है। अतः उसके जीत की बात करना खोखला दावा प्रस्तुत करने जैसा है। दरअसल में - ''प्रेमचंद जी का अनुभव इतना विशाल था कि उसके अंदर मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष सिमट कर आ गया है।.... मानवता के पक्के हिमायती होते हुए भी अपने उपन्यासों में उन्होंने मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं का खुलकर चित्रण किया है।''[26] मधुरेश ने भी लिखा कि- ''प्रेमचंद ने सनातन हिन्दू आदर्शों के गरिमापूर्ण बखान का रास्ता छोड़कर उनकी जड़ता और अंतर्विरोधों का उद्घाटन किया और उनकी संवेदन-हीनता पर गहरी चोट की।''[27]

प्रेमचंद का अंतिम और अधूरा उपन्यास 'मंगलसूत्र' है, जिसके वे केवल चार अध्याय ही लिख सके थे। 'गोदान' और 'महाजनी सभ्यता' के साथ ही अपने इस अंतिम दौर की कहानी 'कफ़न' के आधार पर प्रेमचंद ने जिस मोहभंग का परिचय दिया, 'मंगलसूत्र' उसी का परिणाम है, यदि यह उपन्यास पूरा हुआ होता तो इसका स्वरुप कुछ और होता। यद्यपि कि उपन्यासकार प्रेमचन्द और कहानीकार प्रेमचंद दोनों में कोई भी एक दूसरे से कमतर नहीं हैं, फिर भी यदि दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो उपन्यासकार प्रेमचंद को ही चुना जायेगा, डॉ0 रामविलास जी ने लिखा कि- ''यदि कहानीकार प्रेमचंद और उपन्यासकार प्रेमचंद में किसी एक को ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जगह देने की बात हो तो शायद उपन्यासकार प्रेमचंद को ही उस जगह के लिए चुना जायेगा।''[28] डॉ0 शर्मा के अनुसार प्रेमचंद की कहानियाँ वहाँ अपनी स्वाभाविकता को खो देती हैं जहाँ वे पात्रों से जबरदस्ती हृदय-परिवर्तन कराते हैं। उनका यथार्थवादी चित्रण वहाँ अपनी चमक खो देता है। कहना न होगा कि प्रेमचंद पर एक

लम्बे अरसे तक गाँधीवाद का प्रभाव रहा, इस दौर में जो साहित्य उन्होंने रचा उस पर गाँधीजी के विचारों की स्पष्ट छाप है।

प्रेमचंद जीवन-पर्यंत 'कलम के सिपाही' बनकर सामंती और साम्राज्यवादी ताकतों से लड़ते रहे। वास्तव में ''प्रेमचंद ऐसी ही सच्चाई थे। देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई थे। केवल महफिल सजाने और मनोरंजन का सामान जुटाने वाले साहित्यकार हर्गिज नहीं। वह एक युग-निर्माता साहित्यकार थे, केवल साहित्य में युग को नाम देने वाले नहीं बल्कि अपने समय के सामाजिक जीवन को एक नई गति और एक नई दिशा प्रदान करने वाले। जिस समय विधवा विवाह को भी क्रांतिकारी सुधार समझा जाता था, उस समय की नारी मात्र की पराधीनता पर उन्होंने 'सेवासदन' लिखा और वेश्यावृत्ति के सामंती आधार को उठाकर पाठकों के सामने रख दिया। जिस समय जलियाँवालाबाग रौलट-ऐक्ट से भारत का पद-दलित आत्मसम्मान जाग उठा था, उस समय प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' लिखकर किसानों पर अंग्रेजी राज और उसके दलालों के अत्याचारों को दिखाया।... जिस समय देश में बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आंदोलन न चल रहा था, प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में दिखलाया कि जनता अब भी लड़ रही है, वह हारी नहीं है, वह जीतेगी। 'गोदान' में उन्होंने पढ़े-लिखे नौजवानों और किसानों की एकता की तरफ संकेत किया और किसानों के महाजनी शोषण का चित्र खींचा।... उन दिनों जब मंदिर-प्रवेश को अछूत समस्या हल करने का सबसे बड़ा साधन माना जाता था, उन्होंने 'कर्मभूमि' में अछूत किसानों और खेत-मजदूरों की भूमि समस्या पर दृष्टि केन्द्रित की और उसमें लगानबंदी की लड़ाई को उनकी मुख्य लड़ाई बताया। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जो संघर्ष, स्वाधीनता-आंदोलन के जो रूप दिखाये, वे सब हमारे सामने आये, यह इस बात का सुबूत है कि वह देशभक्ति और राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई थे।''[29]

प्रेमचंद एक युग-निर्माता साहित्यकार थे। अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने सदैव ही जनता को जगाने का कार्य किया, उसकी चेतना को आंदोलित किया। हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद के अवदान का मूल्यांकन करते हुए डॉ0 रामविलास शर्मा ने सच ही कहा है कि ''प्रेमचंद का साहित्य बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का सच्चा इतिहास है। हमारी जनता की सहृदयता, सहनशीलता और वीरता उनकी रचनाओं में फूल की तरह खिली हुई हैं। अंग्रेजों का बर्बर पुलिस राज, खूनी आतंक और उनके मित्रों का जनता से विश्वासघात उनकी रचनाओं में काले कुहरे की तरह छाया हुआ है।''[30] इस आधार पर डॉ0 रामविलास शर्मा के ही शब्दों में हम कह सकते हैं कि- ''प्रेमचंद की आवाज भारत की अजेय जनता की आवाज है। इसलिए प्रेमचंद आज भी हमारे साथ है।''[31] और आने वाले युगों में भी सदैव साथ रहेंगे। व्यास, बाल्मीकि, तुलसी, रवीन्द्र और निराला की भाँति प्रेमचंद भी भारतीय जन-मानस के हृदय में सदैव अमर रहेंगे, इसमें संशय नहीं है।

सन्दर्भ सूची

1. मधुरेश : 'हिन्दी उपन्यास का विकास; लोक भारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2008, पृ0 32
2. डॉ0 त्रिभुवन सिंह : 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा0लि0 सी0 21/31, पिशाचमोचन, वाराणसी, पंचम संस्करण 2054 वि0, पृ0 199
3. विश्वनाथ तिवारी (संपादक) : 'प्रेमचंद', प्रकाशन संस्थान 4715/21, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002' छठा सं0 2002, पृ0 27
4. रामविलास शर्मा : 'प्रेमचंद और उनका युग' राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1 बी. नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, छठा सं0 2011, पृ0 31
5. वही, पृ0 31
6. वही, पृ0 31
7. गोपाल राय : 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, द्वितीय संस्करण 2009, पृ0 129
8. रामविलास शर्मा : 'प्रेमचंद और उनका युग', वही, पृ0 33
9. वही, पृ0 42
10. वही, पृ0 42
11. वही, पृ0 45
12. वही, पृ0 51-52
13. वही, पृ0 62
14. वही, पृ0 66
15. मधुरेश : 'हिन्दी उपन्यास का विकास', वही पृ0 46
16. रामविलास शर्मा : 'प्रेमचंद और उनका युग', वही पृ0 79
17. वही, पृ0 80
18. वही, पृ0 81
19. वही, पृ0 95
20. मधुरेश : 'हिन्दी उपन्यास का विकास' वही पृ0 50
21. त्रिभुवन सिंह : 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' वही, पृ0 229
22. रामविलास शर्मा : 'प्रेमचंद और उनका युग', वही, पृ0 96
23. वही, पृ0 97
24. वही, पृ0 103
25. वही, पृ0 107
26. त्रिभुवन सिंह : 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', वही, पृ0 200
27. मधुरेश : 'हिन्दी उपन्यास का विकास', वही, पृ0 51
28. रामविलास शर्मा : 'प्रेमचंद और उनका युग', वही, पृ0 109
29. वही, पृ0 149-150
30. वही, पृ0 150
31. वही, पृ0 151

प्रेमचन्द के नाटकों में नारी जीवन का चित्रण

*डॉ. राकेश कुमार राम**

हिन्दी साहित्य मे प्रेमचन्द वह नाम है जिसे साहित्यिक जन के अलावा गैर साहित्यिक लोग भी जानते हैं। यह अलग बात है कि उनकी जेहन में प्रेमचन्द का नाम उनकी कहानियों अथवा उपन्यासों में कारण है। प्रेमचन्द ने कहानी अथवा उपन्यासों के अलावा प्रचुर मात्रा में बाल-साहित्य, महान व्यक्तियों की संक्षिप्त जीवनियाँ एवं नाटक भी लिखे। जीवनियों में राजा टोडरमल, गोपालकृष्ण गोखले, राणा प्रताप, गेरीबाल्डी, विवेकानन्द, अकबर, महात्मा शेखसादी एवं दुर्गादास की जीवनियाँ प्रमुख हैं। इसी तरह प्रेमचन्द ने तीन नाटकों (संग्राम-1922, कर्बला-1923 एवं प्रेम की वेदी-1933) की भी रचना की थी। यह अलग बात है कि प्रेमचन्द ने सिर्फ तीन नाटक ही लिखे। सम्भवतः इसका कारण नाटक की टैक्नीक और रंगमंच की कला रही हो। क्योंकि प्रेमचन्द का सारा ध्यान चरित्रों के उद्घाटन एवं अपने विचारों के वाहन के रूप में ज्यादा रहा है। जिसके लिए उपन्यास अथवा कहानी ज्यादा मुफीद रहे हैं। इस संदर्भ में प्रेमचन्द की यह स्वीकारोक्ति कि ''मुझे नाटकों से कहीं ज्यादा गुंजाइस अपने चरित्रों के उद्घाटन के लिए उपन्यासों में मिलती है। इसलिए मैंने अपने विचारों के वाहन के रूप में उपन्यासों को पसंद किया है''[1] इसका उदाहरण है। दूसरे प्रेमचन्द ने ईमानदारी से नाटक लिखने की कोशिश भी नहीं की। उनके समय में हिन्दुस्तान के पास रंगमंच नहीं थे। खासकर हिन्दी और उर्दू रंगमंच। इसलिए प्रेमचन्द ने नाट्य-लेखन को अलविदा कह दिया।

प्रेमचन्द ने जिन तीन नाटकों की रचना की है वे वाचिक अधिक हैं, रंगमंचीय कम। हालांकि थोड़े बहुत काट-छाँट के साथ इन नाटकों को मंच योग्य बनाया जा सकता है, जैसा कि प्रेमचन्द स्वयं भी कहते हैं ''लेखक की साक्षी है कि हमने ये नाटक खेले जाने के लिए नहीं लिखा। लेकिन इसे यदि कोई खेलना चाहे तो थोड़ी बहुत काट-छाँट से खेल भी सकते हैं।''[2]

प्रेमचन्द के तीनों नाटक हिन्दी नवजागरण और स्वराज संग्राम पर आधारित है। 'संग्राम' 1922 ई0 में लिखा गया लेकिन प्रकाशित हुआ सन् 1923 ई0 में। इस नाटक के केन्द्र में स्वराज समर्थक एक प्रगतिशील जमींदार है, जिसे सभी किसान हृदय से प्रेम करते हैं। वहीं जमींदार भी सभी किसानों से प्रेम करता है और ऐलान कर देता है कि ''गाँव से किसी तरह की बेगार न मिले। साफ कह देना, बिना जमींदार के हुक्म के हम लोग कुछ नहीं दे सकते। साहब लोग जब हमसे पूछेगा तो हम देख लूँगा।''[3] इसके बरक्स नाटक की स्त्री-पात्र राजेश्वरी को अपने मायके का क्रूर जमींदार याद आता है जो ''प्रजा को चैन नहीं लेने देता है। नित्य एक-न-एक बेगार, कभी बेदखली, कभी जाफा, कभी कुड़की, उसके सिपाहियों के मारे छप्पर पर कुम्हड़े-कद्दू तक नहीं बच पाते। औरतों को राह चलते छेड़ते हैं। लोग रात-दिन मनाया करते हैं कि इसकी मिट्टी उठे।''[4]

प्रेमचन्द की दृष्टि में भारतीय स्त्री का आदर्श त्याग, सेवा और पवित्रता है जिसे उन्होंने हलधर की पत्नी राजेश्वरी के माध्यम से पाठक के सम्मुख रखा है। जमींदार अपने ही किसान हलधर की पत्नी राजेश्वरी के प्रति एकतरफा आकर्षित होता है और उसे फाँसने के लिए हर तरह का प्रलोभन देता है। राजेश्वरी के इन्कार करने पर उसके पति हलधर को कर्ज न चुका पाने के अपराध में जेल भिजवा देता है। लेकिन राजेश्वरी जमींदार की इस क्रूरता के आगे भी हथियार नहीं डालती। वह जमींदार से छल करती है। प्रेम का नाटक करती है। साथ ही जमींदार के भाई के साथ भी प्रेम का नाटक करती है और दोनों को एक दूसरे के खून का प्यासा बना देती है। अपने उद्देश्य में सफल होते ही वह जमींदार से कहती है'' आपने अपनी लालसा को शांत करने के लिए एक बसे बसाए घर को उजाड़ दिया, उसके प्राणियों को तितर-बितर कर दिया। यह सब अनर्थ आपने अपने अधिकार के बल पर किया। पर याद रखिये ईश्वर भी आपको इस पाप का दण्ड भोगने से नहीं बचा सकता। आपने मुझसे उस बात की आशा रखी जो कुलटाएँ ही कर सकती हैं।''[5] इतना ही नहीं प्रेमचन्द राजेश्वरी के माध्यम से भारतीय स्त्री के पवित्रता एवं पतिनिष्ठता की बात भी कही, जैसा कि राजेश्वरी जमींदार से कहती है'' मेरी इज्जत आपने की। आँख की पुतली निकल जाए तो उसमें सुरमा क्या शोभा देगा? पौधे की जड़ काटकर फिर आप दूध और शहद से सींचे तो क्या फायदा? स्त्री का सत हरकर आप उसे विलास और भोग में डुबा ही दें तो क्या होता है? मैं अगर यह घोर अपमान चुपचाप सह लेती तो मेरी आत्मा का पतन हो जाता। मैं यहाँ उस अपमान का बदला लेने आई हूँ।''[6]

प्रेमचन्द भारतीय स्त्री के आदर्श के साथ कोई समझौता नहीं करते। इस आदर्शवादिता को प्रेमचन्द ने राजेश्वरी के चरित्र के माध्यम से नाटक में बड़ी संश्लिष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। राजेश्वरी को सीता की-सी अग्नि परीक्षा से गुजारा है। वह अपने आराध्य के शत्रुओं को नष्ट करने के लिए रौरव नर्क में कूदने से भी परहेज नहीं करती। वह अपने सतीत्व पर पाप की छाया नहीं आने देती। इस संदर्भ में

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, वाराणसी।

नाटक की एक अन्य महिला पात्र ज्ञानीदेवी का कथन कि ''कौन कहता है कि इसने अपनी लाज बेच दी? यह आज भी उतनी ही पवित्र है जितने अपने घर थी। इसने लाज बेचने के लिए इस मार्ग पर पग नहीं रखा बल्कि अपनी लाज की रक्षा के लिए इसने मेरे कुल का नाश कर दिया। इसलिए इसने यह कपट भेष धारण किया। एक सम्पन्न पुरूष से बचने का इसके सिवा कौन सा उपाय था.... इसने धर्म को स्वाद लिप्सा का भेंट नहीं चढ़ाया।''[7]

इस तरह प्रेमचन्द ने अपने पहले नाटक 'संग्राम' के माध्यम से भारतीय नारी के त्याग, प्रेम, पवित्रता एवं धर्म परायणा को समाज के सामने आदर्श रूप में रखा है। वैसे तो यह नाटक भारतीय स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रीय नवजागरण का उत्प्रेरक है, लेकिन स्त्री मानवतावाद के नए सौन्दर्य का प्रस्फुटन भी करता है। यहाँ प्रेमचन्द को भारतीय नारी का 'परी या तितली' बनाना स्वीकार नहीं था।

प्रेमचन्द का दूसरा नाटक 'कर्बला' 1924 ई0 में प्रकाशित हुआ था। इस नाटक की मूल विषय वस्तु प्रथम असहयोग आंदोलन में मुस्लिम कट्टर पंथियों की शिरकत, असहयोग और खिलाफत आन्दोलन की एकजुटता और उसकी असफलता से उत्पन्न सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका पर आधारित है। जैसा कि हम सब जानते हैं 'कर्बला' खलीफा यजीद और महात्मा हुसैन के बीच हुए धर्म-युद्ध का नाम है जहाँ धर्म युद्ध के योद्धा हुसैन की हार होती है और अधर्म का पक्ष लेने वाले यजीद की विजय होती है। कुछ यही स्थिति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ भारतीय सभ्यता का ठना हुआ समर कर्बला का ही समर है, जहाँ छल-प्रपंच की बदौलत अपने उद्देश्य में सफल होते हैं, लेकिन उनकी कुटिलता सबके सामने आ जाती है। यही स्थिति कर्बला के मैदान में भी होता है। यजीद अपने छल-प्रपंच से हुसैन को मरवा देता है लेकिन, हुसैन की शहादत से इस्लाम सुर्खरू जरूर हो जाता है।

प्रेमचन्द के इस नाटक में स्त्री-संदर्भ की बात नहीं की जा सकती है। यह वास्तव में इस्लाम के शासन तंत्र के उद्भव उत्कर्ष और ह्रास का एक मुकम्मल दस्तावेज है, जिसमें प्रेमचन्द नाटक की कथावस्तु के बहाने इस्लाम की तारीख पर प्रकाश डालते हैं। साथ ही साथ ब्रिटिश साम्राज्यवाद की घृणित मानसिकता की पोल भी खोलते हैं।

'प्रेम की वेदी' प्रेमचन्द का तीसरा और अंतिम नाटक है, जिसका प्रकाशन 1933 ई0 में हुआ था। नाटक की कथावस्तु प्रेम और विवाह के अन्तःसंबंधों, धर्म और प्रेम की समस्या तथा विवाह की रूढ़िवादी परिपाटियों पर आधारित है। इन सबके बहाने प्रेमचन्द स्त्री-अस्तित्व की बात समाज के सामने लाते हैं।

नाटक में दो परिवार है, एक ईसाई दूसरा हिन्दू परिवार। इस्लाम परिवार में दो महिला पात्र हैं, एक गार्डन और उनकी पुत्री मिस जेनी। इस परिवार का एक परिचित मित्र विलियम है। मिसेज गार्डन मिस जेनी के साथ विलियम का विवाह कराना चाहती हैं, लेकिन जेनी के इन्कार करने पर स्वयं विवाह कर मिसेज विलियम बन जाती हैं। वहीं दूसरा परिवार श्री योगराज और उनकी अल्पवयस्क पत्नी उमा का है। उमा अपनी अल्पवयस्कता के कारण तीन बार गर्भपात का शिकार होती है और अन्ततः इसी में उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

वस्तुतः प्रेमचन्द दोनों परिवारों की स्त्री-पात्रों के माध्यम से स्त्री के अधिकार और उसके अस्तित्व की बात करते हैं। यह हम सब जानते हैं कि पितृसतात्मक भारतीय समाज में पुरूष की प्रधानता नारी की पराधीनता सुनिश्चित करती है, जिसमें विवाह नारी की पराधीनता को अक्षुण्य रखने के साथ-साथ उसका आदर्शीकरण भी करता है। 'प्रेम की वेदी' में ईसाई परिवार की मिस जेनी विवाह को मर्द की गुलामी मानती हैं। इसीलिए वह कहती हैं ''रानियाँ हैं, वह भी गुलाम हैं। मजदूरिनें हैं वह भी गुलाम हैं। मर्द की दुनियाँ वह है, जहाँ नाम है, धन है, सम्मान है। स्त्री की दुनियाँ वह है, जहाँ पिसना है, घुलना है और कुढ़ना है। हर काम में औरत को मर्द की जवाबदेही करनी पड़ती है।[8] जेनी का विवाह सम्बन्धी यह दृष्टिकोण भारतीय इसाई मध्यमवर्गीय युवती का दृष्टिकोण है, जो अपने अधिकारों के प्रति सचेत है लेकिन भारतीय हिन्दू मध्यम वर्ग की युवती उमा वहीं परम्परावादी ढर्रे की शिकार है, जो अपनी उम्र से काफी बड़े योगराज से विवाह कर लेती है। जेनी जो उमा की सहेली भी है उसका उपहास करते हुए कहती है 'पहले तुम स्वतंत्र कुमारी थी। अब तुम पुरूष की एक दासी हो।.... तुमने जानबूझकर अपने पैरों में बेड़ियाँ डाली हैं, अपनी स्वाधीनता को, अपनी आत्मा को सोने और रेशम पर बेचा है... यह कंगन तुम्हारी गुलामी की हथकड़ी है, यह हीरे का हार गुलामी का तौक है।''[9]

जेनी के ये विचार भारतीय स्त्री के यथार्थ का एक पहलू है, तो उसका दूसरा पहलू लड़कियों की अल्पायु में ही विवाह हो जाने और अल्पवयस्क अवस्था में ही माँ बन जाने के कारण मृत्यु का ग्रास भी बन जाती हैं। उमा के साथ भी यही होता है। बार-बार गर्भपात कराने के कारण उमा रक्ताल्पता का शिकार हो जाती है। इतना ही नहीं वह मृत्यु के कगार तक पहुँच जाती है। इसे हिन्दू समाज की कुरीति के रूप में प्रकट करके प्रेमचन्द हिन्दू समाज के पिछड़ेपन पर प्रहार करते हैं। प्रेमचन्द इस विचार को लेडी डॉक्टर के माध्यम से व्यक्त करते हैं, जहाँ वह उमा के पति योगराज से कहती है, ''आपके ही कारण इनकी यह दशा हुई। सालभर में दो गर्भपात और तीसरा गर्भ, एक कमसिन, कोमल प्रकृति की बालिका कितनी अत्याचार सह सकती। आप शिक्षित हैं, दुनियाँ देख चुके हैं। आपको विवाह से पहले इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए था। जिस वक्त उमा देवी आई थीं, उन्हें देखा था। खिले हुए गुलाब का-सा चेहरा था।

एक साल के अन्दर उनकी यह दशा हो गई, कि देह में रूधिर का नाम नहीं। इसके जिम्मेदार आप हैं।[10]

प्रेमचन्द इस नाटक में स्त्री-अधिकार की बात भी करते हैं। इसे लेडी डाक्टर विल्सन पुरूष के वर्चस्व और प्रभुत्व के अमानवीय कृत्यों की ओर संकेत करते हुए कहती है ''पुरूषों के लिए स्त्री केवल विषय-भोग का यंत्र है। वह स्त्री पर जितना चाहे अत्याचार कर सकते हैं। अगर स्त्री की ओर से कुछ अरूचि हो, तो उसके शत्रु हो जायेंगे। वह बेचारी पति को प्रसन्न रखने के लिए सबकुछ झेलने के लिए तैयार रहती है। सभी घरों में यही तमाशा देखती हूँ। अगर क्षय रोग न फैले तो क्या हो।''[11]

प्रेमचन्द जेनी के माध्यम से विवाह संस्था और स्त्री-पुरूष संबंध को नये सिरे से परिभाषित कराते हैं, और कहते हैं- ''विवाह मेरी दृष्टि में आत्मिक संबंध है। उसे रस्म के बंधनों से जकड़ना मैं अनावश्यक ही नहीं पाप समझती हूँ। दिल का मिलना ही विवाह है। रस्म के बंधन से स्त्री-पुरूष को बाँध देना वैसा ही है, जैसे दो पशु एक रस्सी में जोत दिए गए हों। जिस बंधन का आधार समाज या धर्म का भय है, वह कभी सुखकर नहीं हो सकता। सुख का मूल्य स्वच्छंदता है, बंधन नहीं प्रेम भी जल प्रवाह की भाँति मुक्त रहना चाहता है। अवरोध से उसमें कीट पैदा हो जाता है, उसमें दुर्गन्ध आने लगती है। मेरा तो विचार है कि प्रेम बंधनों में पड़कर उस प्रकार निष्प्राण हो जाता है जैसे कोई पौधा प्रकाश न पाकर निर्जीव हो जाता है।''[12]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने अपने नाटकों में ('कर्बला' को छोड़कर) स्त्री के ऊपर हो रहे हर प्रकार की शारीरिक, मानसिक प्रताड़ना, परतंत्रता, मिथ्या धारणाओं और रूढ़िगत मान्यताओं के बंधन से घृणा करते थे। स्त्री को इन सभी बंधनों से वे मुक्ति चाहते थे। इसीलिए उनके नाटकों में कहीं-कहीं आदर्शवाद भी परिलक्षित होता है। 'संग्राम' 'प्रेम' की वेदी एवं 'कर्बला' प्रेमचन्द की प्रगतिवादी एवं यथार्थवाद के स्पष्ट उदाहरण हैं। स्त्री के संदर्भ में यह परिवर्तन अनायास नहीं था। वे स्त्री-पुरूष को समान भाव से आगे बढ़ते हुए देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने 'संग्राम' एवं 'प्रेम की वेदी' जैसी समस्या प्रधान नाटकों की रचना की। इन नाटकों में उनकी प्रगतिशील विचार धारा प्रखर रूप से सबके सामने आती है और इसीलिए वे जनभावनाओं के सच्चे साहित्यकार भी हैं। वैसे भी ''साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, अगर यह उनका स्वभाव न हो तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।''[13] प्रेमचन्द ने इस अर्न्तवस्तु को प्रस्तुत करके एक महत्वपूर्ण साहित्यिक सहकार अपने पाठकों को सौंपकर, हिन्दी नाटक के क्षेत्र में एक महान योगदान करके हिन्दी जगत को कृतार्थ कर गए।

संदर्भ-सूची

1. प्रेमचन्द का कथेतर साहित्य, डा. भरत सिंह, गोदारण प्रकाशन, अलीगढ़ प्रथम संस्करण-2004, पृ. 54
2. वही, पृ. 54
3. संग्राम, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-10, पृ. 16
4. वही, पृ. 17
5. वही, पृ. 150
6. वही, पृ. 15
7. वही, पृ. 170
8. प्रेम की वेदी, प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-10, पृ. 373
9. वही, पृ. 374
10. वही, पृ. 389
11. वही, पृ. 390
12. वही, पृ. 405
13. प्रगतिशील लेखक संघ (1936) की अध्यक्षता करते हुए प्रेमचन्द का संबोधन।

शान्ति का मनोविज्ञान, भारतीय मनीषी चिन्तन एवं शान्तिमूलक अपराधशास्त्र

डॉ. विभा त्रिपाठी एवं डॉ. माया सिंह***

21वीं सदी के भौतिकतावादी, प्रतिस्पर्धी, हिंसामूलक और आत्मकेन्द्रित समाज को उनके समस्त झंझावतों से मुक्ति दिलाने हेतु आवश्यकता है शान्ति की। शान्ति का मनोविज्ञान जानना ही जीवन का लक्ष्य बने और मनुष्य अपने मनुष्यत्व की अनुभूति कर पूर्णता और शुद्धता की नींव पर सामन्जस्य और सद्भाव की इमारत बनाये इसके लिए आवश्यकता है एक सिद्धान्त की, एक दृष्टि की और एक दिशा निर्देशन की।

शान्ति के अग्रदूत भगवान बुद्ध, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, देवपुरुष महर्षि अरविन्द, श्री माँ, भारतवर्ष के युग-पुरुष महान वेदान्ती एवं अध्यात्मिक गुरु स्वामी विवेकानन्द जी एवं काशी हिन्दू विश्वविश्वालय के संस्थापक पं. मदन मोहन मालवीय जी का दर्शन सम्पूर्ण भूमण्डल को सकारात्मक ऊर्जा प्रदान करता है। लगभग एक सदी से भी पूर्व के ऐसे महान चिन्तकों के दर्शन में वह अदृश्य शक्ति है जो विश्व को परिवर्तित कर शान्ति की ओर उन्मुख करती है।

अपराध, अपराधिता और अपराध निवारण का अध्ययन करने वाली ज्ञान की विधा, अपराधशास्त्र की एक नवीन उपज है शान्तिमूलक अपराधशास्त्र। सन् 1980 के उत्तरार्ध में इण्डियाना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैरोल्ड पेपिन्सकी ने अपराधियों एवं समाज के बीच की खाई को पाटने के लिए शान्तिमूलक तकनीक को अपनाने का विचार विकसित किया।[1] शान्तिमूलक अपराधशास्त्र सेवा की बात करता है और ''अनुकम्पा अपराधशास्त्र'' भी कहलाता है।[2]

हैरोल्ड पेपिन्सकी एवं रिचर्ड क्वीनी द्वारा विकसित शान्तिमूलक अपराधशास्त्र हिंसा, उत्पीड़न एवं सामाजिक अन्याय के विरुद्ध एक अहिंसात्मक आन्दोलन है, जिसमें अपराध एक ऐसे सामाजिक संरचना का उत्पाद माना जाता है जो समाज के कुछ समूहों को अलाभकारी स्थिति में रखता है, लोगों को एक दूसरे का विरोधी बनाता है और उनमें बदला लेने की प्रवृत्ति जगाता है।

अपराधशास्त्र की इस विधा के समक्ष दो प्रश्न हैं। पहला- अपराध पर अंकुश कैसे लगे? और दूसरा शान्ति कैसे स्थापित की जाये? इस विधा के प्रणेताओं का मानना है कि अपराध एक प्रकार की पीड़ा है और अपराध की समाप्ति के लिए हमें पीड़ा की समाप्ति करनी होगी। पीड़ा की समाप्ति शान्ति स्थापना से ही सम्भव है। शान्तिमूलक अपराधशास्त्रियों का मानना है कि अपराध नियन्त्रण के दो ज्ञात तरीके हैं पहला युद्धमूलक और दूसरा शान्तिमूलक। वर्तमान व्यवस्था अपराध नियंत्रण हेतु हिंसामूलक तकनीक अपनाती है। अपराधी, पीड़ित एवं अपराधिक न्याय प्रणाली का त्रिकोण हिंसा पर ही विश्वास करता है। यही कारण है कि समाज आज तक अपराधमुक्त नहीं हो पाया। अतः इनका सुझाव है कि अहं केन्द्रित आत्म से ऊपर उठकर, प्रेम एवं अनुकम्पा के आधार पर पीड़ा को खत्म किया जा सकता है और व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तरों पर शान्ति स्थापित की जा सकती है।[3]

शान्तिमूलक अपराधशास्त्र शिक्षा की भूमिका की ओर ध्यान इंगित करता है। अपराध नियन्त्रण को मानव अधिकार के प्रवर्तन के रूप में देखता है।[4] पुनर्स्थापनीय न्याय (Restorative Justice) की संकल्पना शान्तिमूलक अपराधशास्त्र की ही देन है जिसमें पीड़ित व्यक्ति एवं समाज के साथ अपराधी को भी पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है।

यद्यपि यह स्थापित मान्यता है कि शांतिमूलक अपराधशास्त्र की विधा मूलतः रिचर्ड क्वीनी एवं हैरोल्ड पेपिन्सकी ने विकसित की है, परन्तु शांति का मर्म मूलतः भारतीय दर्शन एवं चिन्तन से ही प्रस्फुटित होता है। भारतीय मनीषियों ने शान्ति स्थापना के जिन उच्चादर्शों की अभिव्यक्ति सहज ही कर दी है उसका पश्चिम में अनुकरण और अनुकूलन मात्र ही हो पाया है। अतः प्रस्तुत शोध प्रपत्र में प्रयास किया गया है शांति के उस मनोविज्ञान को समझने का जिसकी दृष्टि समाहित है, गौतम बुद्ध, महर्षि अरविन्दो, श्री माँ, स्वामी विवेकानन्द, महामना पं. मदन मोहन मालवीय एवं महात्मा गाँधी के शक्तिदायी, प्रेरक और जीवनोपयोगी दर्शन में। उनकी उक्तियाँ किस प्रकार मनुष्य को पापबोध से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं और किस प्रकार शान्ति स्थापना हेतु मौलिक चिन्तन प्रदान करती हैं और कैसे यह कहा जा सकता है कि वास्तव में यह भारतीय मनीषा का ही दर्शन है जो शान्तिमूलक अपराधशास्त्र की नींव है। भारत, भारतीय दर्शन, भारतीय मनीषी चिन्तन एवं भारतीयता का मौलिक उद्बोधन है, प्रेम, सद्भाव, सौहार्द एवं शान्ति। संसार पर विजय युद्ध से नहीं वरन् शान्ति से प्राप्त की जा सकती है। शान्ति की महत्ता को स्वीकार करने वाले बुद्धिजीवियों ने इसे अध्ययन की हर विधा में शामिल करने का प्रयास किया है। शान्तिमूलक अपराधशास्त्र भी अध्ययन की एक ऐसी ही विधा है जिसको पढ़कर यह प्रतीत होता है कि इस शान्तिमूलक अपराधशास्त्र की नींव तो भारतीय चिन्तन एवं दर्शन है।

---

*एसोसिएट प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

**असिस्टेन्ट प्रोफेसर, आर.एस.के.डी.पी.जी. कॉलेज, जौनपुर द्वारा लिखित संयुक्त प्रपत्र।

गौतम बुद्ध का शान्ति दर्शन अद्वितीय है। आपका कहना था कि व्यक्ति अपने क्रोध के लिए दण्ड नहीं पायेगा वरन् अपने क्रोध द्वारा दण्ड पायेगा। भारत बुद्ध की धरती है और बुद्ध की धरती युद्ध नहीं वरन् अमन और शान्ति चाहती है। आप कहते थे कि हजारों खोखले शब्दों से अच्छा वह एक शब्द है जो शांति लाये।[5] भगवान बुद्ध के अनुकरणीय उद्‌बोधन उल्लेखनीय हैं-

1. सभी बुरे कार्य मन के कारण उत्पन्न होते हैं अगर मन परिवर्तित हो जाये तो क्या अनैतिक कार्य कर सकते हैं?
2. घृणा, घृणा से नहीं प्रेम से खत्म होती है यह शाश्वत सत्य है।
3. क्रोध को पाले रखना गर्म कोयले को किसी और पर फेंकने की नीयत से पकड़े रहने के समान है। इसमें आप ही जलते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का अहिंसा आन्दोलन, सत्याग्रह एवं शांति सन्देश स्वतः ही अपना महात्म्य सिद्ध करता है। आपराधिक न्याय प्रशासन के सन्दर्भ में आपकी कतिपय उक्तियों ने दाण्डिक सिद्धान्तों की सीमाओं का उचित विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

1. आँख के बदले आँख का सिद्धान्त पूरे विश्व को अंधा बना देगा।
2. पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।
3. क्रोध एवं असहनशीलता उचित समझ के शत्रु हैं।
4. कमजोर व्यक्ति कभी क्षमा नहीं कर सकता। क्षमा वीरों का आभूषण है।

महर्षि अरविन्द का सम्पूर्ण दर्शन मार्ग प्रशस्त करता है मोक्ष का, शांति का, सत्य का और अन्तिम विजय का। महर्षि अरविन्द में समाहित है स्वर्ग की प्रशान्त गति, मार्धुयमयी महानता, निष्पाप आवेग और एक द्रुतगामी शक्ति। आपके लिए सही कहा गया है-

''तेरे स्वर्णिम प्रकाश का मेरे मस्तिष्क में हुआ अवतरण
और मन के धुंधले कक्ष हो गये सूर्यायित
प्रज्ञा के तान्त्रिक तल के लिए एक उत्तर प्रसन्न
एक शान्त प्रदीपन और एक प्रज्जवलन''[6]

महर्षि अरविन्द का मानना था कि सब कुछ परिवर्तित हो जायेगा यदि मनुष्य अपने आध्यात्मिकरण के लिए एक बार सहमति दे सके, किन्तु उसकी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति उच्चतर विधान के प्रति विद्रोहात्मक है। उसे अपनी अपूर्णता से प्रेम है। अतएव आप कहा करते थे कि अपनी दुर्बलताओं को पहचानना और उनसे पीछे हटना मुक्ति की ओर जाने का मार्ग है।[7]

श्री अरविन्द जिस आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हैं, वह है मानवता के अन्दर भगवान को पाना, उन्हें उसके अन्दर अभिव्यक्त करना। यही उपहार वे मानवजाति को देना चाहते हैं। भगवान को मनुष्यों के अन्दर अभिव्यक्त करना और सशरीर उतारना। उनका लक्ष्य केवल मानवजाति में सुधार लाना नहीं बल्कि पूर्ण बदलाव और रूपान्तरण है, मानवजाति का दिव्यीकरण है।[8]

श्री अरविन्द की भाँति श्री माँ का दर्शन भी मन और आत्मा को शान्ति का दिव्य संदेश प्रदान करता है। श्री मातृवाणी में यह उल्लिखित है कि

''बहुत शान्त रहो और बहुत धीरज रखो, कभी गुस्सा न करो, दूसरों का स्वामी बनने से पहले स्वयं अपने स्वामी बनो।[9]''

''मुझे कभी ऐसा नहीं लगता है कि मैं क्षमा कर रही हूँ। प्रेम क्षमा नहीं करता, वह समझता और उपचार करता है।''[10]

''बलवान सत्ता हमेशा शान्त होती है। दुर्बलता ही चञ्चलता का कारण होती है।''[11]

''अतिशयता, वह चाहे जो भी रूप ले, उग्रता है, केवल शान्ति, समता और सामन्जस्य में ही सत्य की खोज की जा सकती है और उसमें निवास किया जा सकता है।

''आदमी को हमेशा केवल बौद्धिक ढंग से ही नहीं, मनोवैज्ञानिक ढंग से सीखते रहना चाहिए, उसे चरित्र की दृष्टि से प्रगति करनी चाहिए, अपने अन्दर गुण उपजाने और दोष ठीक करने चाहिए। हर चीज को अपने अज्ञान और अक्षमता को दूर करने का अवसर बनाना चाहिए। तब जीवन बहुत अधिक रूचिकर और जीने का कष्ट उठाने-योग्य बन जाता है।''[13]

श्री माँ कहा करती थीं कि अवसाद किसी भी तरह का या कहीं से भी आया हो, उसके साथ केवल एक ही तरह से बरतना चाहिए और वह है उसे बाहर फेंक देना। आप हर एक व्यक्ति को दोष स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती थीं और कहती थीं कि दोष स्वीकार करने का प्रत्येक कार्य 'अन्धकार' के एक अधिपति के ध्वंस के समान है।

महर्षि अरविन्द एवं श्री माँ का दर्शन शाान्ति की प्रस्थापना में एक प्रकाश पुंज की भाँति कार्य करता है। यह एक ऐसी विशुद्ध आत्मा की खोज को प्रेरित करता है, जिसका किसी से द्वेष न हो जिसकी किसी में आसक्ति न हो और वह रमा हो तो बस उस एक 'परम सत्ता' के ध्यान में जहाँ से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। हिंसा, घृणा, कलह, छल एवं कपट जैसे शब्दों का कहीं कोई स्थान न रह जाये ऐसा ही संदेश मुखरित होता है, हर उद्‌बोधन में।

स्वामी विवेकानन्द जी ने आध्यात्मिक आधार पर शान्ति और बन्धुत्व की कल्पना की। आप कहते थे कि ''संघर्ष नहीं मदद, विनाश नहीं समावेशन, मतवैभिन्य नहीं वरन् समन्वय एवं शान्ति।''स्वामी विवेकानन्द

जी के साहित्य सर्वेक्षण[14] से ज्ञात होता है कि आपका सम्पूर्ण दर्शन शान्तिमूलक समाज की स्थापना हेतु ही समर्पित है। शान्तिमूलक अपराधशास्त्रियों ने जहाँ शिक्षा व्यवस्था में सुधार की बात कही वहीं स्वामी विवेकानन्द के दर्शन में बात की गई है। ऐसी शिक्षा व्यवस्था की जो चरित्र निर्माण कर सके। मस्तिष्क की दक्षता में वृद्धि करे बौद्धिकता का विस्तार कर सके और जिसके माध्यम से व्यक्ति आत्मनिर्भर हो सके।

स्वामी विवेकानन्द जी के जिन विचारों को शान्तिमूलक अपराधशास्त्र की नींव माना जाना चाहिए वह इस प्रकार हैं—

1. शिक्षा मनुष्य में निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है। हमें उन विचारों की आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, 'मनुष्य'-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण में सहायक होता हो।
2. अनन्त धैर्य, अनन्त पवित्रता तथा अनन्त अध्यवसाय सत्कार्य में सफलता का रहस्य है।
3. भारत देश का राष्ट्रीय आदर्श है : त्याग और सेवा। आप इसकी इन धाराओं में तीव्रता उत्पन्न कीजिए और शेष सब अपने आप ठीक हो जायेगा।
4. संसार की क्रूरता और पापों की बात मत करो। इसी बात पर खेद करो कि तुम अभी भी क्रूरता देखने का विवश हो। इसी का तुमको दुःख होना चाहिए कि तुम सब ओर केवल पाप देखने के लिए बाध्य हो। यदि तुम संसार की सहायता करना आवश्यक समझते हो तो उसकी निन्दा मत करो।[15]
5. 'जड़' यदि शक्तिशाली है तो विचार 'सर्वशक्तिमान' है। इस विचार को अपने जीवन में उतारो और अपने आपको सर्वशक्तिमान, महिमान्वित और गौरव सम्पन्न अनुभव करो। ईश्वर करे, तुम्हारे मस्तिष्क में किसी कुसंस्कार को स्थान न मिले। ईश्वर करे, हम जन्म से ही संस्कार डालने वाले वातावरण में रहें और कमजोरी तथा बुराई के विचारों से बचें।[16]
6. मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षण भंगुर हैं, पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं, शेष तो सब जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।[17]
7. हमारा सर्वश्रेष्ठ कार्य तभी होगा, हमारा सर्वश्रेष्ठ प्रभाव तभी पड़ेगा जब हममे अहं भाव लेशमात्र भी न रहेगा।[18]
8. श्रेष्ठतम जीवन का पूर्ण प्रकाश है आत्मत्याग, न कि आत्माभिमान।[19]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने अनेक बार 'शील' को रेखांकित किया है। 'शीलं परम् भूषणम्', शील ही मनुष्य का सबसे उत्तम भूषण है। महामना के कुछ उद्धरण एवं उक्तियाँ जो शांतिमूलक हैं, इस प्रकार हैं-[20]

1. ''सच्चा तप यह है कि अपने भाईयों के तप से जाय, सच्चा यज्ञ यह है जिसमें स्वार्थ की आहुति दी जाय, सच्चा दान यह है कि परमार्थ किया जाये और सच्ची ईश्वर सेवा यह है कि दुःखी जीवों की सहायता की जाय।''
2. ''मन को जीतना, काम-मोह-क्रोध से बचना और शुद्ध संकल्पयुक्त रहना, किसी विषयवृत्ति के कारण विक्षिप्त होकर भी उस पर विजय प्राप्त करना, व्यवहार काल में छल-कपट धोखा फरेब से मन को दूर रखना, मन को सात्विक बनाना है। यह मन द्वारा सात्विक तप करना है।''
3. ''राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को आचार के शासन से सज, शासित तथा प्रभावित रहना चाहिए, तभी उनमें विश्वास, मृदु-भाषण तथा व्यवहार की सच्चाई और सद्गुणों का विकास हो सकता है।''
4. ''शिक्षा सारे सुधारों की जड़ है।''
5. ''जनता की स्थिति में उन्नति ही स्वराज्य की वास्तविक परीक्षा है।''[21]

उपरोक्त विचार तो मात्र क्षणिकायें हैं। सम्पूर्ण दर्शन तो माँग करता है परिवर्तन की, समर्पण की, सेवा-भावना की एवं कल्याण की। यदि ऐसे महान विचारों का उदारतापूर्वक एवं पूर्ण मनायोग से प्रचार-प्रसार किया जाये, मानव मात्र को अपनी पूर्णता एवं दिव्यता का आभास हो तो ईर्ष्या-द्वेष, कलह, हिंसा जैसे विकार स्वतः समाप्त हो जायेंगे।

अन्त में यह प्रपत्र विवेकानन्द जी की एक उक्ति के साथ समाप्त होता है।

'उठो! जागो! तब तक चलते रहो जब तक तुम्हें तुम्हारा लक्ष्य नहीं मिल जाता।'

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Criminology as Peacemakiog, Edited by Harold E. Pepinsky and Richard Quinney, Bloomington: Indiana University Press, 1991. Reviewed by David P. Aday, Jr. (College of William and Mary), Contemporary Sociology, Vol. 21, March 1992, pp. 238-239.
2. Richard Quninney, "Life of Crime : Criminology and Public Policy as Peace making", Journal of Crime and Justice, Vol. 16, No. 2(1993), pp.-3-9. Cited in Frank Schmallager, Criminology Today, 556-591 at p. 573, Second edn, 1999, New Jersy.
3. तत्रैव
4. तत्रैव
5. भगवान बुद्ध के अनमोल विचार, Guatam Buddha quotes in hindi, www achhik hatar. com
6. श्री अरविन्द CWSA खण्ड-2, पृ0 605, निम्नलिखित सन्दर्भ संख्या, 7

7. श्री अरविन्द, खण्ड 24, पृ0 1684, अग्निपरीक्षा, जनवरी, 2012 में उद्धरित, सम्पादिका वन्दना, प्रकाशक, प्रदीप नारंग, श्री अरविन्द सोसाइटी, पाण्डिचेरी।
8. जीने की कला-आध्यात्मिकता, नलिनी कान्त गुप्त, पुरोधा, पृ0 43+45, उपरोक्त सन्दर्भ सं0 7
9. श्रीमातृवाणी, खण्ड 12, पृ0 176, उपरोक्त सन्दर्भ सं0 7
10. श्रीमातृवाणी, खण्ड 16, पृव 202, उपरोक्त सन्दर्भ सं0 7
11. श्रीमातृवाणी, खण्ड 16, पृ0 117
12. दैनन्दिनी, उपरोक्त सन्दर्भ 7
13. तत्रैव, उपरोक्त सन्दर्भ 7
14. विवेकानन्द-राम को आह्वान, संकलन, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2012, बाइसवाँ पुनर्मुद्रण, विवेकानन्द एक जीवनी मूल लेखक स्वामी निखिलानन्द, अनुवादक स्वामी विदेहात्मानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, षष्ठ संस्करण, 1998, भारत और उसकी समस्यायें स्वामी विवेकानन्द, संकलन स्वामी निर्वेदानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पंचम पुनर्मुद्रण 2012 स्वामी विवेकानन्द, राष्ट्र और सन्देश, स्वामी ब्रम्हेशानन्द, रामकृष्ण मठ नागपुर, प्रथम संस्करण, 2013।
15. तत्रैव, अध्याय एक विश्वास और शक्ति, पृ0 3-7
16. तत्रैव, पृ0 7-8
17. तत्रैव, अध्याय दो, प्रेम और निःस्वार्थता, पृ0 16
18. तत्रैव, पृ0 19-20
19. तत्रैव, पृ0 20
20. श्रद्धा, महामना पं0 मदन मोहन मालवीय 150वीं जयंती स्मरणोत्सव वर्ष (25 दिसम्बर 2011-12), सम्पादक, डॉ0 विश्वनाथ पांडेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, 2013
21. महामना पं0 मदन मोहन मालवीय, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विचार, सम्पादन डॉ0 विश्वनाथ पांडेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 2011, परिशिष्ट 3, मालवीय वचनामृत, पृ0 7

●

सामाजिक बहकाव एवं ज्योतिषीय निदान

डॉ. रत्नाकर पाण्डेय एवं डॉ. रामजीवन मिश्र***

प्राचीन काल में मिल जुलकर उत्सव मनाने भोज-भात (Party) की क्रिया को 'समाज' कहते थे। वाल्मीकि रामायण में अयोध्यापुरी के वर्णन में 'समाजोत्सव' शब्द का प्रयोग या श्रीमद्भागवत महापुराण में 'समाज' शब्द का प्रयोग जन समूहों के उद्देश्य पूर्ण रूप से खान-पान हेतु एकत्र होने के सन्दर्भ में दिखाई देता है। समाज या सामूहिक क्रियाकलाप की उद्घोषणा करते हुये रामायणकार वाल्मीकि कहते हैं कि—

'उत्सवं च समाजश्च वर्धने राष्ट्रवर्धनः'।
आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम्।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम॥[1]
समाजस्तु महाञ्जातो देव विस्मयकारकः।
यदैवासनमास्थाय गोकर्णोऽकथयत्कथाम्॥[2]

कौटिल्य ने भी यात्रा, समाज, उत्सव एवं प्रवहण की मान्यता दी थी जिसमें चार दिन तक तो सुरापान पर भी प्रतिबन्ध नहीं रहता था।[3] यही नहीं **'हितार्थे सर्वलोकाय'**[4] या **'सर्वलोकहिते रताः'**[5] का उद्घोष **अर्थशास्त्र (कौटिल्य)** एवं **महाभारत** में तो मिलता है किन्तु पशु-पंछियों, नदी-नालों, पोखर-तालाबों, बेजुबान जानवरों के प्रति क्रूरतम व्यवहार, विहार यात्राओं, यज्ञ, पशुबलि, आखेट, रथशोभायात्रा, पशुयुद्धों में समाजोत्सव धार्मिक और वैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त होकर प्रचलित थे। स्मृतियों एवं शान्ति के पर्याय बौद्ध वाणियों में भी मनुष्य द्वारा खाये जाने योग्य एवं न खाये जाने योग्य पशु पक्षियों की एक लम्बी तालिका मिलती है। यहाँ तक कि मानव समूह के निचले पायदान पर स्थित वंचित या दास तबका पशु-पंछियों जैसा वस्तुमात्र बनकर रह गया था। ऐसे समय में एक विराट् व्यक्तित्व के रूप में सम्राट् अशोक आये। उन्होंने प्राणीमात्र के वध को ही नकार दिया। उनके सहबाज गढ़ी शिलालेख (11) एवं कालसी शिलालेख (9) में सेवक या दास के प्रति उत्तम व्यवहार तथा पशुओं के बलि निषेध की सख्त हिदायत सामने आती है। **डाक्टर फ्लीट एवं डेविस राइस** ने स्पष्ट लिखा है कि 'अशोक ने ईश्वर, आत्मा, बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखवाया''।[6] अर्थात् सम्राट् अशोक मात्र बुद्ध से प्रभावित व्यक्तित्वों में नहीं थे। उन पर सम्पूर्ण भारतीय परम्परा का प्रभाव था, क्योंकि वे स्वीकार भी करते हैं कि **'एसा चरणा यकिति दिद्यावुसे च एसा हेवं एस कतवीये'** अर्थात् जीवदया को अशोक ने 'प्राचीन पुरातन परम्परा पर आधारित कर्तव्य' कहा। गिरिनार से पास प्राप्त शिलालेख में अशोक ने स्पष्ट आदेश दिया कि समाज या उत्सव में बहुत से दोष हैं। वे कहते हैं कि किसी भी जीव को मारा न जाय साथ ही सामाजिक आयोजन बिल्कुल न किये जाँय क्योंकि, समाज आयोजनों से बहुत से दोष पनपते हैं। **''न किंचि जीवं आरभित्या, प्रजूहितव्यं न च समाजो कतव्यो, बहुकं हि दोषं समाजम्हि पसति''।**[7] प्रस्तुत लेख के माध्यम से समाज या सामूहिक गतिविधि की विकास यात्रा का एक चित्र प्रस्तुत करना ही इष्ट है जिससे विश्व मानवता अपना मूल्यांकन कर सके और भविष्य की कुशल भित्ति के निर्माण में ज्योतिषीय भूमिका के महत्व को भी आत्मसात कर सके।

आज समाज समूहों का सूचक हो गया है। ग्रामीण समाज, शहरी समाज, पर्वतीय समाज, जंगली समाज, वंचित समाज, पिछड़ा समाज, नारी समाज, आदि अनेक रूपों में इन समूहों का आकलन किया जा सकता है। इन समूहों की वेषभूषा, रहन-सहन, खान-पान की शैली में परिवर्तन होते रहे जिसे सभ्यता का परिवर्तन तो कहा जा सकता है किन्तु ये परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं थे क्योंकि, संस्कृति अतरंग कल्पना में निवास करती है न कि व्यावहारिक विकृति में। इस प्रकार कुछ समाजों की बाह्य सुन्दरता तो दिखी किन्तु आन्तरिक भयावह प्रवृत्तियाँ दबी रह गयीं। वास्तव में सामाजिक पसन्द या नापसन्द की जड़ें गहन गूढ़, अन्तरंग हृदयों में दबी रह जाती हैं। मानकों के कमजोर पड़ने, प्रेरक चरित्रों की गिरावटों या उत्छृंखल उन्मुक्तताओं को पाकर समाज संवेदनहीन रिक्तता में परिवर्तित होने लगता है। रिक्तता या उससे पोषित रिक्त वर्ग ही समाज की सबसे बड़ी समस्या बन जाता है। जैसे-2 अवसाद, निराशा, कुण्ठा, रागद्वेष, बँटवारे, विखण्डन या असन्तोष की रिक्तता समाज में आने लगती है वैसे-2 समाज आत्मनियन्त्रण से मुक्त भीड़ मात्र बनकर रह जाता है जो उद्देश्यविहीन होकर विनाश की ही चाहत में रत हो जाता है। रिक्त समाज उल्लुओं की तरह प्रकाश से घबराने लगता है, भेड़ियों की तरह जिस किसी पर भी गुस्सा कर बैठता है, कुत्तों की तरह अपने ही वर्ग का दुश्मन बन जाता है। गिद्धों की तरह ऊँचाइयाँ प्राप्त कर भी सड़े-गले मांस रूपी नश्वर वस्तुओं की लालच में मग्न रहता है, और तो और चकवा-चकई की भाँति कामजनित पीड़ा से पीड़ित होकर अनर्गल कृत्यों से भी नहीं घबराता।

---

*पूर्व शोध-छात्र, ज्योतिष विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**एसोसिएट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

गरीबी घातक नहीं होती विषमता घातक होती है। विषमता भी रिक्तता की जननी होती है। वह व्यक्ति या समाज को हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई, बौद्ध, जैन जैसे किसी धर्म या पंथ का ठीक से अनुयायी भी नहीं रहने देती। विषमता से पीड़ित मनुष्य या उसका समाज बड़ी आसानी से सेकेण्ड हैण्ड विचारधारा को आत्मसात कर लेता है। उसका न तो पुरातन के प्रति अक्षुण्ण प्रेम ही जीवित रह पाता है न तो भविष्य की अज्ञात भयोत्पादकता से लड़ सकने का सम्बल। सृजनात्मकता से हीन एक विशेष प्रकार के द्वन्द और तनाव से भरा-विषमता पीड़ित समाज आये दिन भ्रामक संगठनों की तपिश झेलता हुआ अभाव, अशिक्षा, तकनीकि हीनता, गरीबी, तंगिश की पीड़ा सहते-सहते आत्मघाती होकर अस्तित्व विहीन हो जाता है।

बहुत सी पाश्चात्य निगाहें हमारे भारतीय समाज का मूल्यांकन करती रहीं। उनमें ग्राम्सी जैसा विचारक कहता है कि- 'पूर्व के देशों की चेतना चिन्तन विहीन है।... समाज जातियों और वर्णों में बँटा हुआ है। वह विभाजन भी मनुष्य की सचेतावस्था में न होकर नैसर्गिक होता गया।[8] इस मूल्यांकन का जबाब प्रो0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के लेख **'माइ सर्च फार ट्रुथ'** में स्पष्टता से मिल जाता है। वे कहते हैं कि- ''यद्यपि हम सबने ज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधानों में असीमित उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली हैं किन्तु आध्यात्मिक उन्नति में हम एक निम्न सीमा से भी ऊपर नहीं उठ पाये हैं ... बहुत से लोग गरीबी और भुखमरी का दंश झेल रहे हैं। और ऐसा सह अस्तित्व और सहयोग के ह्रास के कारण हो रहा है। ... हम झुण्डों में सहानुभूति खोज रहे हैं।... समाज आज एक कैदखाना हो गया है। ... आर्थिक सम्पन्न व्यक्ति एक पूर्ण व्यक्ति नहीं हो सकता। एक पूर्ण मानव बनने के लिये शिष्टता या अनुग्रह की सभ्यता और आत्म आनन्द से छलककर बहती हुई प्यार और समर्पण के उस भाव की आवश्यकता होती है जो मानवता और प्राणी मात्र के लिये उन्मुक्त सेवा भाव से युक्त हो।... वे भौतिक दक्षता तथा बौद्धिक सजगता को आध्यात्मिक शिक्षा के बिना खतरनाक मानते हैं.... वे कहते हैं कि मनुष्य की आत्मा मिथ्या भ्रामक प्रचारों से दूषित और जहरीली बना दी गयी है।''[9] वे अपनी एक अन्य पुस्तक **'भारतीय संस्कृति कुछ विचार'** में कहते हैं कि ''विश्व को निष्क्रिय निरपेक्ष अस्तित्व वाले समाज की अपेक्षा सक्रिय, पारस्परिक शिक्षाप्रद सह अस्तित्व वाले समाज की जरूरत है।''[10]

कुछ अन्य महान चिन्तकों में **जे0 कृष्णमूर्ति** कहते हैं कि, ''समाज व्यक्तियों का जोड़ मात्र होता है। व्यक्ति वास्तविक सत्य होता है जबकि समाज एक कल्पना होती है''... विश्व समस्याओं के हल की आशा केवल समन्वित व्यक्ति से ही की जा सकती है।[11] **महामना पं0 मदन मोहन मालवीय** जी की धारणा भी कह उठती है कि- ''व्यक्ति और समाज के अभ्युदय के लिये बौद्धिक विकास से भी अधिक महत्वपूर्ण है, चरित्र निर्माण और उसका विकास। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को डिग्रियाँ देने वाली संस्था मात्र न बनने देकर सुयोग्य और सच्चरित्र नागरिकों की पौधशाला के रूप में देखना चाहते थे''[12] कुशल राजनेता, प्रशासक तथा प्रखर दार्शनिक चिन्तक **डॉ0 कर्ण सिंह** जी ने सन् 1967 में विश्व समाज के सर्वाधिक क्रियाशील अंगभूत युवकों को सम्बोधित करते हुये कहा था कि- ''अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की वृद्धि के लिये आधुनिकता के साथ-साथ धर्म व नीति की भी नितान्त आवश्यकता पड़ती है। युवा रक्त का गर्म उफान आज पारस्परिक झगड़ों में सूख रहा है।... फैलती उत्शृँखलता और रचनात्मक शक्तियों में विकृति एक गंभीर रोग का संकेत दे रही है। और इसका मूल कारण समाज की जर्जरता है।... आचार व विचार में एकरूपता का अभाव ही भ्रष्टाचार रूपी शाप की जड़ है।... जो बहारें हमसे रूठ गयीं उनकी चिन्ता न करते हुये आने वाले कल के लिये विभिन्न मतों को एक सूत्र में बाँधने वाले सत्यमय धर्म का आविष्कार करना ही होगा।[13]

विश्व के पुरातन समाजों में सद् और असद् प्रवृत्तियों के संघर्ष की अनेक गाथायें भरी पड़ी हैं। भारत में देवासुर संग्राम, इन्द्र व वृत्त के युद्ध, राम-रावण युद्ध, कौरव-पाण्डव युद्ध, दुर्गा-महिषासुर युद्ध जैसे अनेक रूपकों में भौतिक एवं मानसिक मानव के संघर्ष की कथा व्यथा भरी पड़ी है। विदेशों में भी पारसियों की अहुरमज्द एवं अहरिमान, इस्लाम की अल्लाह व इबलीश, इसाईयों में गाड व शैतान आदि में मानवता व इन्सानियत के साथ-साथ पशुता व बर्बरता के संघर्ष ही तो हैं। वास्तव में मानवता सह अस्तित्व सिखाती है। वह पाशविक हिंसा एवं बर्बरता से दूर, उद्वेग से मुक्त शाश्वत शांति की स्थापिका भी होती है। वह स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ का सृजन करती है। दुर्गुणों की जगह सद्गुणों का सम्पादन करती है। दुराचार नहीं सदाचार की उर्वरता प्रदान करती है। वह उद्दण्डता की जगह संयम और उत्शृँखलता में अनुशासन का मापदण्ड निर्मित करती है। अस्तु! मानवता ही सबका इष्ट रही है।

आज का विश्व समाज जाति-पात, रंग भेद, ऊँच-नीच की परिसीमा से काफी आगे निकल चुका है। आज समाज के केवल दो वर्ग रह गये हैं। शिक्षित और अशिक्षित वर्ग, तकनीकि युक्त एवं तकनीकि विमुक्त वर्ग, वैभव-विलाास सम्पन्न एवं सुख-सुविधा से हीन वर्ग, शहरी एवं ग्रामीण वर्ग। इस विभाजन में आधे-आधे का बँटवारा नहीं है यह तो पन्द्रह और पचासी के अनुपात से आगे नहीं बढ़ पाया है। ग्रामीण वंचित महिला को ही लें। वह वास्तविक शिक्षा से कोशों दूर, तकनीकि ज्ञान या साधन से हीन, असुविधा एवं अस्वाथ्यकर वातावरण में ढोंग-ढकोसलों एवं थोपी गयी अमानवीय मर्यादाओं को ओढ़े हुये विश्व की सबसे लाचार प्राणी बनी हुई है। भ्रष्टाचार के जो कीर्तिमान स्थापित हो रहे हैं उससे तो यही सिद्ध होता है कि खुशहाली की किरणें उसके पास तक शायद ही कभीं पहुँच पायें। उससे भी हीनदीन दशा नदी-नालों, पोखर-तालाबों, बेजुबान जानवरों, पशु-पंछियों और पेड़-पौधों की है। ये सब भी विश्व समाज के महत्वपूर्ण घटक रहे हैं और

यह भी तय है कि इनके बिना मानव अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। लोक चेतना के अमर गायक गोस्वामी तुलसी दास जी ने अपने समय के समाज का जो चित्र खींचा था हम वहाँ पर भी खड़े नहीं हो पा रहे हैं।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि।
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी॥
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस।
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई? का करीं।?[14]

आज पशु-पक्षियों के सन्दर्भ में उपरोक्त संकेतों को देखा जाय तो शर्म व हताशा से सिर झुक जाता है। रावण का उन्मुक्त बेलगाम राक्षसी समाज भी प्रकृत के सुरम्य रूप का रक्षक था। 'बन-बाग-उपवन-वाटिका, सर-कूप-वापी सोहहीं' का उद्घोष करती तुलसी की कविता इस बात की प्रमाण है। वर्तमान प्राकृतिक दोहन और उसके प्रति क्रूर मजाक के कृत्यों ने हमें राक्षसत्व से भी पतित गयी-गुजरी सामाजिक स्थिति वाला सिद्ध कर दिया है। राक्षस कुलोद्भव प्रह्लाद ने सब कुछ देने को तत्पर प्रसन्न नृसिंह भगवान से जो माँगा वह तो राक्षस समाज की आचरणगत नैतिक गरिमा में और भी चार-चाँद लगा देता है।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां।
ध्यायन्तु भूतानि शिवंमिथोधिया॥
मनश्च भद्रं भजतामधोक्षजे।
आवेश्यतां नो मतिरप्य हैतुकी॥[15]

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो, दुष्टों की बुद्धि शुद्ध हो, प्राणियों में परस्पर सद्भाव हो। सभी एक दूसरे के हित चिन्तन में निमग्न हों। हमारा मन सर्वदा शुभ मार्ग में प्रवृत्त हो। हम सबकी बुद्धि निष्काम भाव से परम सत्ता में प्रविष्ट हो रही हो। प्रहलाद की इस उत्कट् अभिलाषा में सभ्य विश्व समाज के निर्माण के सारे उत्स निहित हैं। समवाय, समन्वय और सम्प्रीति की इससे अच्छी और कौन सी मिशाल हो सकती है। एक अबोध बालक क्षमा की मिशाल प्रस्तुत करके दिनकर जी के शब्दों को झुठला देता है। क्योंकि कवि ने कहा है कि क्षमा की भावना विशेषकर उन्हीं जनों पर लागू होती है जो समाज के चरमोत्कर्ष पर हैं।

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो॥[16]

संस्कारों की कमी और सामाजिक शिथिलता के कारण ही विश्व समाज में किशोर वय अपराधों यथा यौन अपराधों की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। नई पीढ़ी सेक्स विकारों से बहुत अधिक पीड़ित रहने लगी है। परम्परागत प्रेम की धारणाओं या प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति में वह मन और चित्त का नहीं अपितु तिकड़म-झूठ-फरेब और असत्याचरणों का सहारा लेने लगी है। यौनाकर्षण व कामेच्छा आज सौन्दर्य प्रदर्शन के प्रतिरूप बन गये हैं। सेक्स की मात्रा, उसकी संख्या, उसके प्रकार, उसमें पात्र परिवर्तन, विविध उम्रों एवं नस्लों की चाहत, समलैंगिकता आदि मूल्य विहीन कृत्यों से भी कुछ कुत्सित मानव मन संतुष्ट नहीं हो पा रहे हैं। लम्बे व्याख्यान, मेघदूत, ओडेशी, हेमलेट, दीवाने गालिब या कामायनी तो आकर्षण से दूर हो गये हैं। वहीं कुण्ठित मानसिकता के लोग इण्टरनेट पर सेक्स जनित दूषित अश्लील साहित्यों या अधिकांशतः वस्त्रविहीन तस्वीरों में मग्न पाये जा रहे हैं। विगत तीन दशकों की कुछ पैशाचिक्र घटनाओं ने अनुभूति शून्यता की वेमिशाल घिनौनी तस्वीर छोड़ी है। अनुभूति शून्य व्यक्ति ही वस्तु बन जाता है। और तब उसका शील, सौन्दर्य और श्रम तीनों भूमण्डलीकरण, उदारीकरण के चलते तकनीकि संचार से युक्त, मुक्त बाजार में बिकने लगता है। जिससे राष्ट्र गौरव क्षत-विक्षत होकर तड़पने लगता है।

विश्व समाज नैतिकता का हिमायती रहा है। ज्योतिर्मयपिण्डों की व्यक्तिगत रुचि के अनुसार वैदिक युग में जब व्याख्यायें हो रही थीं तो संकेत दिया गया कि स्वयं ब्रह्मा ही क्यों न हों उन्हें कुकृत्यों का दण्ड भुगतना ही पड़ेगा। शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत आदि में ब्रह्म दुहिता कथा का जो प्रवाह चला उसे श्रीमद्भागवत महापुराण या मत्स्य पुराण में कमतर करने का प्रयास भी हुआ किन्तु समाज ने उसे स्वीकार नहीं किया और आज तक ब्रह्मा को अपूज्य देवता बनाये रखा, अर्थात् ग्रह नक्षत्रादिकों के माध्यम से समाजिक संस्कारों की पहली खेप ज्योतिष ने दी।

य इत्थं स्वां दुहितरं अस्माकं स्वसा आरं करोति...विध्य एनम् । तं रुद्रो अभ्यायत्य विव्याध,[17] **अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति।... इमं विध्य इति.... पशूनां आधिपत्यं (प्राप्य) तम् अविध्यत् ... य उ एव मृगव्याधः रोहिणी त्रिकाण्ड इति।**[18] **अन्वधावन्मृगो रामोरुद्रस्तारामृगो यथा।**[19]

वेदराशिः स्थितोब्रह्मा सावित्रीतदधिष्ठिता।
तस्मान्नदोषः कश्चित्स्यात् सावित्री गमने विभो॥[20]
वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामा चकमे क्षत्तः सकामः इति नः श्रुतम्॥[21]

वैश्विक समाज की दृष्टि जब से विज्ञानोन्मुख हुई है या नैतिकता की पृष्ठभूमि से विरत हुई है तब से यह मानव के पाशवीकरण की हिमायती बन गयी है। तभी तो **जैक मैरिटेन** को कहना पड़ा कि- ''आज की शिक्षा मानव मस्तिष्क और मानव जीवन के पाशवीकरण का कार्यक्रम मात्र रह गयी है विशेषज्ञता की सारी उपलब्धियाँ मानव जीवन का अमानवीयकरण कर रही है।[22] जैक मैरिटेन के कथनों को आधुनिक खोजों से जोड़कर देखा जाय तो सत्यता सामने आ ही जाती है। आज प्रतिवर्ष 50 हजार विलियन डालर खर्च करके विश्व समाज का एक शिक्षित तबका दुनियाँ का चीथड़ा उड़ा देने के लिए

अनुसंधान कर रहा है। सैनिक हथियारों और प्राकृतिक दोहन की नयी खोजों से 40 करोड़ लोगों को भूख और कुपोषण सम्बन्धी बीमारियों से मर जाने की सुविधा प्रदान की जा रही है। डेढ़ लाख लोगों के हिसाब से एक हिरोशिमा का संहार नित्य जारी है। तकनीकि शिक्षा ने युग के मौन-विध्वंशक-ताण्डव नृत्त की ऐसी मिशाल पेश की है कि नदी-नाले, पोखर-तालाब, पशु-पंछी, बेजुबान जानवर सब व्यथित पीड़ित निरूपाय से हो गये हैं।

ज्योतिषशास्त्र ने **''स्याद्धर्मिष्ठसुशीलपथ्यसुभुजां न स्यादिदं पापिनाम्''**[23] का उद्घोष करके सुन्दर शील, पथ्यकारी भोजन तथा धर्मनिष्ठता को ही अपना आधार बनाया। आज का समाज धर्म के वास्तविक लक्ष्य से भटककर अपथ्याहार में निमग्न हो विभ्रष्ट आचरण व शील का होता जा रहा है इस शास्त्र ने राशियों के निरूपण में पशुपंछियों के स्वरूपों को महत्व दिया। संहिता ग्रन्थों में सम्पूर्ण प्रकृति के रक्षण में दैवज्ञों की तल्लीनता इस बात का उदाहरण है कि वे न केवल प्रकृति के जर्रे-जर्रे के स्वभावों का अध्ययन किये अपितु वृच्छायुर्वेदादि का निरूपण करके पेड़-पौधों को फलने-फूलने का उपचार भी प्रस्तुत किये। आज विश्व समाज को प्राकृतिक पर्यावरण के सरंक्षण को ही नहीं अपितु उनके सम्मान और साहचर्यत्व का आदर करने के लिये लोलुप सा हो जाना पड़ेगा। मानवीय स्वभावों का देश-काल एवं कुल के आधार पर जैसा चित्रण ज्योतिषशास्त्र में मिलता है यदि उनका सही उपयोग किया जाय तो विश्व समाज की अधिकांश समस्यायें स्वतः हल हो जायेंगी। जैसे मनचाही सन्तान हेतु गर्भाधान लग्न को ज्योतिष में महत्व दिया गया है **''लग्न मूलाः क्रिया सर्वा लग्न मूलं ज जातकम्।''** अन्य शास्त्रों में शतपथ ब्राह्मण (14/5/8/2), बौधायन गृह्य सूत्र (1/7), छान्दोग्य उपनिषत् (5/8) में भी मनोवांछित सुशील सन्तान पाने के कथन उपलब्ध होते हैं।

ज्योतिष शास्त्र पुनर्जन्म सिद्धान्त और कर्म के फल भोग की अनिवार्यता सिद्ध करते हुये स्पष्ट करता है कि अनर्गल कृत्यों से जीव अधोगति को जाता है। पुनर्जन्म सिद्धान्त ने विश्व समाज को सभ्य बनाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, क्योंकि यह मोक्ष की भूख और यातना का भय दिखाकर मानव मस्तिष्क को आसानी से नियन्त्रित कर लेती है।

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाऽशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतद् तमसि द्रव्याणि दीप इव॥[25]

ज्योतिषशास्त्र के उपदेश प्रभुसम्मित या मित्रसम्मित न होकर कान्तासम्मित होते हैं। ये औषध जैसी कड़वाहट से मुक्त कान्ता के समान मनुष्य जाति को प्रफुल्लित रखते हुये उसको विषय सुख की सहज प्रवृत्ति से निवृत्ति मार्गी बना देते हैं। **व्रत, दान, अनुष्ठान** एवं **रत्न** का उपचार देने वाली ज्योतिष की जातक शाखा के औचित्य की पूर्ण स्वीकारोक्ति महाकवि कालिदास भी अपरोक्ष रूप से करते दिखाई देते हैं—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ताः तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति॥[26]

अर्थात् सूर्यकान्त मणि तो छूने में ठण्डी लगती है किन्तु सूर्य सानिध्य पाकर आग उगलने लगती है उसी प्रकार तपस्या के दाहात्मक गूढ़ प्रचण्ड तेज से कोई भी तपस्वी दूसरों को बिना जलाये भी भस्म कर सकता है। आशय स्पष्ट है कि तपस्या भौगैश्वर्यों से विरक्ति देती है। यह ब्रह्मतेज का वर्धन करने वाली सांसारिक लूट-खसोट से मनुष्य को सचेत करती है। तभी तो क्षत्रियत्व की भोगविभूतियों से मुँह फेरकर राजा विश्वामित्र तप की कठिन साधना में लीन हो ब्रह्मर्षि बने। महात्मा बुद्ध तप शक्ति के जीवन्त ऐतिहासिक प्रमाण हैं। इसी तरह दान शब्द की मर्यादा विश्व के सभी धर्मों में पायी जाती है। ग्रहों की प्रतिकूलता में इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। दान से समवाय, समन्वय व समता की पृष्ठभूमि तैयार होती है जो सह अस्तित्व के सर्वाधिक पोषक तत्त्व हैं। ज्योतिषीय निदानों में इसे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त रहा-

दिव्यमपि शममुपैति प्रभूतकनकान्नगोमही दानैः।
रुद्रायतने भूमौ गोदोहात् कोटि होमाच्च॥[27]

अनुष्ठान से दैवी विभूतियों से मानव तादात्म्य की आधारभूमि निर्मित होती है। उससे समर्पण के भाव आते हैं तथा परमसत्ता के प्रति श्रद्धा भी प्रसूत होती है। पत्रपुष्पंफलंतोयं को अर्पित करने के बाद अनुष्ठानकर्ता मानसिक रूप से मजबूत होकर निःश्रेयस् पथ की ओर बढ़ता हुआ अनुभव करने लगता है। रत्नों के उपचार से व्यक्ति दुआओं और शुभकामनाओं का प्रतीक सदा साथ लेकर आत्मबल की वृद्धि से युक्त हो जाता है। रत्न व्यक्ति को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं, उसे उसके लक्ष्य की याद दिलाते हैं, संयम एवं धैर्य सिखाते हैं। राजा दुष्यन्त की अँगूठी हो या सिंह शावक से खेलते बालक भरत के हाथ में बँधा अपराजिता जड़ी का गण्डा, केवट को अर्पित की जा रही वनवासी राम की मुदरी हो या बालि युद्ध के समय सुग्रीव के गले में प्रभु राम द्वारा डाली गयी सुमन की माला सबमें प्रदाता की गहन गूढ़ शक्तियों के स्थानान्तरण की बातें सामने आती हैं। इस प्रकार व्रत, दान, अनुष्ठान एवं रत्नों के उपचार से भी मानव मस्तिष्क के भटकाव को रोका जा सकता है।

सारांशतः प्राचीन काल से ही समाज मिल-जुलकर सह अस्तित्व से आगे बढ़ता रहा किन्तु, सामूहिक उत्सवों आदि से कभी-कभी जीव जगत् आहत भी होता रहा। साथ ही समाज के वंचित तथा विषमता पीड़ित वर्ग के उन्नयन की चुनौतियाँ भी बनी रहीं। सभी संस्कृतियों में सद्-असद् प्रवृत्तियों के संघर्ष, सामाजिक समरसता तथा बहके हुये लोगों के सुधार हेतु ही होते थे। शास्त्रों ने आचार नीति का जो पैमाना बनाया वह सुधार का सर्वाधिक कारगर पहलू सिद्ध होता रहा। चूँकि ज्योतिषशास्त्र सभी संस्कृतियों, आस्तिक-नास्तिक सबसे पोषित और आदरित, सबके लिये सुप्राप्य एक प्रत्यक्ष सार्वभौमिक शास्त्र है अतः

इसके कान्तासम्मित आदेशों के प्रचार-प्रसार से समाज के विशेषतः युवावर्ग एवं विज्ञानमना लोगों को संस्कारित करके नैतिकता से युक्त किया जा सकता है। जो वैश्विक दृष्टि से सुजनों का इष्ट है।

सन्दर्भ सूची

1. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड।
2. श्रीमद्भागवतमहापुराण, माहात्म्य अ0 5 श्लोक संख्या 44.
3. अर्थशास्त्र, कौटिल्य 2/25.
4. वहीं 1/21.
5. महाभारत 12/3-6/261, 12/67/51, 12/63/5.
6. Buddhist India; Page 297.
7. The Paleography of India, Pt Gaurishankar H. Ojha, 1993, Page 49.
8. ए ग्राम्सी; द माडर्न प्रिंस; पृष्ठ 124
9. My search for Truth; Prof. S. Radhakrishnan, Prajna (Vol. 34) Part-II Year 1989, Page 253-262.
10. भारतीय संस्कृति कुछ विचार; एस राधाकृष्णन्, पृष्ठ 104.
11. जे0 कृष्ण मूर्ति का शिक्षा दर्शन; डॉ महादेव राम विश्वकर्मा सन् 1995 पृष्ठ 77 एवं 141.
12. प्रज्ञा (B.H.U) अंक 54, भाग-1-2 वर्ष 2008-09 पृष्ठ 157.
13. महामहिम डॉ कर्ण सिंह तत्कालीन चांसलर (B.H.U.) स्वर्णजयन्ती (1967) के दीक्षान्त भाषण से साभार। आप वर्तमान में भी B.H.U. के चांसलर हैं।
14. कवितावली, गोस्वामी तुलसी दास, छन्द संख्या 97.
15. श्रीमद्भागवतमहापुराण 5/18/9.
16. दिनकर, सावित्री सिन्हा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1998, पृष्ठ 117.
17. शतपथ ब्राह्मण 2/3/1/7-10.
18. ऐतरेय ब्राह्मण 3/3/9 (3/33)
19. महाभारत, वनपर्व, अ0 278 श्लोक संख्या 20.
20. मत्स्यपुराण 4/10.
21. श्रीमद्भागवतमहापुराण 1/12/28.
22. जैक मैरिटेन, एजूकेशन ऐट द क्रास रोड्स, न्यू हैवन 1960 ई0 पृ0 19.
23. केशवीजातक ।
24. सिद्धान्त शिरोमणि, भास्कराचार्य 1/6
25. लघु जातकम्, वराहाचार्य 1/3
26. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक-2 श्लोक-7.
27. वृहत्संहिता, उत्पाताध्याय श्लोक सं-6.

न्यायदर्शनानुसार ज्ञान प्राप्ति के साधन

*डॉ. लतापन्त तैलङ्ग**

आधुनिक युग में तत्त्वों के वास्तविक रूप को ज्ञात करने के लिए विज्ञान की प्रयोगाश्रित विधि बहुप्रचलित है। किन्तु यथार्थ ज्ञान के सभी रूपों पर प्रयोगशाला आधारित अध्ययन नहीं किये जा सकते, वहाँ हमें दर्शन की तर्काधारित विधि की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से न्याय दर्शन के प्रामाण्य-विचार विशिष्ट हैं। यहाँ प्रमाणों का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

वात्स्यायन लिखते हैं – 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'[1] अर्थात् प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है। न्यायदर्शन भारतीय तर्कशास्त्र है जिसमें परिशुद्ध ज्ञान प्राप्ति के उपायों पर विचार किया गया है। जो प्रमाण-विचार के रूप में जाना जाता है। न्यायदर्शन का मूलग्रन्थ गौतम का न्यायसूत्र है। न्यायभाष्य अनेक हैं – वात्स्यायन का न्यायभाष्य, उद्योतकर का न्यायवार्तिक, वाचस्पति का न्यायवार्तिक, तात्पर्य परिशुद्धि तथा कुसुमाञ्जलि आदि। इन ग्रन्थों में न्यायसूत्र की विशद् व्याख्या की गयी है। तर्कविज्ञान सम्बन्धी विषयों पर विशद् विचार नव्यन्याय में हुआ है। इसका प्रधान ग्रन्थ गंगेश का तत्त्वचिन्तामणि है।

न्यायदर्शन में 'प्रमा' किसी वस्तु के असंदिग्ध अनुभव या यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'[2] प्रमाण यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं। न्यायदर्शन के अनुसार ये 4 हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अप्रमा या संशयात्मक ज्ञान 4 प्रकार के होते हैं- स्मृति, संशय, भ्रम तथा तर्क। स्मृति किसी बीती हुई घटना या वस्तु के वैयक्तिक अनुभव पर आधारित होती है। अतः स्मृति को यथार्थज्ञान नहीं कह सकते हैं। यदि भ्रमवश आप किञ्चित् अंधेरे में पड़ी रस्सी को साँप समझ लेते हैं तो यह अनुभव असंदिग्ध होने पर भी असत्य है। यदि अनिर्णय की स्थिति में हैं कि यह रस्सी है या साँप तो यह संशयात्मक ज्ञान है। इसी प्रकार तर्क भी यथार्थज्ञान नहीं होता है, यदि आप पड़ोस के घर से धुआँ उठता देखते हैं और कहते हैं कि उस घर में आग लगी है और आपका मित्र कहता है कि नहीं भोजन बन रहा है और यह चूल्हे का धुआँ है तो जब तक परीक्षण न कर लिया जाय इन तर्कात्मक युक्तियों को यथार्थ अनुभव नहीं कहा जा सकता।

प्रत्यक्ष

'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षः प्रत्यक्षः'।[3] वस्तु के साथ ज्ञानेन्द्रिय के सम्पर्क होने पर जो अनुभव उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अतः सामान्यतः प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता पर विचार करना अत्यावश्यक माना जाता है। किन्तु भारतीय आस्तिक दार्शनिक विचारधारायें अधिक अन्वेषी हैं वे प्रत्यक्ष के इस लक्षण से संतुष्ट नहीं हैं। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान है किन्तु वह निराकार है उसको इन्द्रियाँ नहीं हैं। जब हम रस्सी को भयवश सांप समझ लेते हैं तो वहाँ इन्द्रिय संयोग का अभाव रहता है, क्योंकि वहाँ कोई वास्तविक साँप नहीं है, जिसके साथ आँखों का सम्पर्क हो। सुख-दुःखादि मनोभावों का साक्षात्कार इन्द्रिय-संयोग के बिना ही होता है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-संयोग प्रत्यक्षज्ञान के सभी भेदों का सामान्य लक्षण नहीं है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है जब उनका साक्षात्कार होता है, अर्थात् जब उस वस्तु का ज्ञान बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान के होता है। अतः कुछ भारतीय दार्शनिक साक्षात् प्रतीति को ही प्रत्यक्ष कहते हैं, यद्यपि वे मानते हैं अधिकांश प्रत्यक्ष इन्द्रिय संसर्ग के कारण होते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

प्रथम भेद लौकिक एवं अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में किया गया है। साधारण ढंग से जब वस्तु का संयोग इन्द्रिय से होता है तो लौकिक प्रत्यक्ष होता है। न्यायदर्शन के अनुसार छः ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इनमें पाँच बाह्य तथा एक अंतरिन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रियाँ नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचा हैं, ये इन्द्रियाँ भौतिक हैं, इनसे भौतिक पदार्थों का ज्ञान होता है। मन अंतरिन्द्रिय है। इसके द्वारा आत्मा की इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख का प्रत्यक्षीकरण होता है। बाह्य इन्द्रिय की तरह मन की शक्ति भौतिक वस्तुओं के ज्ञान तक सीमित नहीं रहती, सभी प्रकार के ज्ञानों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये यह केन्द्रीय इन्द्रिय का काम करता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है- सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण तथा योगज। जब हम कहते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं तो यह ज्ञान मनुष्य जाति के विषय में है। किन्तु भौतिक इन्द्रियों से मनुष्य का प्रत्यक्ष हो सकता है मनुष्य जाति का नहीं। नैयायिक कहते हैं मनुष्य जाति का ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष से होता है। जब हम किसी व्यक्ति को देखकर उसे मनुष्य समझते हैं तो हमें मनुष्यत्व का भी प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष अनुभव से मनुष्य धर्म विशिष्ट जाति का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे सामान्य लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी गयी है। जब हम कहते हैं कि बर्फ ठंडी है, पत्थर ठोस है, घास मुलायम है तो यह ज्ञान इन्द्रिय के प्रत्यक्ष सम्पर्क से नहीं होता अपितु हमारे पूर्वज्ञान पर आधारित होता है इसीलिये इसे

*सहआचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष की संज्ञा दी गयी है। तीसरे प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष को योगज कहते हैं। सिद्धयोगियों को भूत-भविष्य, निकटस्थ-दूरस्थ, स्थूल-सूक्ष्मादि की साक्षात् अनुभूति होती है, इसे योगज लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी गयी है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में योगज प्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है।

नैयायिकों ने लौकिक प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा के रूप में एक और भेद किया है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सविकल्प प्रत्यक्ष के पूर्व की स्थिति है। पूर्ण प्रत्यक्ष होने से पूर्व वस्तु के आकार-प्रकार का आभास मात्र होता है। उदाहरण के लिए जब हम दूर से आते हुए मनुष्य को देखते हैं तो मनुष्यत्व के लक्षणों की अनुभूति नहीं होती। यह पुरुष है या स्त्री है, गोरा है या काला है, युवा है या वृद्ध है आदि विकल्पों से रहित प्रत्यक्ष अनुभव होता है, यह वास्तविक प्रत्यक्ष से पूर्व की स्थिति है, अगले ही क्षण हमें मनुष्यत्व के विशिष्ट धर्मों से युक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ पहचान होता है। जब ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो जिसे हम पहचान लें कि यह तो वही है तो यह प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा है, ऐसा नैयायिकों का विचार है।[4]

अनुमान

यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का दूसरा प्रधान साधन अनुमान है। अनु का अर्थ होता है पश्चात् अतः अनुमान प्रत्यक्ष के पश्चात् आता है। न्याय के पंचावयव अनुमान वाक्य का प्रसिद्ध उदाहरण है कि पर्वत पर धुआं दिखाई दे रहा है अतः वहाँ अग्नि है, क्योंकि हमारा पूर्वज्ञान है कि अग्नि व धुएँ में व्याप्ति सम्बन्ध होता है अतः जहाँ अग्नि होगी वहाँ धुआँ होगा। इस प्रकार पूर्व प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान की सिद्धि की जाती है।

अनुमान के अवयव

अनुमान के द्वारा उस सत्य का ज्ञान होता है जिसे आँखों द्वारा नहीं देखा जा सकता। पर्वत पर अग्नि है। इस सत्य ज्ञान तक पहुँचने की प्रक्रिया में प्रथम पद पर्वत पर धुआँ है। दूसरा पद धुआँ तथा अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है। अर्थात् जहाँ धुआँ दिखाई देता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है और तृतीय पद पर्वत पर अग्नि है, इस निश्चय पर हम पहुँचते हैं। यह पर्वत 'पक्ष' है क्योंकि पर्वत पर अग्नि का होना सिद्ध करना है। अग्नि 'साध्य' है क्योंकि अनुमान के द्वारा पर्वत के सम्बन्ध में यह सिद्ध करना है कि वहाँ अग्नि है। धुआँ अग्नि का लिङ्ग या चिह्न है। लिङ्ग को हेतु या साधन भी कहते हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार Syllogism के तीन पद होते हैं— Minor, Mayor तथा Middle। भारतीय तर्कशास्त्र के अनुसार भी अनुमान के तीन पद होते हैं- पक्ष, साध्य तथा हेतु। किन्तु नैयायिकों का मत है कि यदि अनुमान स्वार्थ को अर्थात् अपने लिये ही हो तो उसे क्रमबद्ध वाक्यों के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। जब अनुमान परार्थ अर्थात् दूसरों को कुछ समझाने के लिये होता है तो इसे पाँच स्पष्ट वाक्यों में व्यक्त करना चाहिये। इन वाक्यों को अवयव कहते हैं। इन अवयवों के नाम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन तथा निगमन है।

पंचावयव अनुमान का उदाहरण इस प्रकार है—

1. राम मरणशील है। (प्रतिज्ञा)
2. क्योंकि वह मनुष्य है। (हेतु)
3. सभी मनुष्य मरणशील हैं। जैसे- देवदत्त, मोहन आदि।
4. राम भी मनुष्य है। (उपनय)
5. अतः वह मरणशील है। (निगमन)[5]

हेतु और साध्य के मध्य जो व्यापक सम्बन्ध रहता है उसी के द्वारा अनुमान होता है। इस सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। पर्वत पर अग्नि है यह तभी सिद्ध हो सकता है जब हेतु धूम का साध्य अग्नि के साथ व्यापक सम्बन्ध हो अर्थात् सर्वत्र सदैव जहाँ धूम पाया जाता है अग्नि अवश्य होती है। व्याप्ति पर ही अनुमान का निगमन निर्भर करता है। वेदांतियों का मत है– ''व्यभिचारादर्शनं सति सहचारदर्शनम् इति व्याप्तिः'' अर्थात् दो वस्तुओं को बराबर साथ देखें और उनका व्यभिचार (अपवाद) देखने में नहीं आवे तो दोनों में साहचर्य का सम्बन्ध मानना चाहिए।

नैयायिकों का भी वेदांतियों की तरह यही मत है कि व्याप्ति की स्थापना ऐसे ही अनुभव पर अवलम्बित है जिसका अतीत में कोई व्यतिक्रम नहीं हो। साथ ही नैयायिक इसकी पुष्टि अन्वय-व्यतिरेक प्रणाली से करते हैं। एक के रहने पर दूसरे का रहना अन्वय है। जैसे– जहाँ धुआँ पाया जाता है वहाँ अग्नि होती है और एक के न रहने पर दूसरे का न रहना व्यतिरेक है अर्थात् अग्नि के न रहने पर धुआँ नहीं पाया जा सकता। व्याप्ति केवल अन्वय व्यतिरेक से ही सिद्ध नहीं होती, अपितु उसे अनौपाधिक भी होना चाहिये। उपाधि वह है जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है। किन्तु हेतु या साधन के साथ नहीं रहता है। उदाहरण के लिये कोई धुएँ से अग्नि का अनुमान न करके अग्नि से धुएँ का अनुमान करे तो यह भ्रमात्मक हो जायेगा, सभी अग्नियों में धुआँ नहीं होता, जैसे– तप्त लौहखण्ड। धुआँ तभी होता है जब ईंधन गीला हो। यहाँ हम देख सकते हैं कि आर्द्रेन्धन उपाधि साध्य धूम के साथ बराबर पाया जाता है। अतः दो वस्तुओं के साथ व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उपाधि निरास आवश्यक है।

व्याप्ति के प्रकार के आधार पर गौतम के प्राचीन न्याय के अनुसार अनुमान तीन प्रकार के होते हैं– पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जिसमें भविष्य कार्य का अनुमान वर्तमान कार्य से होता है जैसे- होने वाली वर्षा का अनुमान वर्तमान मेघों को देखकर करना। शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं जिसमें वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे- नदी की वेगवती और गँदली धारा को देखकर विगत वृष्टि का अनुमान करना। तीसरे प्रकार सामान्यतोदृष्ट में जो व्याप्ति प्रयुक्त होती है वह कार्य कारण पर आधारित नहीं होती। उदाहरण के लिये किसी शृंगी पशु को देखकर यह अनुमान करना कि यह फटे खुर वाला होगा।

एक ऐसा अनुमान है जो कार्य-कारण पर आधारित न होकर सामान्य सादृश्य के अनुभव पर आधारित होता है।

नव्य न्याय में व्याप्ति के आधार पर अनुमान के भेद केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेकी के रूप में किये गए हैं। यह भेद अत्यन्त युक्तिपूर्ण है क्योंकि अनुमान के लिये व्याप्ति की परिशुद्धता महत्वपूर्ण है। यहाँ स्पष्ट है कि अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान अधिक परिशुद्ध होता है। इसे न्याय में उदाहरणों द्वारा समझाया गया है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास का अर्थ होता है हेतु का आभास होना अर्थात् हेतु के न होने पर भी हेतु जैसा प्रतीत होना। ऐसे दृष्ट हेतु से अनुमान में हेत्वाभास दोष आ जाता है। हेत्वाभास 5 प्रकार के होते हैं-

1. सव्यभिचार

सभी द्विपद बुद्धिमान हैं,

हंस द्विपद है,

अतः हंस बुद्धिमान है।

इस अनुमान का निगमन गलत है। क्योंकि हेतु द्विपद और साध्य बुद्धिमान में अव्यभिचारी सम्बन्ध नहीं है। कुछ द्विपद बुद्धिमान नहीं होते हैं जैसे-कबूतर। अतः यहाँ हेतु से सव्यभिचारी दोष है।

2. विरूद्ध

विरूद्ध हेतु उस अनुमान में पाया जाता है जिसमें वह साध्य के अस्तित्व को नहीं, अपितु उसके अभाव को ही पक्ष में सिद्ध करता है जैसे- शब्द नित्य है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है। हेतु 'उत्पत्ति' शब्द के नित्यत्व को नहीं अपितु अनित्यत्व को सिद्ध करता है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसका नाश भी होता है। सव्यभिचार व विरूद्ध में यह भेद है कि सव्यभिचार हेतु के द्वारा निगमन की सिद्धि निश्चित रूप से नहीं होती, जबकि विरूद्ध हेतु के द्वारा निगमन का खण्डन ही हो जाता है।

3. सत्यप्रतिपक्ष

यह दोष तब होता है जब एक अनुमान का कोई दूसरा प्रतिपक्षी अनुभाव संभव है। जैसे–

1. शब्द नित्य है, क्योंकि वह आकाश की भांति अदृश्य है।
2. शब्द अनित्य है, क्योंकि वह घट की भांति एक कार्य है।

विरूद्ध और सत्प्रतिपक्ष में अन्तर है कि विरूद्ध में जो हेतु है उसी के द्वारा उसके निगमन का खण्डन होता है किन्तु सत्प्रतिपक्ष में निगमन का खण्डन अन्य संभावित अनुमान के हेतु के द्वारा होता है।

4. असिद्ध

चौथा हेत्वाभास असिद्ध या साध्यसम है जिस तरह साध्य का अस्तित्व अभी तक सिद्ध नहीं है उसी प्रकार हेतु का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं रहता है। उदाहरण के लिये- आकाश कमल सुगन्धित हैं क्योंकि वह कमल है। यहाँ हेतु आकाश-कमल का अस्तित्व ही संदिग्ध है।

5. बाधित

यदि किसी अनुमान के हेतु अन्य किसी प्रमाण से बाधित हो जाय तो वह अनुमान दोषपूर्ण होता है। उदाहरण के लिये- 'अग्नि' शीतल है क्योंकि यह एक द्रव्य है। यह अनुमान सही नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से स्पष्ट है कि अग्नि में उष्णता होती है शीतलता नहीं।

उपमान

न्याय के अनुसार उपमान भी एक प्रमाण है। हमें अनेक नवीन वस्तुओं का ज्ञान पूर्वज्ञात वस्तुओं से सादृश्यता के आधार पर होता है। उदाहरण के लिये आपने नीलगाय कभी नहीं देखी है। एक जानकार व्यक्ति आपको बताता है कि यह जंगलों में देखी जाती है और गाय के सदृश होती है। भविष्य में जंगल में आप जब कभी गाय जैसे आकार-प्रकार वाले प्राणी को देखेंगे, तुरन्त जान जायेंगे यह नील गाय है। हमारी ज्ञात संज्ञाओं में अनेक उपमान पर आधारित होती है।

शब्द प्रमाण

किसी आप्त या विश्वास योग्य अनुभवी पुरुष का वचन भी प्रमाण होता है। वस्तुतः मनुष्य के ज्ञान भण्डार का एक बड़ा हिस्सा लिखित या मौखिक शब्दों पर आधारित होता है। अध्यापक के व्याख्यान और पुस्तकें इसका उदाहरण है। नैयायिकों के अनुसार शब्द प्रमाण दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ रूप से दो प्रकार का होता है। दृष्टार्थ शब्द से ऐसी वस्तुओं का ज्ञान होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके। धर्मग्रंथों की उक्तियाँ जो दृष्ट पदार्थों से सम्बन्धित हों, न्यायालय की साक्षियाँ, वयोवृद्ध, विद्वानों तथा अनुभवी कृषकों की कृषि सम्बन्धी भविष्य वाणियाँ दृष्टार्थ शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आती हैं। किन्तु ईश्वर, जीव की नित्यता, पाप, पुण्य के सम्बन्ध में धर्मग्रन्थों एवं धर्मगुरुओं के वचन अदृष्टार्थ शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा तत्वार्थ बोध के अन्य साधनों की तार्किक विवेचना न्यायदर्शनोक्त प्रामाण्यविचार में मिलती है, जिसकी सर्वकालिक उपादेयता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. न्यायसूत्र 1,1,1 पर वात्स्यायन भाष्य
2. तर्कभाषा : केशव मिश्र, (सं0 1968) मोतीलाल बनारसी दास, पृ0 16
3. वही, पृ0 59
4. चट्टोपाध्याय एस0 व दत्त डी0एम0 (सं0 1988), भारतीय दर्शन में 'प्रमाण विचार' अध्याय, पुस्तक भण्डार पटना, पृ0 131-156
5. उपाध्याय, बलदेव (सं0 1960) भारतीय दर्शन में 'न्यायदर्शन' अध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी पृ0 209-264

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में 'गुरु'

डॉ. मनोज कुमार सिंह एवं डॉ. व्रजराज पाण्डेय***

साधना-प्रणाली, इष्ट-प्राप्ति और योग-सिद्धी के लिए गुरु ही सर्वसामर्थ्यवान सिद्ध पुरुष है। गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'गुरु' शब्द में 'ग' कार ज्ञान सम्पत्ति का, रेफ सत् तत्त्व का और उकार शिव तादात्म्य का बोधक है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप है–

गकारो ज्ञानसम्पत्तौ रेफः सत्त्वप्रकाशकः।
उकारात् शिवतादात्म्यं दद्यादिति गुरुस्स्मृतः।।

-आगमसार तन्त्र

शिक्षाशास्त्र जगत के प्रख्यात समालोचक विद्वान प्रो. प्रेम नारायण सिंह ने अपने एक शोध-आलेख में प्रसंगवश गुरु की महत्ता को बहुत ही अच्छे ढंग से व्याख्यायित करते हुए लिखा है- ''आचार्य (गुरु) विद्यार्थी की प्रसुप्त आत्माग्नि को प्रज्ज्वलित करके उन्हें पवित्र तथा प्रकाशित करता है। वह उनके विचारों को पवित्र, उनकी भावनाओं को विशुद्ध तथा उनकी आत्मा को प्रबुद्ध करता है।''[1] यह अत्यन्त सारगर्भित विचार है। यहाँ पर विशिष्ट शब्दों द्वारा गुरु की महत्ता को आलोकित करके प्रो. सिंह ने न केवल अपने विशाल शब्द भंडार का परिचय दिया है बल्कि उन्होंने जैन दर्शन के 'गुणी गुणम् वेत्ति' की सूक्ति को चरितार्थ भी किया है।

राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उच्चतर शिक्षा के विकास में उल्लेखनीय योगदान देने वाले 'संभाव्य' शोध-पत्रिका के वरिष्ठ संरक्षक व काशी की पांडित्य परंपरा के संवाहक आचार्य ख्यातिप्राप्त मूर्धन्य विद्वान शिक्षाविद् प्रो. सुभाष चन्द्र तिवारी वास्तविक 'गुरु' के लक्षण बताते हुए कहते हैं- 'जिसके पास ज्ञान का अक्षय भंडार हो अर्थात् जो साक्षात् विद्यामूर्ति हो, दिव्यात्मा हो, जिसका हृदय अत्यन्त विशाल हो, जो उदारता की प्रतिमूर्ति हो, जिसके प्रति सहज ही श्रद्धा उत्पन्न हो, जो हमें ज्ञानामृत का पान करवाने में सक्षम हो, जिसकी शरण में जाने से समस्त शंकाओं का समाधान हो सके, जो संकट की घड़ी में हमें सद्मार्ग दिखलाता हो और जो मानव जीवन को धन्य बनाने में सदैव हमारी सहायता करता हो, वही सच्चा गुरु है।[2]

निःसन्देह विद्यानुरागी प्रो. तिवारी ने 'गुरु' शब्द के अर्थ को भारतीय दर्शन के आलोक में व्यापक संदर्भों के साथ व्याख्यायित करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का लोहा मनवाया है।

स्वामी रंगनाथानंद ने अध्यापकों के एक समूह से चर्चा करते समय कहा था कि 'अध्यापक (गुरु) एक व्यक्ति को व्यक्तित्व में परिवर्तित कर देता है।'[3] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि 'गुरु' की महिमा वास्तव में अपरंपार है। यदि शिष्य पर गुरु का सच्चा अनुराग है तो वह अपने शिष्य को गुप्त से गुप्त मंत्रणा देने पर भी तत्पर रहता है–

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।[4]

व्यक्ति को माता की भक्ति से इहलोक, पिता की भक्ति से मध्यलोक और आचार्य (गुरु) की सेवा शुश्रूषा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है–

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरु शुश्रूषा त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।।[5]

गुरु शिष्य को मुक्ति के मार्ग का निदर्शन कराने वाला होता है।[6] श्रद्धावान् व्यक्ति को हो गुरु के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है–

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्।[7]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार 'गुरु' शब्द का अर्थ

भारतीय संस्कृति के भग्न स्तम्भों का नवीनीकरण करने वाले आधुनिक भारत के निर्माता स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं– ''जिस व्यक्ति की आत्मा से शक्ति का संचार होता है वह गुरु कहलाता है और जिस आत्मा को यह शक्ति संचारित होती है उसे शिष्य कहते हैं।''[8] गुरु केवल एक किताबी कीड़ा ही नहीं वरन् एक आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं, जिन्हें आत्मानन्द का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका होता है।[9]

सच्चे गुरु वे ही हैं, जिनके द्वारा हमको अपना आध्यात्मिक जन्म प्राप्त हुआ है। वे ही वह साधन हैं, जिसमें से होकर आध्यात्मिक प्रवाह हम लोगों में प्रवाहित होता है। वे ही समग्र आध्यात्मिक जगत् के साथ हम लोगों के संयोग-सूत्र हैं।[10]

स्वामी जी का विचार है कि व्यक्ति विशेष के ऊपर अतिरिक्त विश्वास करने से दुर्बलता और अन्तः सारशून्य बहिः पूजा आ सकती है, किन्तु गुरु के प्रति प्रबल अनुराग से उन्नति अत्यन्त शीघ्र सम्भव है। वे हमारे अन्तः स्थित गुरु के साथ हमारा संयोग करा देते हैं।[11] माता-पिता तो हमें केवल जन्म ही देते हैं; परन्तु गुरु तो हमें मुक्तिमार्ग दिखाते हैं। हम गुरु की सन्तान हैं– उनके मानसपुत्र हैं।[12]

*सह आचार्य, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**पूर्व शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सच्चे 'गुरु' की व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि सच्चा गुरु वही है जो क्षण भर में ही मानो हजारों विभिन्न व्यक्तियों में अपने को परिणत कर सके। जो विद्यार्थी को सिखाने के लिए विद्यार्थी की ही मनोभूमि के बराबर तुरन्त उतर आये और अपनी आत्मा अपने शिष्य की आत्मा में एकरूप कर सके तथा जो शिष्य की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके। ऐसा ही गुरु शिक्षा दे सकता है– अन्य दूसरा नहीं। अन्य सब निषेधक, निरूत्साहक तथा संहारक गुरु कभी भलाई नहीं कर सकते।[13]

सच्चा गुरु समय-समय पर आध्यात्मिक शक्ति के भंडार के रूप में अवतीर्ण होता है और गुरु शिष्य परम्परा द्वारा उस शक्ति को पीढ़ी दर पीढ़ी लोगों में संचरित करता है।[14] वह असाधारण व्यक्ति होता है और जब शिष्य में अदम्य जिज्ञासा जागृत होती है तो गुरु का स्वयं आविर्भाव हो ही जाता है।[15] वे इस भीषण भवसागर के उस पार स्वयं भी चले गये हैं और बिना किसी लाभ की आशा किये दुसरों को भी पार करते रहते हैं :

''तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनाः अहेतुनान्यानपि तारयन्तः।''

ऐसे ही मनुष्य गुरु हैं और दूसरा कोई गुरु नहीं कहा जा सकता।[16] यदि तुम्हारे गुरु के भीतर यथार्थ सत्य है तो उनकी आराधना करो, यही गुरु भक्ति तुम्हें शीघ्र ही चरम अवस्था में पहुँचा देगी।[17] आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है।[18]

स्वामी जी के अनुसार सच्चा गुरु वह है जिसे परम्परा से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई है। आध्यात्मिक गुरु का कार्य बड़ा कठिन है, उसे दूसरों के पापों को स्वयं अपने ऊपर लेना पड़ता है।[19]

'गुरु' के प्रकार

अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के माध्यम से वैश्विक स्तर पर जनमानस में स्वर्णिम आभा बिखेरने वाले विलक्षण प्रतिभा के धनी स्वामी विवेकानन्द के अनुसार गुरु दो प्रकार के होते हैं–

(1) साधारण गुरु (2) अवतार गुरु

1. जो गुरु शिष्यों को समस्त विषयों व शास्त्रों की विधिवत् शिक्षा देते हैं, उन्हें साधारण गुरु कहते हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है। ऐसे गुरुओं से केवल विषयगत ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है।
2. ये ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। संसार में इस प्रकार के धर्म गुरुओं की संख्या बहुत कम है। ये मानव जीवन के सुन्दरतम् पुरुष हैं व दया-सिन्धु हैं। स्वामी जी इन्हें ही ईश्वर का रूप एवं वास्तविक गुरु मानते हैं। वे कहते हैं कि धर्म गुरु में अपूर्व योग्यता होनी चाहिये और उसके शिष्य को भी कुशल होना चाहिये। जब दोनों ही अद्भूत और असाधारण होंगे तभी आध्यात्मिक जागृति होती है, अन्यथा नहीं।[20]

'गुरु' के कर्तव्य

स्वामी जी ने गुरु के लिए निम्नलिखित कर्तव्यों को प्रधानता दी है :

1. **जीवात्मा को मुक्त करना**[21]**-** विवेकानन्द के अनुसार गुरु आत्मा को नया जन्म देते हैं।
2. **धार्मिक ज्ञान देना**[22]**-** गुरु शिष्य को धर्म सम्बन्धी जानकारी प्रदान करता है। गुरु ही समग्र आध्यात्मिक जगत् के साथ हम लोगों के संयोग सूत्र हैं।
3. **जीवन रहस्यों की ज्ञान प्राप्ति कराना**[23]**-** गुरु शिष्य को जीवन के रहस्यों के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान प्राप्त कराता है।
4. **आत्मानुभूति कराना**[24]**-** स्वामी जी का मानना है कि गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वह आत्मानुभूति का साधन है।

इसके साथ ही साथ समाज की उन्नति करना गुरु का मुख्य कर्तव्य होना चाहिये। उसे सामाजिक मूल्यों के संरक्षण में अग्रणी भूमिका निभाना चाहिए।

'गुरु' के आवश्यक गुण

स्वामी विवेकानन्द ने गुरु के लिए निम्नलिखित अपेक्षित गुणों का उल्लेख किया है–

1. **धर्मशास्त्र का ज्ञाता-** स्वामी जी का कहना है कि धर्मशास्त्रों के वास्तविक ज्ञान से ही सच्चे गुरु का निर्माण होता है। गुरु को निरंतर धर्मशास्त्र का अध्ययन करते रहना चाहिये।[25]
2. **निष्पापता-** गुरु को पूर्णरूपेण शुद्ध चित्त होना चाहिये। उसे किसी भी प्रकार से अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं रहना चाहिये व शुभ कार्य सम्पादन में अग्रसर होना चाहिये। जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और निःस्वार्थपरकता विद्यमान है, उन्हें स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल की कोई भी शक्ति क्षति नहीं पहुँचा सकती।[26]
3. **प्रेम भावना-** गुरु के हृदय में शिष्य के प्रति प्रेम भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। गुरु को शिष्य के प्रति सदैव स्नेह भाव रखना चाहिये। पुस्तकें और विद्या, योग, ध्यान और ज्ञान; प्रेम की तुलना में ये सब धूलि के समान हैं।[27]
4. **सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार-** गुरु को शिष्य के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। शिष्य की प्रगति में उसे अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये। सच्ची सहानुभूति के बिना गुरु शिष्य को अच्छी शिक्षा कभी नहीं दे सकते।[28]

अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी बताते हैं– ''उन्हें इस बात का रंच भर भी भास नहीं था कि वे एक बड़े गुरु हैं। वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं मैं स्वयं कुछ नहीं कहता।''[29] स्वामीजी कहते हैं– मेरे गुरुदेव किसी को ढूँढ़ने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को प्रथम चरित्रवान् होना चाहिये तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे कि 'जब कमल खिलता है तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं, इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्र रूपी पंकज पूर्ण रूप से खिल जायेगा और जब तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि फल तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जाएंगे।''[30]

विवेकानन्द जी ने 'गुरु' के महत्व को बताते हुए कहा है कि मैं उस गुरु को नमस्कार करता हूँ जो दैवी आनन्द की मूर्ति और उच्चतम् ज्ञान के विग्रह हैं। जो शुद्ध, पूर्ण, अद्वितीय, सनातन, सब सुख-दुःख से परे, सर्व गुणातीत और सर्वोच्च है। वास्तव में गुरु ऐसे ही होते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। शिष्य उन्हें ईश्वर समझता है, उनमें विश्वास रखता है, श्रद्धा रखता है, उनकी आज्ञा मानता है और बिना शंका किये उनके बताए मार्ग पर चलता है।

भारतीय संस्कृति के ध्वजवाहक स्वामी विवेकानन्द 'गुरुवो गुरु प्रियम्' की प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति आदर का भाव रखते थे। उनके अनुसार वास्तविक गुरु वह होता है जिसके हृदय में विश्व कल्याण की स्वाभाविक चेतना होती है। वह मानव-कल्याण के अपने प्रयत्नों की निरन्तरता के लिए योग्य शिष्यों की खोज में स्वयं रहता है। उनका यह मानना था कि मनुष्य का आध्यात्मिक विकास जन्म-जन्मान्तरों तक चलता रहता है; कौन विकास के किस स्तर पर है इसे स्वयं हम नहीं जानते हैं, सद्गुरु ही जानते हैं। हमारे संचित पुण्यों से ही हमें सद्गुरु मिलते हैं और हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्वामी जी ने 'गुरु' शब्द का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि के आलोक में किया है। वे कहते थे कि भारत की आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन रक्त है। यदि यह शुद्ध व सशक्त रहे तो सब कुछ ठीक है।

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार

''यदि किसी को विराट् हृदय सम्राट के रूप में स्वीकार किया जा सकता है तो वे एकमात्र विवेकानन्द हैं।''[31]

-श्री अरविन्द (लेख-भारत पुरुष)

''यदि तुम भारत को जानना चाहते हो तो विवेकानन्द को पढ़ो।''[32]

-रविन्द्रनाथ टैगोर

''विवेकानन्द जैसे संन्यासी तथा देशभक्त भारत में इसके पहले दृष्टिगोचर नहीं हुए।''[33]

-साहित्यकार मोहित लाल मजूमदार

''सामान्यतः लोग उन्हें रामकृष्ण के आध्यात्मिक मानस पुत्र, सर्वत्यागी संन्यासी, श्री रामकृष्ण मठ और मिशन के प्रतिष्ठाता तथा हिन्दू धर्म के प्रचारक के रूप में ही भक्ति करते और पूजते हैं। यद्यपि यही स्वामी जी का वास्तविक परिचय है, तथापि यह उनके अनन्य व अपूर्व व्यक्तित्व का केवल एक श्रेष्ठ अंश मात्र है।''[34]

-इतिहासकार रमेश चन्द्र मजूमदार

''विश्व इतिहास की तुला पर विवेकानन्द का मूल्यांकन कर पाना अत्यन्त कठिन है।''[35]

-डॉ. ए.एल. बाशम

''स्वामी विवेकानन्द ही भारतीय स्वाधीनता के जनक हैं। वे हमारे राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता के पिता हैं।''[36]

-चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

''वह ताल नहीं, एक जलाशय है। वह कोई घड़ा या सुराही नहीं, पक्का पीपा है। वह कोई मीनिका या हरिमीन नहीं, बल्कि लाल आँखों वाली बड़ी भारी शफरी मछली है। वह साधारण सोलह पंखुड़ी वाला कमल नहीं- वह तो शानदार सहस्रदल कमल है।''[37]

-श्री रामकृष्ण परमहंस

स्वामी जी ने एक बार स्वयं अपने बारे में कहा था- वे 'Condensed India' अर्थात् घनीभूत भारत हैं।[38]

पं. जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में ठीक ही लिखा है कि स्वामी विवेकानन्द प्राचीन व आधुनिक भारत के बीच सेतु के समान थे।

निजसंस्कृति की गौरवमयी गाथा का पाठ पढ़ाकर हमें एकता के सूत्र में बाँधने वाले भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत स्वामी विवेकानन्द की पावन स्मृति में मैं बस यही कहूँगा :

उजाला अपनी यादों की हमारे पास रहने दो,
न जाने किस गली में जिन्दगी की शाम हो जाए।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, प्रो. प्रेम नारायण : 'भारतीय संस्कृति और मूल्यपरक शिक्षा की व्यवस्था' शीर्षक शोध-आलेख, प्रज्ञा पत्रिका, मानव-मूल्य विशेषांक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, अंक-56, भाग-01, वर्ष-2010-11, पृ. 79
2. दिनांक 05.09.2012 को शिक्षक दिवस के अवसर पर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्रख्यात शिक्षाविद् प्रो. सुभाष

चन्द्र तिवारी से डॉ. व्रजराज पाण्डेय की शैक्षिक भेंटवार्ता पर आधारित।
3. राजपूत, जगमोहन सिंह : 'सार्थक शिक्षा का आधार आदर्श शिक्षक' शीर्षक लेख, राष्ट्रीय सहारा (दैनिक समाचार पत्र), वाराणसी संस्करण, वर्ष 2012, सितम्बर 21
4. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्-10/12/4
5. मनुस्मृति- 2/233
6. कठोपनिषद-11/9
7. श्रीमद्भगवद्गीता-4/39
8. विवेक वाणी (स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ), रामकृष्ण मठ नागपुर, षष्ठ पुनर्मुद्रण, 2012, पृ.172
9. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-7, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.100
10. मेरे गुरुदेव, प्रकाशक-स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर, उन्नीसवाँ, पुनर्मुद्रण, 2011, पृ.25
11. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-7, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.100
12. मेरे गुरुदेव, प्रकाशक-स्वामी ब्रह्मस्थानन्द रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर, उन्नीसवाँ, पुनर्मुद्रण, 2011, पृ.29
13. वही, पृ.37
14. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-3, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.189
15. वही, खण्ड-4, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.21
16. वही, खण्ड-5, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.237
17. वही, खण्ड-7, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ. 100
18. वही, खण्ड-9, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ. 28-29
19. वही, खण्ड-10, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.398
20. वही, खण्ड-4, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.398
21. वही, खण्ड-3, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.95
22. वही, खण्ड-7, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.100
23. वही, खण्ड-9, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.264
24. वही, खण्ड-10, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.157
25. वही, खण्ड-4, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.21
26. स्वामी विवेकानन्द की वाणी, प्रकाशक : स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर, चतुर्थ पुनर्मुद्रण, 2013, पृ.20
27. वही, पृ.51
28. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-4, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ.23
29. मेरे गुरुदेव, प्रकाशक-स्वामी ब्रह्मस्थानन्द रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर, उन्नीसवाँ, पुनर्मुद्रण, 2011, पृ.30
30. वही, पृ.30
31. स्वामी विवेकानन्द और उनका सन्देश, प्रकाशक : स्वामी सर्वभूतानन्द, रामकृष्ण मिशन इन्स्टीच्यूट ऑफ कल्चर, गोलपार्क कलकत्ता, पृ.38
32. वही, पृ.45
33. वही, पृ.42
34. वही, पृ.33
35. प्रसाद, ब्रजेश कुमार : 'स्वामी विवेकानन्द : नये युग के प्रवर्तक' शीर्षक शोध-आलेख, संभाव्य शोध-पत्रिका, वाराणसी, अंक-12, जनवरी-मार्च 2013, पृ. 14
36. विश्वविवेक, पृ. 199
37. गॉस्पेल ऑफ श्री रामकृष्ण, पृ. 793
38. Life of Swami Vivekanand by His Eastern and Western Admirers (Advaita Ashrama : Calcutta 1995) Vol. I. p. 344.

●

बंगाल की समसामयिक सांस्कृतिक परिवेश : विकास भट्टाचार्जी

लाल बहादुर कुमार एवं एस. प्रणाम कुमार सिंह***

सांस्कृतिक मूल्य समाज की सामूहिक गतिविधियों की अभिव्यक्ति होती है, सांस्कृतिक परिवेश का स्तर समाज की उपलब्धियों का स्पष्ट प्रमाण होता है। यदि इन मापदण्डों पर बंगाल के सांस्कृतिक परिवेश को देखा जाए तो बंगाल-संस्कृति का दृश्य चमत्कृत करने वाला सिद्ध होता है। बंगाल अपने प्रत्येक रंग-ढंग में एक उच्च सांस्कृतिक इकाई रही यथा– साहित्य, कला, दर्शन, शिक्षा, रहन-सहन, वेश-भूषा इत्यादि। साहित्य, समाज या फिर खान-पान अपने भौगोलिक परिवेश से सर्वाधिक प्रभावित होता है। बंगाल भी इसका अपवाद नहीं है। बंगाल के भूगोल का उसके समाज, संस्कृति, कला व रहन-सहन सभी पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। समुद्र स्वयं में तरलता का समुच्चय होता है। यदि समुद्र को चन्द्र अपनी कलाओं से प्रभावित करता है, तो किसी क्षेत्र के निवासियों की भावनाओं के सागर को भी कला-संस्कृति का चन्द्र प्रभावित करता है। इन्हीं सब विशेषताओं ने बंगाल के सांस्कृतिक परिवेश को एक वैशिष्ट्य प्रदान किया है।

1905 से पूर्व का बंगाल एक विस्तृत राजनीतिक इकाई थी जिसमें वर्तमान पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, सिल्हट तथा वर्तमान बांग्लादेश सम्मिलित था। चूंकि बंगाल तत्कालीन ब्रिटिश शासन का आधार बिन्दु था, अतः ब्रिटिश शासन की राजनीतिक गतिविधियाँ प्रारम्भ से ही यहाँ पर संलग्न रहीं। कलकत्ता तत्कालीन ब्रिटिश शासन की राजधानी था, क्योंकि यह व्यापारिक केन्द्र और आमजन के लिए जीविका का साधन था। रोजगार-व्यापार की बहुलता के कारण बंगाल एक समृद्ध प्रदेश था। समृद्धता एक सुरक्षा का भाव पैदा करती है। मानव स्वभाव से ही नवीनता की तलाश में रहने वाला प्राणी रहा है। समृद्धता से आगे वह स्वयं को विविध कलाओं में खोजती है। वस्तुतः कला समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक स्तर को निर्धारित करती है, अतः बंगाल अपने सांस्कृतिक वैभव के लिए उच्च रहा है। चूंकि बंगाल अंग्रेजों के सम्पर्क में आने वाला प्रथम राज्य था अतः यहाँ के सांस्कृतिक परिवेश पर पश्चिमी प्रभाव की बहुलता दृष्टिगोचर होती है।

अनेक सांस्कृतिक सम्प्रदायों की बहुलता को समेटे हुए बंगाल में भारतीय जनसंख्या का बड़ा वर्ग निवास करता है। पूर्वी बंगाल में मुस्लिम तो पश्चिमी बंगाल में हिन्दुओं की बहुलता है। बंगाल ब्रिटिश सत्ता का केन्द्र था। ब्रिटिश तौर-तरीकों व उनके शासन को समर्थन देने वाला एक बड़ा तबका भी यहाँ मौजूद था, फिर भी बंगाल अपनी चेतना से सोया नहीं था। यह बंगाल ही था जिसने ब्रिटिश सत्ता के भारत विरोधी चरित्र को पहचाना व उसके खिलाफ क्रांतिकारी व संवैधानिक दोनों पद्धतियों से आवाज उठाई। ''अनुशीलन समिति'' व युगान्तर जैसे संगठन, ''संजीवनी, बंगाली संध्या'' जैसे समाचारपत्र बेहद मुखर व प्रभावशाली रहे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र, अरविन्द घोस व टैगोर-परिवार के अनेक सदस्य अपने-अपने क्षेत्र में देश हित के कार्यों में संलग्न थे। बंगाल राष्ट्रवाद का सबसे प्रखर प्रवक्ता बन कर देश के सामने प्रकट हुआ। यह ब्रिटिश सत्ता के लिए यह असहनीय था। बंगाल की एकता को विशृंखलित करने हेतु ''कर्जन के नेतृत्व में बंग-भंग की योजना बनी। बंग-भंग को एक प्रशासकीय आवश्यकता घोषित किया गया। किन्तु राष्ट्रवादी शक्तियाँ व अंग्रेज दोनों पक्ष इसके वास्तविक कारण को जानते थे। बढ़ती राष्ट्रवादी गतिविधियाँ व राष्ट्रीय एकता को तोड़ने के लिए विभाजन की घोषणा की गई जिसकी परिणति 16 अक्टूबर 1905 को बंगाल विभाजन के रूप में हुआ। बंग-भंग की घटना ने बंगाल सहित सम्पूर्ण देश को प्रभावित किया। बंगाल की सांस्कृतिक परिवेश भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। आमजन ने अपनी एकता को प्रदर्शित करने के लिए प्रभात फेरियां निकाली, सामूहिक स्नान किया दूसरों को राखी बाँधी। इन समस्त गतिविधियों ने बंगाली समाज को जुझारू और मजबूत बना दिया। समाज एक साथ उठ खड़ा हुआ। इन सामाजिक गतिविधियों ने सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश को गहराई से प्रभावित किया। शिक्षा, साहित्य, ललित कलाएँ इनके प्रभाव से अछूती न रह सकी। जीवन की समस्त विधाओं में ऐसे मूर्धन्य विद्वान समाज का नेतृत्व करने को प्रकट हो गये कि उनके कृत्यों का विवरण जानना देश-दुनिया के लिए आवश्यक हो गया है।

गुरुवर रवीन्द्रनाथ टैगोर व अवनीन्द्रनाथ टैगोर तत्कालीन बंगाल की अथवा सम्पूर्ण भारत की सबसे बड़ी सांस्कृतिक प्रतिभा थे। उनका लेखन व कला यद्यपि अंग्रेजी साहित्य से प्रभाव लेता था लेकिन उसमें भारतीय दार्शनिकता का अद्‌भुत समावेश था। इनके साहित्य में छाया रहस्यवाद केवल बंगाली साहित्य जगत तक सीमित न रहा, वरन् उसने हिन्दी-साहित्य समेत अनेक भाषा के साहित्यों को प्रभावित किया। 'गीतांजलि' संसार को उनकी सर्वप्रमुख देन है, जिसके लिए उन्हें 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। 'शरतचन्द्र' अपने सम्पूर्ण लेखन में बंगाल के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को उकेरने में बेहद

*शोध छात्र, चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
*एसोसिएट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सिद्धहस्त रचनाकार थे। वास्तव में 'देवदास' चरित्रहीन व अनेकानेक रचनाएँ शरत्चन्द्र के लेखन के माध्यम से बंगाली समाज को देखने समझने के लिए स्वयं में एक झरोखा है। आज तक भारतीय सिनेमा जगत का ट्रैजिक हीरो है। बंगाल साहित्य में काव्य के दृष्टिकोण से स्वर्णकाल रहे इस समय में हमें अनेक काव्य प्रतिभाएँ दिखाई पड़ती है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय एक प्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास आनंद मठ, दुर्गेश नंदिनी, कपाल कुंडला है। 'बन्दे मातरम् गीत' उनकी ही रचना है, जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के काल में क्रांतिकारियों का प्रेरणास्त्रोत बन गया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पूर्ववर्ती बांग्ला साहित्यकारों में उनका अन्यतम स्थान है। इसके अलावा अन्य सांस्कृतिक महापुरुष रहे रजनीकांत, द्विजेन्दलाल राय, मुकुन्ददास, सैयदअबू मुहम्मद आदि। इनके लिखे गीत, क्रांतिकारी आतंकवादियों, नरमपंथियों गांधीवादियों व स्वराज्यवादियों सबके लिए प्रेरणास्त्रोत बने और आज भी वे गीत बेहद लोकप्रिय हैं। बंग्ला लोकसंगीत में पल्ली गीत, जारीगान जैसे गीतों ने वृद्धि की, लोककथाओं में दक्षिणारंजन मिश्र मजूमदार की ''ठाकुरमार'', ''झूली दादी मां'' की कथाएँ आज भी प्रासंगिक है। जगदीशचन्द्र बसु की वैज्ञानिक प्रतिभा व अद्भुत व्यक्तित्व समाज के सम्मान व गौरव को बढ़ाया। प्रफुल्ल चन्द्र घोष जैसे वैज्ञानिक ने स्वदेशी केमिकल फैक्ट्री लगाकर समाज में स्व-आधारित उद्योगों के लिए प्रेरणा प्रदान की। सत्यजित राय को एक भारतीय फिल्म निर्देशक के रूप में 20वीं शताब्दी के सर्वोत्तम फिल्म निर्देशकों में गिना जाता है उन्होंने अपने कैरियर की शुरूआत पेशेवर चित्रकार की तरह की थी। सत्यजित राय ने अपने जीवन में 37 फिल्मों का निर्देशन किया था, जिनमें फ़ीचर फिल्में, वृत्त चित्र और लघु फ़िल्में शामिल हैं। इनकी पहली फिल्म ''पथेर पांचाली'' को कान फिल्मोत्सव में सर्वोत्तम पुरस्कार मिला। 'पथेर पंचाली', 'अप्राजितो', 'अपूर्ण संसार' के उपन्यासकार बिभूति भूषण बन्दोपाध्याय थे। ये उपन्यास सत्यजित राय, मृणाल सेन, श्याम बेनेगल जैसे फिल्म निर्माताओं के लिए आज भी प्रेरणा के स्त्रोत हैं।

चित्रकला का संदर्भ लें तो अवनीन्द्रनाथ टैगोर, गगनेन्द्रनाथ टैगोर दो बड़े नाम अपनी प्रतिभा सहित हमारे सामने आते हैं। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय कला पर पाश्चात्य प्रभाव को तोड़ा और मुगलों, राजपूतों की समृद्ध स्वदेशी पारम्परिक कलाओं व अजंता की चित्रकला से प्रेरणा ली। 1906 में स्थापित ''इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट्स'' की पहली छात्रवृत्ति भारतीय कला के मर्मज्ञ नन्दलाल बोस को मिली। सांस्कृतिक परिवेश का सर्वाधिक शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति ललित कलाएँ करती हैं। ललित कलाओं में चित्रकला अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं, इसका कारण उसकी अभिव्यंजना क्षमता है। चित्रकला अन्य कलाओं की तुलना में सरलता से सांस्कृतिक के सभी रंगों को व्यक्त कर सकता है, क्योंकि रंग ही तो जीवन के सभी भावों को व्यक्त करते हैं। हम अपने चारों तरफ रंगों से घिरे हैं, सभी रंग स्वयं भावों की अभिव्यक्ति होते हैं। चित्रों के काले, स्याह, सफेद, लाल, भूरे, पीले, नीले रंग मिलकर मन में बसे सांस्कृतिक परिवेश को कैनवास पर उकेर देते हैं। विवेचनीय कलावधि के चित्रकला के ऐसे सशक्त हस्ताक्षरों में रवीन्द्रनाथ टैगोर, असित कुमार हलदार, क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार, शरदाचरण वकील, रामकिंकर बैज, विनोद बिहारी मुखर्जी व शैलेन्द्र नाथ डे प्रमुख हैं।

बंगाल अपने खानपान के लिए भी प्रसिद्ध रहा है। 1905-50 का काल इन समस्त क्षेत्रों में सांस्कृतिक सम्मिलन का काल था। तब का कोलकाता अभिजात और बुद्धिजीवियों का शहर होने के बावजूद इस रूप में अब भी भिन्न था कि गैलरियों में आयोजित होने वाली प्रदर्शनियों में दर्शक वर्ग की उपस्थिति विरल ही रहा करती थी। एक खास समुदाय ही इनमें बार-बार दिखाई पड़ता था, वहीं अपनी जानी-पहचानी भंगिमा और पसन्द के साथ। हालाँकि साठ के दशक में पुराने चित्रकारों के साथ नए चित्रकारों की एक सरणि तैयार हो चली थी जो नए-नए प्रयोगों और प्रस्थानों के साथ अपनी पहचान बनाने में लगे थे। उन्हें देश-विदेश में सराहना भी मिल रही थी। ऐसे कुछेक मित्रों के सहयोग से जहाँ फिल्म निर्माताओं, साहित्यकार, रचनाकार, रंगकर्मी और संस्कृतिकर्मी पत्र-पत्रिकाएँ निकालने, संगोष्ठियाँ करने और नुक्कड़ नाटक का स्ट्रीट प्ले करने में जुटे थे। कोलकाता के ऐसे चित्रकारों और कलाकारों का छोटा-मोटा ग्रुप अपने-अपने ढंग से सक्रिय और समर्पित होकर एक नए दिगन्त की तलाश में जुटा था तथा प्राचीन परम्परागत तौर-तरीकों में अब पाश्चात्य प्रभाव घुल-मिल रहा था। वेश-भूषा सामान्यतः प्राचीन रही किन्तु भाषा व अभिह्वचि में पाश्चात्य प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है। स्थापत्य के क्षेत्र में हम पाश्चात्य प्रभाव को सर्वाधिक मुखरता से देखते हैं। डायमंड हार्बर, विक्टोरिया मेमोरियल हावड़ा ब्रिज जैसे विशाल रचनाओं ने समाज को नये स्थापत्य प्रभाव दिये। अब बड़े शहर आधुनिक भवन निर्माण पद्धति पर आधारित हो गये। 1905-1950 के दशक में निर्माण आज भी कलकत्ता जैसे शहरों में बहुलता से दिखाई पड़ते हैं। धार्मिक जीवन के प्रति उनके बौद्धिक तथा भावनात्मक दृष्टिकोण का आधार भी शहरी रहन-सहन की अपनी परिस्थितियों में है तथा उन्होंने लोक, आदिवासी या ग्रामीण कला परंपराओं में अपनी जड़ें तलाशने की कभी कोशिश नहीं की। वह पतनशील संस्कृति की देन है। पर यह सचमुच हैरत की बात है कि इन दिनों की उपभोक्तावादी संस्कृति ने व्यक्ति की जरूरतें इतनी बढ़ा दी हैं कि वह मशीन बन गया है। शोर में रहने को वह अभिशप्त है। समूह में घिरे रहने को बाध्य है। ऐसे में वह अपना एकान्त भी कहाँ पाये, जहाँ उसे उसकी अन्तरात्मा आवाज दे और वह अपने किये-धरे पर सोच सके। ऐसे में लगता है कि क्या कलाओं के लिए बने सौन्दर्य शास्त्र और निर्धारित प्रतिमान अब आज के सर्जक के काम के नहीं रह गए हैं? क्या वे अब इतने ही नाकाफी हो गए हैं कि कलाकार की अन्तःप्रज्ञा के काम नहीं आ सकते? आ सकते हैं,

पर उसके लिए कलाकार को अपनी दुनिया में लौटना होगा। अपने से सम्वाद करने की आदत डाले बिना वह ऐसा नहीं रच सकेगा जो सामाजिक के चित्त को समग्र बोध दे सकें। कहते हैं कि समग्र बोध की स्वीकृति जिस संस्कृति में नहीं होती, वह संस्कृति जीते हुए जन-समुदाय के बीच भी मरणासन्न होती है।

उपभोक्तावादी समाजों में जहाँ भौतिक समृद्धि के कीर्तिमान बनाये जा रहे हैं, वहाँ ऐसी ही संस्कृति शेष हैं; जहाँ ''सब कुछ'' तो है, पर 'अन्तर आत्मा' या तो बिला-बिसर गई है; या संकुचित हो गई है। मेरा संकेत निश्चय ही यूरोप और अमेरिका के उन समाजों की ओर है जहाँ जीवन तो है, पर उसका स्पंदन खो गया है। पश्चिमी समाज भौतिक समृद्धि की भेंट चढ़कर इस जीवित सामुदायिक संस्कृति को नष्ट करने पर तुले हैं। इसे केवल 'अन्तरात्मा की आवाज' सुनकर और गुनकर ही जिन्दा रखा जा सकता है। कहना न होगा कि इसकी सबसे बड़ी जिम्मेवारी कला-सर्जकों पर है जो संस्कृति को जिन्दा ही नहीं रखते! भारतीय समकालीन कलाकारों ने अपनी 'अन्तरात्मा की आवाज' सुनी और ऐसा रचा जो आने वाली कई पीढ़ियों को शुभ्रता और साध्य की पवित्रता की सीख देगी। साठ और सत्तर के दशक में अपनी यथार्थवादी कृतियों के माध्यम से जगत में ख्यात हो जाने वाले चित्रकार ''बिकास भट्टाचार्जी'' का जन्म कोलकाता के इसी कला व सांस्कृतिक परिवेश में 21 जून 1940 को हुआ था।

सत्तर के दशक में कोलकाता में काफी हलचल रही। इस दौर के कलाकारों ने अपने बचपन में सियालदह स्टेशन और मुख्य सड़कों पर शरणार्थियों और आश्रितों की भीड़ को कई वर्षों तक लगातार भीख मांगते और धक्के खाते देखा है। जब पश्चिम बंगाल में नक्सल आन्दोलन चरम पर था एक बार फिर उसी आतंक की स्मृतियाँ बिकास भट्टाचार्जी के कैनवास को चीख़ में बदल रही थीं। आजादी के पहले और बाद के महानगरीय कोलकाता का सारा परिदृश्य बिकास भट्टाचार्जी की स्मृति में संचित रहा था, जो बाद में उनके चित्रों का प्रमुख आधार और अभिप्राय बना। बिकास भट्टाचार्जी और कोलकाता सम्भवतः एक दूसरे के जितने निकट और आत्मीय बने रहे उतना शायद कोई और नहीं।

बिकास भट्टाचार्जी की पीढ़ी कलकत्ता के वैभवपूर्ण काल में नहीं पली। जब यह ब्रिटिश भारत की राजधानी था। इन्हें विरासत में उन्हें कलकत्ता मिला था, जो बंटवारे के धक्के से चेतनाशून्य था तथा जिसके शरीर पर सांप्रदायिक दंगों और राजनीतिक मारधाड़ के रिसते हुए जख्म थे, यह लोगों से ठूँसा हुआ पतनोन्मुख नगर था। अपनी ही जकड़ से कराहता और सभी तरह के अच्छे बुरे धंधों की गुंजाइशें पैदा करता हुआ। लेकिन साथ ही यह नगर सृजनात्मक आवेश से स्पंदित, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास का मुख आलोचक तथा राजनीतिक आकांक्षाओं में उग्र परिवर्तनों का समर्थक भी था। अपने अनेक समकालीन तथा पूर्ववर्ती कलाकारों, कवियों, फिल्म निर्माताओं और उपन्यासकारों की तरह बिकास भट्टाचार्जी भी ह्रासोन्मुख मानव मूल्यों के कटु आलोचक हैं। उनकी सभी कला कृतियों में ह्रासोन्मुख विश्व के प्रति कटुता, रोष और गहरी चिंता के चिन्ह मिलते हैं।

संदर्भ

1. समकालीन कला, *'ललित कला अकादमी'* का प्रकाशन, संपा. *ज्योति जोशी,* अंक-5, (नवम्बर-1985), नई दिल्ली, पृ0 6
2. समकालीन कला, *'ललित कला अकादमी'*, प्रकाशन, संपा. *ज्योति जोशी,* अंक-31, (नवम्बर-2006-फरवरी 2007), नई दिल्ली, पृ. 7
3. वही, पृ. 25
4. वही, पृ. 26
5. मनसिज, मजूमदार, *'क्लोज टू इवेन्ट्स : वर्क्स ऑफ बिकास भट्टाचार्जी'*, नई दिल्ली, 2006
6. भारद्वाज, विनोद, *'बृहद आधुनिक कला कोश'*, नई दिल्ली, 2006
7. चन्द्र, बिपिन *'भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'*, प्रकाशक, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, पुनर्मुद्रण 2005, दिल्ली, पृ. 89, 90

पाञ्चरात्रागमीय ब्रह्मविमर्श

*डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय**

पाञ्चरात्रागम निर्विवाद रूप से एक प्राचीन आगमिक परम्परा है। पाञ्चरात्र शास्त्र के आदि वक्ता स्वयं भगवान् नारायण है।[1] पाञ्चरात्र वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। प्रायः 225 संहिताओं के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] यह एक जीवन्त सम्प्रदाय है। श्रीरङ्गम्, मेलकोटै तथा काञ्चीपुरम् आदि दिव्यदेशों में आज भी विधिपूर्वक सम्प्रदायगत आराधना की जाती है।

पाञ्चरात्र परम्परा के अन्तर्गत ईश्वर के पाँच रूपों की कल्पना की गयी है–

मन्मूर्तयः पञ्चविधा वदन्त्युपनिषत्सु च।

परो व्यूहो हार्द इति विभवोऽर्चेति भेदतः ॥[3]

पर, व्यूह, विभव, अर्चा तथा अन्तर्यामी– ये सभी परमात्मा के स्वरूप सोद्देश्य हैं। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का परमतत्त्व वेदोपनिषद् प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' ही है। उपनिषदों में ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्द कहा गया है। ये तीनों उसके गुण नहीं स्वरूप है, क्योंकि वह अद्वितीय है। वह नित्य, विभु, तथा ज्ञान स्वरूप है। वह आनन्द ही है। जयाख्यसंहिता में उसे सभी प्रकार के निषिद्धगुणों से रहित तथा आनन्द स्वरूप ही माना गया है।[4] इस परमतत्त्व को पाञ्चरात्र आगम में 'वासुदेव' कहा गया है। बृहद्ब्रह्मसंहिता में उल्लिखित है कि सबकी अवधि (परमाश्रय) शेषी, सद्गुणों के आलय और सभी कारणों के कारण सच्चिदानन्द भगवान् है।[5] इस कथन में 'सर्वावधि' से 'सत्' का 'शेष' से चित् का और 'सद्गुणालय' से 'आनन्द' का ज्ञापन होता है। सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति 'सर्वकारणकारणा' रूपा होती है।

ब्रह्म शब्द 'बृंह' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है व्यापक होना, बढ़ना आदि। यही पदार्थों का वास्तविक स्वरूप है।[6] ब्रह्म एक, निर्दुःख, निःसीम, सुखानुभक्तलक्षण, अनाद्यन्त, अनामय, परब्रह्म, नारायण, सर्वभूतों में आवास किया हुआ, सबमें व्याप्त होकर स्थित, निर्वेद्य, अन्तरंग समुद्र के समान अविक्षिप्त, प्राकृत गुण स्पर्शरहित, किन्तु अप्राकृत गुणों का आस्पद, भवसागर से सर्वथा पार, निष्कलंक, निरंजन, आकार देश काल के आयोग से अविच्छिन्न, नित्योदित व्याप्ति, हेय तथ उपादेयोज्झित, किसी की इयत्ता से अपरिच्छेद्य।[7]

नारदीयसंहिता में सृष्टि के पूर्व सनातन वासुदेव का वर्णन है। संहिता में कहा गया है कि निरालोक, अतिगह्वर,निर्मयादि, निराभास, निष्प्रपञ्च, निरालय,इस महान् जगत् में जब इन्द्र तथा सूर्य की किरणें नष्ट हो गयी थीं, उस समय यह प्रपञ्च ग्रह तथा नक्षत्र से रहित था। पक्षियों के सन्तानें न थी, न देव थे, न राष्ट्र, न ब्रह्मा न अन्य जन्तु ही। उस समय एक सनातन भगवान् 'वासुदेव' ही थे। उसे निराभास, तत्त्वातीत, परशिव, ज्ञानशक्ति से सम्पन्न परमात्मा को पुरुषोत्तम मानना चाहिए। यह पुरुषोत्तम वासुदेव सर्वापेक्षया उत्तम पुरुष अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है।[8] इस ब्रह्म स्वरूप की तुलना औपनिषादिक ब्रह्मस्वरूप 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' से साम्य रखती है।[9]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में अनादि एवं अनन्त पर ब्रह्म को अक्षर तथा अव्यय कहा गया है। वह अनामयरूप संवेद्य तथा मन से अगोचर है। ब्रह्म सर्वशक्ति है। वह षाड्गुण्युक्त है।[10] षाड्गुण्य का अर्थ निरवच्छिन्न ज्ञान, निरवच्छिन्न शक्ति, निरवच्छिन्न ऐश्वर्य, निरवच्छिन्न बल, निरवच्छिन्न वीर्य, एवं निरच्छिन्न तेज कहा गया है जो अजड स्वात्मसंबोधि, नित्य तथा सर्वावगाही हो उसे ज्ञान कहते है। गुण-चिन्तकों के अनुसार इसी तरह का ज्ञान ब्रह्म का प्रथम गुण है। यही ज्ञान, ब्रह्म का स्वरूप साथ-साथ उसका गुण भी। शक्तिगुण जगत् निर्मातृ प्रकृति-शक्ति है। ब्रह्म स्वातन्त्र्य परिबृंहित कर्त्तव्य ही उसका ऐश्वर्य-गुण है, अर्थात् ब्रह्म सर्वथा स्वतन्त्र कर्तृत्वयुक्त है। सतत् प्रपञ्च की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म को श्रम नहीं होता और इसका यह श्रम हानि उसका बल-गुण है। उपादान के अभाव में भी विकार-विरह-रूप जो ब्रह्म का अच्युतत्त्व है, वही वीर्य गुण है। ब्रह्म का सहकारी की अनपेक्षा ही उसका तेजोगुण है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार शक्त्यादि पांच गुण प्रथम ज्ञान गुण के ही प्रकार हैं। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट ज्ञान ही परमब्रह्म का स्वरूप भी है। इस तरह पर ब्रह्म का षाड्गुण्य स्वशक्ति परिबृंहत ही है। ज्ञानस्वरूप वह परब्रह्म 'बहुस्याम' इस संकल्प अर्थात् इच्छा से सुदर्शन को ग्रहण करता है।[11] ब्रह्म निर्गुण है तथापि उसको षाड्गुण्य कहा गया है, क्योंकि निर्गुण का अर्थ प्राकृत गुणों के स्पर्श से रहित।[12] उपनिषद् में भी ब्रह्म स्वरूप को 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' और उसी से तेज, आप- तथा अन्न आदि की सृष्टि परिलक्षित है।[13]

पाञ्चरात्र आगम संहिताओं में 'शक्ति' तत्त्व की सविशेष प्रतिष्ठा हुई। अधिकांश आगमों में नारायण या वासुदेव आश्रय रूप बने रहते हैं उनकी क्रिया 'शक्ति' से प्रवर्तित होती है। इस शक्ति की प्रधानता से पाञ्चरात्र दर्शन में 'शक्तितत्त्व' की मुख्यता हो जाती है।

प्राचीन वैदकि दर्शन में शक्ति का उल्लेख 'स्वधा' के रूप में है। 'स्वधा' ऋग्वेद का शब्द है। इसके कई अर्थ किये गये हैं- आन्तरिक

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शक्ति[14] आन्तरिक स्वभाव,[15] विशेष स्वभाव[16] और स्वेच्छा शक्ति।[17] श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी को आत्मशक्ति कहता है। स्वधा या आत्मशक्ति ही संसार की सृष्टि क्रिया में उपादान है।[18]

द्वन्द्वातीत तथा निष्कल परात्पर सत्ता से प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि का होना तर्कसंगत न देखकर उसमें निहित एक शक्ति की परिकल्पना की गयी। अद्वैत वेदान्त में उसे 'अविद्या' या माया कहा जाता है। वह जडात्मक है। जड शक्ति में पुनः उन्मेष की समस्या खड़ी होती है, अतः उसे चित् शक्ति माना गया है। चित् शक्ति चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अस्तु, इसे ब्रह्माद्वैत कहते हैं। अभिप्राय यह है कि शक्ति के बिना शक्तिमान् अपनी अभिव्यक्ति में असमर्थ है।[19] उसी प्रकार शक्तिमान् 'शक्ति' बिना षाड्गुण्य रहित है। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। दोनों में 'तादात्म्य' सम्बन्ध है।[20]

लक्ष्मीतंत्र में यह उल्लेख है कि नारायण ब्रह्म है और भाव लक्ष्मी है।[21] दोनों रूप पर तथा ज्ञानात्मक है। अतः दोनों में भेद नही हैं।[22] दोनों के ही अनेक नाम है। यथा– आनन्दा, स्वतंत्रा, श्री, पद्मा, कमला, कुण्डलिनी, अनाहता, गौरी, गायत्री, शिवा, तारा तथा रति आदि शक्ति के नाम हैं।[23] इसी प्रकार परमात्मा, भगवान्, वासुदेव, अनन्त, प्रभव, हिरण्यगर्भ, शिव तथा विष्णु, नारायण आदि परमात्मा के नाम हैं।[24] विष्णुपुराण में तो प्रत्येक पुरुष को विष्णु तथा प्रत्येक स्त्री को श्री माना गया है।[25] लक्ष्मी, कीर्ति, जया तथा माया– ये चारों शक्तियाँ, चतुर्व्यूहों के साथ-साथ क्रमशः रहती है।[26]

नारायणी शक्ति महालक्ष्मी की समता सांख्य की प्रकृति से नहीं हो सकती, क्योंकि यह पुरुष से भिन्न नहीं है,बल्कि वह परमपुरुष की अहंता है और उससे अभिन्न है। इसकी तुलना सेश्वर सांख्य या योगसे की जा सकती है, किन्तु यह भी द्वैतवादी आगमों के सम्बन्ध से ही। इसकी ठीक-ठीक समता तो गीता की आत्ममाया, योगमाया तथा वेदान्त सूत्र की मायाशक्ति से ही बैठती है। यह नारायण से अभिन्न होती हुई भी अपनी विलक्षण प्रतिभा से सृष्टि का निर्माण करती है।[27] नारायण-लक्ष्मी या शक्ति-शक्तिमान् के ऐक्य का उल्लेख करते हुए भी पाञ्चरात्रागम मायावाद या अविद्यावाद का प्रबल विरोध करता है। उसके अनुसार जगत् असत् अथवा मिथ्या नहीं है, अपितु सत् परमतत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्य है।

'व्यूह' शब्द वि उपसर्ग पूर्वक 'ऊह' धातु से निष्पन्न है। 'ऊह' का अभिप्राय है किसी सिद्धान्त का उपयुक्त स्थानों पर प्रयोग करना, अतः **'विशेषेण ऊह्यते विधीयते इति व्यूहः'** इस सन्दर्भ में किसी विशेष सत्ता से सम्पूर्ण संसार की अभिव्यक्ति परिलक्षित होता है।[28] प्रधानतया व्यूह चार माने गये हैं। इसकी तुलना अद्वैत वेदान्त के प्राज्ञ,विराट, विश्व तथा तैजस् से की जा सकती है।

नारायणी पर्व में यह प्रतिपादित है कि व्यूह सदा चार व्यूह के रूप में मान्य नहीं है।[29] घोसुण्डि तथा नानाघाट के शिलालेखों में दो ही व्यूहों, वासुदेव एवं संकर्षण का उल्लेख है।

पुराणों में व्यूह का संकेत है। विष्णु पुराण में चारों व्यूह कृष्ण के पर्यायवाची के रूप में उद्धृत हैं।[30] भागवत महापुराण में भी प्रायः इसी प्रकार का वर्णन है,किन्तु एक स्थल पर वासुदेव को पर, संकर्षण को सूक्ष्म, प्रद्युम्न को बुद्धि तथा अनिरुद्ध को मन कहा गया है।[31] मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण, गरुड़पुराण[32] में नारायण को चार रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ माना गया है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में यह प्रतिपादित किया है कि परमार्थतत्त्व निरञ्जन तथा ज्ञानस्वरूप वासुदेव हैं। उन्होंने ही अपने को चार व्यूहों में प्रविभक्त किया। वे ही क्रमशः परमात्मा, जीव, मन तथा अहंकार हुए। वासुदेव की उन्होंने पराप्रकृत तथा व्यूहों को उसका कार्य।[33] ये चारों विभाग वर्ण क्रम से पूज्य हैं।[34] आगमप्रामाण्य में यह प्रतिपादित किया गया है कि ये जन्मादि रूप जीव नहीं है। ये परमात्मा की व्यूह रूप में अभिव्यक्तियां हैं, केवल व्यवहार मात्र के लिए जीव शब्द का प्रयोग किया गया है।[35]

विश्वात्मा भगवान् षाड्गुण्य के महान सागर है।[36] भगवान् वासुदेव में छहों पूर्ण मात्रा में एक साथ रहते हैं। चतुर्व्यूह के अवशिष्ट तीन रूप में षाड्गुणरूपकी विभक्ति, दो-दो करके हो जाती है। संकर्षण में ज्ञान और बल गुण होते हैं, जिनके द्वारा उपासना-क्षेत्र में, प्रद्युम्न में वीर्य एवं ऐश्वर्य की प्रधानता रहती है, जिनसे वे शास्त्रार्थभाव से भगवत्प्राप्ति का पथ प्रशस्त करते हैं। अनिरुद्ध में शक्ति और तेजगुण होते हैं, जिनके द्वारा शास्त्रार्थ का फल भगवत्प्राप्ति प्रदान करते हैं। ये तीनों क्रमशः शास्त्र, शास्त्रार्थ और शास्त्रार्थ साध्य फल के निर्वाहक हैं।[37] श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने भी लगभग इसी प्रकार का व्यूहों के कार्य-गुणों का प्रतिपादन किया है।[38] इस चतुर्व्यूह में प्रत्येक के तीन-तीन, इस प्रकार द्वादश व्यूहान्तर हो जाते हैं। फिर विष्णु के संकल्प से उन्तालिस 'विभव' आविर्भूत होते है।[39] भगवान् और वासुदेव दोनों शब्द परार्थ चतुर्व्यूह के ही द्योतक है। अहिर्बुध्न्यसंहिता का कहना है कि भगवत के चारों अक्षर चतुर्व्यूह के ही अर्थ देते हैं।[40] निष्कर्ष रूप में यह वट बीज की तरह है–

'अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्' -सात्वतसंहिता- 5/81

उपर्युक्त चतुर्व्यूहों से द्वादशमासाधिपयों, दशावतारों तथा विभवदेवों की उत्पत्ति होती है। सङ्कर्षणसंहिता के अनुसार चतुर्व्यूह, द्वादशव्यूहों तथा उनके आयुधों का स्वरूप अधोलिखित है–

वासुदेवेनसहचतुर्व्यूह, श्वेतवर्ण

ज्ञानरात्रम्, 3/34-61,84-107.

क्रमाङ्क	नाम	वा. मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	वासुदेव	शङ्ख	अभय	गदा	चक्र
2.	केशव	गदा	पद्म	चक्र	शङ्ख
3.	नारायण	गदा	पद्म	शङ्ख	चक्र
4.	माधव	शङ्ख	गदा	पद्म	चक्र

सङ्कर्षणेनसहचतुर्व्यूह, रक्तवर्ण

क्रमाङ्क	नाम	वा. मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	संङ्कर्षण	शङ्ख	अभय	मुसल	सीर
2.	गोविन्द	पद्म	गदा	चक्र	शङ्ख
3.	विष्णु	शङ्ख	पद्म	चक्र	गदा
4.	मधुसूदन	पद्म	शङ्ख	गदा	चक्र

प्रद्युम्नेनसहचतुर्व्यूह, पीतवर्ण

क्रमाङ्क	नाम	वा. मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	प्रद्युम्न	शङ्ख	अभय	शार्ङ्ग	बाणपञ्चक
2.	त्रिविक्रम	चक्र	गदा	पद्म	पद्म
3.	वामन	गदा	चक्र	पद्म	शङ्ख
4.	श्रीधर	गदा	चक्र	शङ्ख	पद्म

अनिरुद्धेनसहचतुर्व्यूह, कृष्णवर्ण

क्रमाङ्क	नाम	वा. मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
1.	अनिरुद्ध	शङ्ख	अभय	खेटक	खड्ग
2.	पद्मनाभ	पद्म	चक्र	शङ्ख	गदा
3.	हृषीकेश	चक्र	पद्म	गदा	शङ्ख
4.	दामोदर	गदा	शङ्ख	चक्र	पद्म

तन्त्रसार संग्रह में भी न्यूनाधिक रूप से इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं - (द्रष्टव्य, आगमकोष, भाग-4, पाञ्चरात्रागम, प्रो0 एस0के0 रामचन्द्रराव, कल्पतरु रिसर्च ऐकेडमी, बंगलौर, 1991, अपेण्डिक्स VIII, पृ0 185-186)

संकर्षण संहिता की तरह अहिर्बुध्न्यसंहिता भी चतुर्व्यूह से मासाधिपों का उद्भव स्वीकार करती है। इसके अनुसार मासाधिप व्यूहान्तर के नाम से भी अभिहित होते हैं।[41]

विभव का अर्थ अवतार है। पाञ्चरात्र दार्शनिक एक ही अविकृत परसत्ता मानते हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुसार परसत्ता अपना स्वरूप स्थिर रखते हुए अवतीर्ण होती है, जब कि पुराणों के अनुसार स्वयं भगवान् ही अवतरित होते हैं। यही दोनों में अन्तर हैं। परसत्ता द्रष्टा, साक्षी तथा उदासीन हैं उसे जागतिक प्रपञ्च से कुछ लेना-देना नहीं हैं। अस्तु, अवतार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। पाञ्चरात्र के प्रायः सभी संहिताओं में अवतारों का प्रादुर्भाव अनिरुद्ध से[42] या वासुदेवादि अन्य व्यूहों से स्वीकार किया गया है।[43]

विभव दो प्रकार का होता है। जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है उसे मुख्य कहते हैं और जिसकी उपासना भुक्ति के लिए की जाती है उसे गौण कहते हैं। धर्म की रक्षा तथा असुरों के विनाशार्थ विभवातार का प्रयोजन होता है। (द्रष्टव्य सात्वतसंहिता - अलशिङ्गभट्ट भाष्य, पृष्ठ - 187-188)

अहिर्बुध्न्यसंहिता में 39 अवतारों का उल्लेख है।[44] सात्वतसंहिता में अहिर्बुध्न्यसंहिता की तरह ही अवतारों का उल्लेख है।[45] लक्ष्मीतंत्र में 38 विभवों का ही उल्लेख है।[46]

अन्तर्यामी अवतार प्राणियों के हृदय कमल में निवास करता है। और अन्तरात्मा का नियमन करता है।[47] इसका प्रादुर्भाव अनिरुद्ध नामक व्यूह से होता है। इसकी तुलना औपनिषदिक अन्तर्यामी पुरुष से की जा सकती है।[48]

अर्चा-अवतार प्रस्तर, रजत आदि धातुओं से निर्मित अचेतन विष्णु आदि की मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा होता है,तथा अद्भुत शक्तियों का समावेश होता है। इसका उद्देश्य पूजन होने के कारण इन्हें अर्चावतार कहा गया है। यह अवतार प्रतिमा-पूजन से भिन्न है। प्रतिमा-पूजन में भक्त के ध्यान का केन्द्र मूर्ति होती है। स्थान की स्थिरता के साथ ही साथ उसके स्वरूप की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अर्चा उपासना में भक्त भगवान् के उपस्थिति का अनुभव करता है। यही अचेतन प्रतिमा एक नया अर्थ धारण करके प्रेम तथा हृदय के आकर्षण की वस्तु बन जाती है। आलवार सन्तों को भी यही उपासना-पद्धति अभीष्ट है।

उपर्युक्त विवेचना से सुस्पष्ट है कि पाञ्चरात्रागम में ब्रह्मतत्त्व साकार-निराकार, अमूर्त्त-समूर्त्त तथा सकल-निष्कलादि होकर भी केवल शुद्ध निर्विशेष ज्ञानरूप होते हुए षाड्गुण्ययुक्त भी है। पाञ्चरात्रागमोक्त ब्रह्मतत्त्व निर्विशेषाद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतमत का समन्वित रूप है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्। आगमप्रामाण्य, पृ.128
2. लक्ष्मीतन्त्र, भूमिका, पृ. 10-13
3. श्रीप्रश्नसंहिता - 2/54
4. आनन्दलक्षणं ब्रह्म सर्वहेयविवर्जितम्, ज्याख्यसंहिता-4,60। पाद्संहिता-1,5,29-40
5. सर्वलोकाधिःशेषी--एष सर्वावधिः शेषी भगवान् सद्गुणालयः। सच्चिदानन्दरूपोऽ सौ सर्वकारणकारणः। बृ.ब्र.सं. 2/7/147-148।
6. (अ) बृहस्याद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेति श्रुतिगुह्यतरे।
   अहि. सं. 2,37,ए।
   (ब) सर्वत्र बृहत्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः।
   बृहत्वं स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं
   सोऽस्य मुख्योऽर्थः। श्री भाष्य1,1/1
7. अहिर्बुध्न्यसंहिता, 2, 22-26

8. नारदीयसंहिता-1,25-260 29
9. बृहदारण्यकोपनिषद् 1, 4, 1
10. अहिर्बुध्न्यसंहिता-2,6-7
11. तत्रैव,56-62
12. अप्राकृतं गुणस्पर्श निर्गुणं परिगीयते- तत्रैव,2/55
13. छान्दोग्योपनिषद् 5/2,3-5
14. टू इट्स सिग्निफिकेन्स इन द रिग्वेदा, स्टेला क्रामरिश, अमेरिकन ओरियण्टल सिरीज, वा. वृ. 47, पृ. 112
15. तत्रैव,पृ0 115
16. डेकास्मोगोनी आन रिग्वेदा, जे. गोण्डा, 10 129, पृ. 692।
17. हाइम्न्स स्पेचुलेटीफिकंस टु वेदा, एल. रेन्यो पेरिस, 1956, पृ.126।
18. ऋग्वेद 10,90।
19. 'शिवःशक्त्या युक्तो भवति यदि शक्तः प्रभवितुं न चे देवन्देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि' सौन्दर्यलहरी, 1ए
20. 'अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात् । तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य चोभयोः।। लक्ष्मीतंत्र 2,17 बी, 18 ए
21. 'भगवान्नारायणो देवो भावो लक्ष्मीरहं परा। लक्ष्मीनारायणाख्यातमतो ब्रह्म सनातनम्'। तत्रैव, 2,15 बी, 16 ए
22. 'ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः'। तत्रैव 2, 25
23. अहिर्बुन्ध्यसंहिता - 3, 7-24
24. तत्रैव, 2, 26 बी-40
25. 'देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः । स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्।।' - विष्णुपुराण, 1/8, 35
26. लक्ष्मीः कीर्तिर्जया माया देव्यस्तस्याश्रितास्सदा - जयाख्यसंहिता - 6/77A
27. शक्तेः शक्तिमतो भेदाद्वासुदेव इतीर्यते। सर्वशक्तिमयो देवो वासुदेवः सिसृक्षया।। आगमकोश, भाग-4, पृ. 100
28. 'काश्मीर शैविज्म' जे.सी. चटर्जी, पृ. 59
29. नारायणीय पर्व, 349-57
30. विष्णुपुराण, 5
31. महाभागवतपुराण, अध्याय 10
32. सुदर्शनः श्री हरिश्च अच्युतश्च त्रिविक्रमः, चतुर्भुजो वासुदेवः षष्ठः प्रद्युम्न एव। संकर्षणः पुरुषोऽथ नवव्यूहो दशात्मकः, अनिरुद्धो द्वादशात्मा अत ऊर्ध्वमनन्तकः।। -गरुडपुराण 12/14-15
33. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य - 2, 2, 42
34. (अ) वर्णैश्चतुर्भिश्चत्वारः पूजनीया यथाक्रमम्।
वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाः।। आगमप्रामाण्य, पृ. 110
(ब) चतुर्णां ब्राह्मणादीनां स्वयमेवानुकम्पया।
चातुरात्म्येनरूपेण चतुर्धाव्यक्तिमेतिच। सा.सं. 12, 17
35. 'नानेन वचनेनेह जीवजन्माभिऽधीयते।
अपि तु व्यूहरूपेण व्यक्तिर्देवस्य कीर्त्यते।।
तत्र संव्यवहारार्थं जीवशब्दः युज्यते।
वर्णानामानुलोम्येन पूज्यभेदप्रसिद्धये।।' -आगमप्रामाण्य, पृ. 111
36. 'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्य तेजोमहोदधिः' -अहिर्बुध्न्यसंहिता 53-2
37. तत्रैव - 5, 17-24
38. तत्वमुक्ताकलाप - स. 3, 70, व्याख्या
39. अहिर्बुध्न्यसंहिता - 5, 47-60
40. 'चतुर्भिरक्षरैरेवं चतुर्व्यूहनिरूपणम्', तत्रैव, 52, 76
41. पाद्मसंहिता - ज्ञा.पा. 2, 21-25
42. अहिर्बुध्न्यसंहिता - 5, 46-48
43. लक्ष्मीतंत्र - 2, 55
44. पाद्मसंहिता - 1, 2, 81
45. अहिर्बुध्न्यसंहिता - 4, 50-57
46. सात्वतसंहिता - 4, 57-66
47. लक्ष्मीतंत्र - 11, 19-25
48. 'नियन्तासर्वदेहिनाम्' - विष्वक्सेनसंहिता, पृ. 122
'एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' - बृह. उप. 3/7/3

विद्यार्थी जीवन में महर्षि याज्ञवल्क्य प्रोक्त नियमों की उपयोगिता

डॉ. सुनील कात्यायन एवं धनेश कुमार पाण्डेय***

महर्षि याज्ञवल्क्य का जीवन अध्ययन के क्षेत्र में एक मानक माना जाता है, अतः उनके द्वारा प्रोक्तनियम छात्रावस्था के प्रायः समस्त क्रिया-कलापों में विशेषतया विद्याप्रकर्ष, कण्ठमाधुर्य तथा इन्द्रियकुशलता में अभिवृद्धि को देने वाले हैं। योग विद्या की दृष्टि से तथा तप की दृष्टि से उन्होंने विद्या के जगत् में छात्रावस्था के स्तर पर अपने जीवन में अध्ययन का अप्रतिम उदाहरण उपस्थापित करते हुए भगवान आदित्य से वेद विद्या का अध्ययन सम्पन्न किया है। जैसा कि कहा है–

''आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि
वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते''[1]

अन्यत्र भी कहा है—

''एवं स्थितः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादतः[2]**॥''**

तदनन्तर समस्त जगत में वैदिक ज्ञान का प्रसार करते हुए उन्होंने बड़े-बड़े शास्त्रार्थों में विजय पाई तथा अपने ज्ञान से महर्षि जनक जी की सभा को भी अलंकृत किया। महर्षि ने विद्यार्थी जीवन की कठिनाईयों को अनुभव करते हुए अपने जीवन के अनुभव एवं वैदिक जीवनचर्या के आधार पर छात्रों के लिए महान उपयोगी नियमों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। यद्यपि महर्षि ने वेदादि के अध्ययन को केन्द्र में रखकर उसमें विचार करते हुए शब्दोच्चारण के माधुर्य आदि गुणों का संनिवेश किया है, लेकिन ये माधुर्य आदि गुण आज भी मानव जीवन के प्रथम आश्रम (छात्रावस्था) में अत्यन्त उपयोगी एवं प्रासंगिक हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा में माधुर्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है-

''तेनास्यकरणे सौक्ष्म्यं माधुर्यं चैव जायते''।[3]

मधुरता केवल वाणी तक ही सीमित नहीं वरन इसकी व्यापकता समस्त मानवीय व्यवहार में बसी है। जैसा कि अथर्ववेद के मन्त्र में उद्धृत है–

''मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥[4]

उपर्युक्त मन्त्र में माधुर्यभाव को वर्णित करते हुए कहा है कि मधुर बनने की भावना को प्रबल बनाना चाहिए तथा चलने-फिरने, उठने-बैठने में भी मधुरता होनी चाहिए। स्वाध्याय में मधुरता का अभिप्राय है कर्कश आवाज से न पढ़ना, पढ़ने में अतिशीघ्रता, अस्पष्ट उच्चारण तथा शब्दों के मध्य-मध्य में अनुच्चारण प्रभृति दोष भी स्वाध्याय में माधुर्य गुण के विरोधी हैं। वाणी से भी मधुर बोलना चाहिए। क्रूर दृष्टि से युक्त मनुष्य मधुरदृष्टि वाला नहीं हो सकता। मधुरदृष्टि वे मनुष्य होते हैं, जिनकी आँखों में प्रेमधारा निकले। मनुष्य के प्रत्येक अंग में मधुरता होनी चाहिए। जैसा कि एक भगवद्भक्त ने प्रभु श्रीकृष्ण के लिए मधुराष्टक की रचना में–

''गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपते रखिलं मधुरम्''॥

प्रस्तुत करते हुए उनकी खाने-पीने, सोने, गाने आदि समस्त लीलाओं को मधुर बताया है। यह माधुर्य सात्विक भोजन का गुण है जो अपने भोक्ता द्वारा ग्रहण किये जाने पर उसके माधुर्य को ही बढ़ाता है तथा मनुष्य मधुरगुणी हो जाता है, इसी मधुरता को प्राप्त करने हेतु महर्षि याज्ञवल्क्य के पुत्र आचार्य कात्यायन ने भी प्रातिशाख्य में **''स्निग्धं मधुरम्''** सूत्र की रचना की है, जिसका टीकाकार उव्वट ने **'घृतयुक्त एवं मधुर (भोजन) करें'** ऐसा अर्थ किया है। यह तो हुई एक मधुर गुण की चर्चा, लेकिन इसकी प्राप्ति तथा इसके साथ ही विद्यार्थियों के उपयुक्त अन्यान्य गुणों की प्राप्ति के उपायों को कहते हैं। विद्यार्थी या उसके अभिभावकों द्वारा अच्छे शिक्षक या गुणी आचार्य का चयन करना भी एक प्रकार से विद्या प्राप्ति में प्रथम एवं आवश्यक प्रयास है। इस विषय में महर्षि यास्क ने **'आचार्य'** शब्द में ही आचार्योचित गुणों को निहित बताया है। अर्थात् जो शिक्षक छात्रों में सत् आचार को ग्रहण कराये वह आचार्य होता है। **''आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्**[5]**''** इति। वहीं एक दृष्टान्त के माध्यम से भी आचार्योचित गुणों को निरुक्तकार महर्षि यास्क ने व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है।

योग्य शिष्य का चयन

छात्रों में विद्या का आधान कराने वाले अध्यापक के लिए आवश्यक है कि वह उन छात्रों का विद्याध्ययन हेतु चयन करें जो उस विद्या के प्राप्त होने पर अभिमान रहित रहें तथा समाज एवं अपने आचार्य के प्रति अद्रोह बुद्धि को धारण करें, जो सर्वथा असूया से रहित हों तथा अपने आचार्य को माता-पिता के समान मानने वाले हों,

*सहायक आचार्य, वेद विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**अनुसन्धाता, वेद विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सर्वदा सत्य बोलने वाले और विद्या के प्रति अत्यन्त समर्पित एवं परिश्रम करने वाले हों। इस प्रकार के आदर्शगुणों से युक्त छात्रों का चयन होना चाहिए। जैसा कि निरुक्त में कहा है-

असूयकायानृजवेयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।
य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥

निरुक्त द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद—

उपरोक्त सभी गुण किसी शिष्य के चयन में प्रारम्भिक स्तर पर अवश्य ज्ञात कर लेने चाहिएँ।

द्वितीय स्तर पर निरीक्षण व परीक्षण द्वारा जाँचना चाहिए कि वह शिष्य बुद्धिमान होवे। अक्षर या शब्द के श्रवण में जिसको वर्णों की गुरुता एवं लघुता का भान होवे और यति गति-लय अर्धविराम-पूर्णविराम को जानने वाला होवे, नहीं तो शिष्य को विद्या ग्रहण करायी जायेगी कुछ और लेकिन वह जानेगा कुछ और, भविष्य काल में उस विद्या के विस्तार में भी अनेक त्रुटियाँ रह जायेंगी जिससे स्वयं विद्या भी भय मानती है, (**''विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि।''** निरुक्त द्वितीय अध्याय/प्रथम पाद....)

विद्यार्थियों का अध्ययन काल

1. अध्येता को चाहिए कि अध्ययन स्थल को स्वच्छ व पवित्र रखें तथा सुखद आसन पर बैठकर अध्ययन करें न कि किसी कठोर या क्लिष्ट आसन पर बैठकर।[6]
2. स्वयं को भी शुद्ध तथा साफ रखने हेतु हाथ-पैर एवं मुँह को धोकर ही एकाग्रता से अध्ययन करना चाहिए।[7]
3. उचित ऋतु में रात्रि के चौथे प्रहर में अध्ययन करना चाहिए। यहाँ ध्यातव्य है कि चौथे प्रहर में प्रकृति अत्यन्त शान्त एवं स्वास्थ्यप्रदा होती है। आचार्य उव्वट ने **''ऋतुं प्राप्य''**[8] सूत्र की व्याख्या में हेमन्त ऋतु से अध्ययनारंभ को प्रशस्त मानते हुए रात्रि के चौथे प्रहर को उत्तम माना है।
4. अध्ययन काल में अध्येता को बहुत अधिक श्रम करना भी उचित नहीं होता, क्योंकि स्वयं अध्ययन भी एक श्रम है तथा शारीरिक श्रम से उत्पन्न शरीरगत शैथिल्य भी अध्ययन पर प्रभाव डालता है। अतः आचार्य कात्यायन ने भी अध्ययन के दिनों में एक योजन से अधिक (आठ मील के लगभग) चलने का निषेध किया है। जैसा कि कहा है **''योजनान्न परम्''**।[9] यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रायः जो नियम बनाये जाते हैं वे सामान्य वर्ग को ध्यान में रखकर अभिव्यक्त किये जाते हैं, विशेषावस्था तथा व्यक्ति-विशेष इसका अपवाद हो सकते हैं, अथवा शारीरिक श्रम की अपेक्षा मानसिक श्रम को अधिक प्रशंसित करने हेतु उपरोक्त सूत्र व्यक्त किया गया है, क्योंकि जन सामान्य में शारीरिक श्रम को अधिक मेहनत वाला तथा बौद्धिक श्रम को कम मेहनत वाला माना जाता है, लेकिन महर्षि याज्ञवल्क्य का ब्राह्मणादि ग्रन्थों में स्वाध्याय के उद्देश्य से स्पष्ट ही उद्घोष है कि स्वाध्याय रूपी अध्ययन समस्त परिश्रमों में उच्चतम श्रमबिन्दु पर विराजमान होता है। जैसा कि- **''ये ह वै के च श्रमाः। इमे द्यावा पृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषाम्परमता काष्ठा। य एवं विद्वान् त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोध्येतव्य**[10].....''।

उपरोक्तानुसार भी स्वाध्याय करने को अत्यधिक श्रम वाला कर्म माना गया है, अधिक श्रम के कार्य में अधिक ऊर्जा का व्यय होना स्वाभाविक है। अतः महर्षि पुत्र आचार्य कात्यायन भी अध्येताओं के भोजन सूत्र में पूर्वोक्त **''स्निग्धं मधुरम्''** को समाहित करते हैं, अर्थात् विद्यार्थी को शुद्ध घी से भरपूर एवं मधुर रस युक्त भोजन करना चाहिए। मधुरता को पूर्व में भी व्याख्यायित किया जा चुका है।

अथर्ववेद में भी कहा है कि-

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदः क्रतवसो मम चित्यमुपायसि॥ 1/34/2

अर्थात् मन्त्र में जिह्वा, क्रतु, चित्त इन तीन का वर्णन है। यहाँ पर जिह्वा का अर्थ वाणी से, क्रतु का कर्म से तथा चित्त का मन से लिया जाना चाहिए। चित्त की शुद्धता तथा मधुरता के लिए ही वाणी की मधुरता को हेतु माना है। चित्त के माधुर्य प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति महात्मा हो जाता है अर्थात्- **''यन्मनसा मनुते तद् वाचा वदति। यद् वाचा वदति तत्कर्मणा करोति॥''** ऐसा ही महात्मा का भी लक्षण किया गया है-

''मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।''

अध्येता का धर्म

महर्षि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में अध्येता धर्म इस प्रकार से कहे गये हैं–

उपांशु त्वरितं चैव योऽधीते वित्रसन्नपि।[11]
अपरूपसहस्राणां सन्देहे स प्रवर्तते॥

अर्थात् अस्पष्ट उच्चारण वाला, तेजी से बोलने वाला, (जिस उच्चारण में वर्ण की स्पष्टता न हो) भयभीत रहने वाला, अन्यान्य व्यर्थ ही अपशब्दों का प्रयोग करने वाला तथा सर्वदा सन्देह में विचरण करने वाला व्यक्ति कुशल अध्येता नहीं बन पाता है।

पाँच प्रकार के विद्यार्थी भी अध्ययन करने में आचार्य याज्ञवल्क्य ने असमर्थ माने हैं–

''पंच विद्यां न गृह्णन्ति चण्डास्तब्धाश्च ये नराः।
अलसाश्चातरोगाश्च येषां च विस्मृतं मनः[12]**॥''**

चण्ड- कोप करने वाला, अर्थात् गुरुओं से द्रोह करने वाला।

स्तब्ध- गुरु के द्वारा उपदिष्ट विद्या के पद-पदार्थ को भली-भाँति ग्रहण करने में अपटु (पटुता रहित)।

आलसी- पठन-पाठन में मन न लगाते हुए अव्यवस्थित रहने वाला तथा दीर्घसूत्री (प्रत्येक कार्य को विलम्ब से कार्य करने वाला)।

रोगी- जो अध्येता दीर्घ रोग से ग्रस्त हो तथा अनेक प्रकार की गम्भीर बीमारियों से ग्रस्त हो।

अव्यवस्थित मन- जो गुरु के उपदेश काल में एकाग्रता के अभाव के कारण पद-पदार्थ को धारण करने या स्मरण करने में असमर्थ।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने विद्यार्थी जीवन के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर निम्न श्लोकों की रचना की है जो कि इस प्रकार है–

''अहेरिव गणाद्भीतः सम्मानान् नरकादिव।''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 100)

अर्थात् अध्ययन करने वाला व्यक्ति जनसमुदाय से दूर रहता है, जिस प्रकार सर्प जनसमुदाय से भयभीत रहता है तथा जो अपने प्रति किये गये आदर सम्मान से नरक की तरह मानता है वह विद्यार्थी विद्या को प्राप्त कर लेता है।

''न भोजनविलम्बी स्यात् न च नारीनिबन्धनः।
सुदूरमपि विद्यार्थं व्रजेद् गरुडहंसवत्।।''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 102)

अर्थात् अध्येता को अत्यधिक देर तक भोजन नहीं करना चाहिए। अर्थात् भोजन करते समय शीघ्रता करनी चाहिए। स्त्री विलासिता में परतंत्र (हमेशा स्त्री संग) नहीं रहना चाहिए। अध्ययन के लिए गरुड़ एवं हंस की तरह दूर देश जाने में नही हिचकना चाहिए, जैसे- गरुड़ एवं हंस अपने आत्मीय आनंद के लिए दूरवर्ती मान सरोवरादि इष्ट (अभिलषित) स्थान में जाते हैं, उसी प्रकार विद्यार्थी को भी विद्या ग्रहण करने के लिए सुदूर स्थान में जाने के लिए उत्साहित रहना चाहिए। अतः अध्ययन के लिए इन उपर्युक्त रुकावटों की अवहेलना कर जो विद्या ग्रहण करने में उत्साही होगा वही व्यक्ति विद्या ग्रहण करने का अधिकारी होता है।

''गुणिता शतशो विद्या सहस्त्रावर्तिता पुनः।
आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलान् निम्नमिवोदकम्।।''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 103)

जिस प्रकार समतल भूमिप्रदेश से निम्न प्रदेश में जल की गति शीघ्र होती है, अर्थात् उन्नत प्रदेश या स्थल से नीचे की ओर जल की गति शीघ्रातिशीघ्र होती है उसी प्रकार पहले सौ बार आवृत्ति के बाद विद्या आती है और पुनः हजार बार आवृत्ति करने पर वह विद्या जिह्वाग्र हो जाती है। अर्थात् समप्रदेश (समतल प्रदेश) से निम्न प्रदेश में जल की गति की तरह हजार बार आवृत्ति करने पर वह विद्या शीघ्र जिह्वाग्र हो जाती है, और अधिक बताते हैं कि-

''शतेन गुणिताऽऽयाति सहस्त्रेण च तिष्ठति।
शतानां च सहस्त्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति।।''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 104)

सौ बार पढ़ी गई विद्या याद होती या आती है। अर्थात् साधक की सहायता से स्वीकार की जाती है। वहीं स्वीकृत विद्या की हजार बार आवृत्ति करने पर वह विद्या जिह्वा पर उपस्थित है, अर्थात् लम्बे समय तक वह टिकी रहती है। तदनन्तर वही विद्या सौ हजार बार अर्थात् एक लाख बार आवृत्ति करने पर इस जन्म में तथा अन्य (दूसरे) जन्म तक दृढ़ रहती है।

''जलाभ्यासयोगेन शैलानां कुरुते क्षयम्।
कर्कशानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्नसाध्यते।।''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 105)

कोमल स्पर्श वाला जल कठोर पर्वतों का क्षय कर देता है, ऐसा देखकर यह अनुभव होता है, कि अभ्यास से क्या नहीं किया जा सकता है? अपितु अभ्यास के द्वारा सब साध्य बनाया जा सकता है। अर्थात् जब तक विद्या प्राप्त न हो जाये तब तक उसका अभ्यास करते ही रहना चाहिए। बीच में रुकना नहीं चाहिए। वैसे अन्यत्र विद्या के सन्दर्भ में कहा गया है, कि अभ्यासरूपी स्वाध्याय- न करने पर पढ़ी हुई विद्या विष के समान हो जाती है। यथा- **''अनभ्यासे विषं विद्या।''**

इस प्रकार अभ्यास करने में तो बल अपेक्षित होता है, ऐसी स्थिति में दुर्बलों के लिए विद्या का अभ्यास करना कठिन हो जायेगा और विद्या सिद्ध ही नहीं होगी। ऐसी आशंका करने पर निम्नाङ्कित कारिका में यह बताया जा रहा है कि बल अधिक न रहने पर भी उद्यम से सब संभव है–

''यथा पिपीलिकाभिश्च क्रियते पांसुसंचयम्।
न चात्र बलसामर्थ्य-मुद्यमस्तत्र कारणम्।।''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 106)

जैसे पिपीलिकाओं अर्थात् चींटियों द्वारा धूली का संचय करके ऊँचा टीला बनाया जाता है, वहाँ धूली के संचय करने में बल या सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं होती है। अपितु वह उद्यम (श्रम) ही अपेक्षित होता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे व थोड़ी-थोड़ी पढ़ी गयी विद्या कुछ समय पश्चात प्रचुर मात्रा में हो जाती है।

''यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 110)

जैसे जल प्राप्ति के लिए कोई व्यक्ति कुदाल आदि साधन के द्वारा जमीन को खोदते हुए जल को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार सेवा करने वाला शिष्य या विद्यार्थी गुरु जी से विद्या को ग्रहण कर लेता है। अर्थात् सेवा से गुरुगत रहस्यमय विद्या को भी प्राप्त कर लेता है। इससे यह ज्ञात होता है कि जल प्राप्ति के लिए जमीन को खोदने वाला व्यक्ति तब तक खनन कार्य में लगा ही रहता है जब तक कि जल प्राप्त नहीं हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जब तक गुरुजी से पूर्ण विद्या को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उस शिष्य को गुरु के सन्निकट अध्ययन में तत्पर रहना चाहिए।

शिष्यों के लिए वर्ज्य पदार्थ

छात्रों को अपने उन्नयन हेतु वर्ज्य वस्तुओं का त्याग करना श्रेयस्कर है, जैसे- मधु = शहद, मांस, अंजन = मुख पर घृत का लेपन या काजल लगाना, उच्छिष्ट भोजन, स्त्री सेवन, प्राणि हिंसा, सूर्य का उदय होते व अस्त होते हुए दर्शन, अश्लील एवं परिवाद भाषण आदि। इन समस्त निषिद्ध कृत्यों का सर्वथा त्याग करना चाहिए। जैसा कि कहा है—

''मधुमांसांजनोच्छिष्ट शुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम्।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत्''

याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय श्लोक 33।

इसके अतिरिक्त और भी अन्यान्य नियम कहे हैं, जिसमें छात्र के प्रति ''अधिक सम्मान'' को भी नरक के समान कहा है। **''सम्मानान्नरकादिव''** अतः समस्त सुखों तथा इन्द्रिय विषयों को छात्रावस्था में त्याग देना चाहिए, जैसे कि याज्ञवल्क्य जी ने भी कहा है—

''सुखार्थी चेत्त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत्सुखम्।
सुखिनस्तु कुतो विद्या विद्यार्थिनि कुतः सुखम्॥''

(याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रकीर्णप्रकरण श्लोक 102)

अनध्ययन काल

इस प्रसंग में 30 से अधिक कारणों को अध्ययन में गर्हित या वर्जित माना गया है। जैसे अपने किसी सम्बन्धी के मरने पर अध्ययन को विराम देना चाहिए। ग्रहण काल में तथा किसी भारी प्राकृतिक आपदा में भी अध्ययन को छोड़ने का उपदेश आचार्य याज्ञवल्क्य जी ने दिया है। (याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय श्लोक 144)

छात्रों की मेधावृद्धि एवं मुख-तन्त्र का शुद्धिकरण

माध्यन्दिनशाखीय याज्ञवल्क्य शिक्षा में वाक्स्पष्टता एवं मेधा की वृद्धि हेतु उपाय कहे हैं यथा-

''त्रिफलां लवणाक्तां वै भक्षयेच्छिष्यकः सदा।
क्षीणमेधा जनन्येषा स्वरवर्णकरी तथा॥''

याज्ञवल्क्य शिक्षा स्वरप्रकरण 38।

अध्ययन करने वाले अध्येता को चाहिए कि वह स्वर एवं वर्ण का स्पष्ट उच्चारण करने के लिए तथा दुर्बल धारणावती बुद्धि को परिवर्धित करने हेतु सान्ध्यकालीन भोजनोपरांत लवण मिश्रित त्रिफला चूर्ण को भक्षण करे प्रातःकाल भी शौचादि से निवृत्त होकर दन्तधावन व स्नान के अनन्तर त्रिफला का सेवन करने से तीनों दोषों (वात, पित्त व कफ) का निवारण होता है और शरीरेन्द्रियाँ भी अपना कार्य व्यवस्थित ढंग से करती हैं।

स्वास्थ्य एवं दाँतों की सफाई तथा वाणी के स्पष्ट उच्चारण हेतु दातौन का उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। जैसा कि कहा है–

''खदिरश्च कदम्बश्च करवीरकरंजकौ।
सर्वे कंटकिनः पुण्याःक्षीरिणश्च यशस्विनः॥''

याज्ञवल्क्य शिक्षा स्वरप्रकरण श्लोक 36-37

सामान्यतया कषाय, तिक्त तथा कटु रस वाले किसी भी हरे पेड़-पौधे की दातौन बनायी जा सकती है उसमें भी नीम, बबूल, खैर, कीकर, अर्जुन तथा कदम्ब आदि की दातौन का विशेष महत्त्व है। आचार्य याज्ञवल्क्य जी की दृष्टि में दुग्ध वाले पेड़ की दातौन अत्यन्त उत्तम मानी गयी है। टूथपेस्ट या टूथपाउडर की अपेक्षा दातौन ज्यादा गुणकारी होती है, क्योंकि उस वृक्ष के गुणों से मुखतंत्र व मुखावयव तो शुद्ध होते ही हैं साथ ही दाँतों एवं मसूड़ों का अच्छा व्यायाम हो जाता है- जिससे मसूड़ों में खून का प्रवाह बना रहता है तथा भाषा के प्रवाह में स्पष्टोच्चारण एवं मुखावरोधों का बाध भी हो जाता है। इसी प्रकार आचार्य याज्ञवल्क्य जी ने मेधा बढ़ाने हेतु त्रिफला का सैंधव नमक के साथ अनुपान बताया है, इस प्रकार से महर्षि याज्ञवल्क्य जी के द्वारा प्रोक्त नियमों को अंगीकार करके विद्यार्थी वाक्कौशल एवं विद्याकौशल को प्राप्त करता हुआ तन मन से स्वस्थ हो जाता है जो कि आज के युग में अत्यन्त उपयोगी है। इन्हीं सभी उत्प्रेरकों को महामना जी भी व्यक्त करते हुए राष्ट्रहित में चिन्तन करते हैं जैसा कि कहा गया है–

''सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथविद्यया।
देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानर्हः सदाभव॥''

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शतपथ ब्राह्मण- काण्ड-14/अध्याय या प्रपाठक-07/ब्राह्मण 05/कण्डिका-33
2. भागवत महापुराण- स्कन्द-02/अध्याय-06/श्लोक 33
3. याज्ञवल्क्य शिक्षा स्वर प्रकरण श्लोक-37
4. अथर्ववेद- 01/34/03
5. निरुक्त- प्रथम अध्याय द्वितीय पाद
6. शुचौ इष्टम्, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, अध्याय-1/सूत्र-21-22
7. प्रयतः, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, अध्याय-1/सूत्र-20
8. वाजसनेयी प्रातिशाख्य अध्याय-01/सूत्र-21-23
9. वाजसनेयी प्रातिशाख्य अध्याय-01/सूत्र-21-24
10. शतपथ ब्राह्मण- काण्ड-11/अध्याय या प्रपाठक-05/ब्राह्मण 07/कण्डिका-02
11. याज्ञवल्क्य शिक्षा वर्णप्रकरण श्लोक-98
12. याज्ञवल्क्य शिक्षा वर्णप्रकरण श्लोक-99

''प्रज्ञा'' : नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगीः प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।
2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।
3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।
4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।
5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

   ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

   (अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

   (ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

   (स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

   लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

   दिनांक एवं स्थान .....

   मोबाइल/टेलिफोन नं० .....

संस्कृत साहित्यशास्त्र में अलंकार तत्व का प्रतिपादन

डॉ. कंचन दूबे एवं डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय***

काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्व का नाम ही अलंकार है। अर्थात् ''अलंङ्करोति इति अंलकारः'' यह अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति है। अलंकार का आधार शब्द और अर्थ है। इसी आधार पर शब्दलङ्कार अर्थालङ्कार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुए उभयालंकार, इन तीन प्रकार के अलंकारों की कल्पना की गयी है।

अलंकार तत्व का स्वरूप और लक्षण

आनन्दवर्द्धन से पूर्व दण्डी और वामन ने अलंकार का लक्षण दिया और उनके पश्चात् मम्मट विश्वनाथ और जगन्नाथ अन्य आचार्यो ने अलंकार के लक्षणों में मम्मट आदि की छाया है। दण्डी और वामन आदि आचार्यों ने अलंकार लक्षणों में तारतम्य का अन्तर है। दण्डी के मत में काव्य (शब्दार्थ) की शोभा करने वाला अलंकार है-

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षतें।[1]
काव्यशोभायाः कर्त्तारों धर्माः गुणाः।।
तद्तिशयहेतवस्त्वलंकाराः।।[2]
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत्[3]
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वरिण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।[4]
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।।[5]

आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को अंग (शब्दार्थ) के आश्रित माना है और उन्हें कटक-कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर का शोभा जनक धर्म) कहा है। आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-लक्षण में अलंकार का रस के साथ कोई सम्बन्ध निदिृष्ट नही किया था, यद्यपि यह सम्बन्ध उन्हें अभीष्ट अवश्य था, यह कार्य मम्मट और विश्वनाथ ने किया। इनके मत में अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का प्रायः उपकार करते है। अपने अलंकार लक्षणों में उन्होंने अलंकार को शब्दार्थ का उस प्रकार अनित्य धर्म माना है, जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि शरीर के अनित्य धर्म है इसी प्रकार जगन्नाथ ने भी अलंकार को काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' के रमणीयता प्रयोजक धर्म मानकर ध्वनिवादियों का ही समर्थन किया है।[6] रस-ध्वनिवादी आचार्यो के मत में कुल मिलाकर अलंकार का स्वरूप इस प्रकार है–

1. अलंकार शब्दार्थ के शोभाकारक धर्म हैं।
2. ये शब्दार्थ के अंस्थिर धर्म हैं।
3. ये शब्दार्थ की शोभा द्वारा परस्पर-सम्बन्ध से रस का भी उपकार करते हैं।
4. और कभी रस का उपकार नही भी करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनिकाल से पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती आचार्यो के अलंकार स्वरूप में एक तत्त्व को तो किसी न किसी रूप में अवश्य स्थान मिला है वह है, अलंकारिता-काव्य की शोभा-जनकता- 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः।'दूसरी समानता यह है कि दोनों वर्गों के आचार्यो ने अलंकार को शब्दार्थ का ही शोभा कारक धर्म माना है।[7] दोनों वर्गों के मत का विभेदक धर्म यह है कि रसवादी अलंकार से शब्दार्थ की शोभा द्वारा रस का भी उपकार मानते हैं पर अलंकारवादी 'शब्दार्थ' की शोभा से आगे नहीं बढ़ते।

अलंकारों के प्रकार

अलंकार को तीन प्रकार में विभक्त किया गया है-शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। मम्मट के मत में इस विभाजन का आधार 'अन्वय-व्यतिरेक भाव' है,[8] और रूय्यक के मत में आश्रयाश्रयिभाव'। जिसके रहने पर जो रहें वह 'अन्वय' कहलाता है और जिसके न रहनें पर जो न रहें, वह व्यतिरेक। इसी आधार पर मम्मट ने अनुप्रासादि को शब्दालंकार, उपमादि को अर्थालंकार तथा पुनरूक्तवदाभास श्लिष्ट परम्परित रूपक और शब्द हेतुक अर्थान्तरन्यास को उभयालङ्कार माना है और इधर रूय्यक अपने ग्रन्थ 'अलंकार सर्वस्व' में अनुप्रासादि उपमादि और पुनरूक्तवदाभासादि उक्त अलंकारों को क्रमशः शब्दालंकार, अर्थालङ्कार और शब्दर्थालङ्कार इस आधार पर स्वीकार करते हैं। ये क्रमशः शब्द और शब्दार्थ पर आश्रित है, अर्थात् इनमें आश्रयाश्रियभाव है। मम्मट सम्मत अन्वय व्यतिरेक के खण्डन में इन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस आधार पर श्रोती अर्थात् शाब्दी उपमा शब्दालंकार मानी जायेगी अपितु इसे स्वयं मम्मट ने अर्थालंकार के अन्तर्गत माना है। अलंकार सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने कर्ण और कुण्डल के आश्रय-आश्रित सम्बन्ध के उदाहरण देते हुए अलंकारों को भी शब्दादि पर ठीक उसी प्रकार आश्रित बताया है जिस प्रकार कर्ण पर कुण्डल आश्रित रहता है।

मम्मट ने आश्रयाश्रयिभाव को भी अन्वयव्यतिरेक के ही अन्तर्गत माना था। अनुप्रास 'शब्द' के आश्रित है, यह माना। पर 'शब्द' के न रहने पर तो वहाँ अनुप्रास अलंकार नहीं रहेगा। अतः 'आश्रयाश्रयिभाव' की भी अपनी कसौटी 'अन्वयव्यतिरेक' ही है।[9]

---

*प्रवक्ता, बयालसी महाविद्यालय, जलालपुर, जौनपुर।
**सहायक आचार्य, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अलंकारों की संख्या

भरत मुनि से लेकर अप्पयदीक्षित-पर्यन्त वाणी-विलास की ज्यों-ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गयी अलंकारों की संख्या भी त्यों-त्यों प्रायः बढ़ती चली गयी। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया जाता रहा, फिर भी नये अलंकारों का समावेश संख्या में वृद्धि करता ही गया। भरत मुनि ने केवल 4 अलंकारों को माने हैं। इनके पश्चात् भामह ने 39, दण्डी ने 35, उद्भट ने 40 अलंकारों को, वामन नें 33 अलंकारों को, रूद्रट ने 52 अलंकारों को भोजराज ने 72 अलंकारों को, मम्मट ने 67 अलंकारों, रूय्यक ने 81 अलंकारों को जयदेव ने 100 अलंकारों को,विश्वनाथ ने 88 अलंकारों को अपय्यदीक्षित ने 124 अलंकारों को और जगन्नाथ ने 71 अलंकारों को माने हैं।[10]

अलंकारों का वर्गीकरण

भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। इसके मतानुसार वक्रोक्ति ही काव्य चमत्कार का बीज है, स्वभावोक्ति जो प्रकारान्तर से 'वार्ता' मात्र है।[11] पर स्वभवोक्ति के प्रति भामह की यह अवहेलना दण्डी की स्वीकृत नहीं है। इन्होंने समस्त वाङ्मय को उक्त दो वर्गो- वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति इसमें विभक्त करते हुए 'स्वभावोक्ति' को अलंकारों में प्रथम स्थान देकर इसके प्रति अपना समादर प्रकट किया है।[12] अपितु स्वभावोक्ति के प्रति भामह सम्मत अवहेलना कम नहीं हुई। वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व घोषित करने वाले कुन्तक के समय में यह उग्र रूप धारण कर ली। कुन्तुक ने इसे अलंकार रूप में स्वीकृत नहीं किया। इनका यह विषय तर्कपूर्ण रहा जिसका अभिप्राय यह है कि स्वभाव स्वरूप को ही स्वभावोक्ति कहते हैं, इसके स्वरूप को आख्यान। किसी भी वस्तु काव्यगत वर्णन के लिए उसके स्वभाव अर्थात् स्वरूप का आख्यान अनिवार्य है, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तो अस्तित्व हीन है। अतः स्वभाव की उक्ति को भी यदि स्वभावोक्ति नामक अलंकार कहा जाता है, तो यह नितान्त असंगत है। वस्तुतः स्वभावोक्ति शरीर है, इसे ही अलंकृत करने के लिए अन्य अलंकार अपेक्षित हैं। स्वयं शरीर कभी भी अपना अलंकार नही बन सकता भला स्वयं अपने पर चढ़ने में कौन समर्थ है।[13]

संस्कृत वाङ्मय में काव्य चमत्कार अथवा अलंकार को दण्डी प्रस्तुत उक्त वर्गीकरण को किसी आचार्य ने उल्लिखित नहीं किया। अलंकारों को सर्वप्रथम व्यस्थित रूप में वर्गीकरण करने का श्रेय रूद्रट को है, यद्यपि उनमें भी पूर्व उद्भट ने यह प्रयास अवश्य किया है पर इसमें वे सफल नहीं हुए। उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सार-संग्रह में निरूपित 40 अलंकारों को छः वर्गो में विभक्त किया है जो इस प्रकार है-[14]

1. सादृश्य मूल-अलंकार वर्ग
2. औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग
3. विरोध गर्भ अलंकार वर्ग
4. शृंखलाकार अलंकार वर्ग
5. न्यायमूलक अलंकार वर्ग
6. गूढार्थप्रतीति मूलक अलंकार वर्ग

चतुर्थ वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकारों में कोई आधार-साम्य लक्षित नहीं होता, जिसके बल पर इन्हें पृथक वर्गों में रखने का कारण बताया जा सकता है। चतुर्थ वर्ग में भी प्रेयस्वत्, रसवत् ऊर्जस्वि और समाहित के अतिरिक्त उदात्त और पर्यायोक्ति अलंकारों को तो विषय-साम्य के आधार पर एक साथ रखा जाना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

रूद्रट ने अर्थालंकार को वास्तव में औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार श्रेणियों में विभक्त किया-

अर्थस्यालंकारा वास्तवौपम्यातिशयः श्लेंषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निश्शेषाः॥ का.अ.7/9

सहोक्ति, समुच्चय, जाति यथा संख्या आदि अलंकार वस्तुगत हैं। उपमेय और उपमान की समानता का नाम औपम्य है। उपमा उत्प्रेक्षा रूपक आदि अलंकार इसके अन्तर्गत हैं। अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय को अतिशय कहते हैं। पूर्व विशेष उत्प्रेक्षा, विभावना आदि, अतिशयगत कहते हैं। अनेकार्थता का नाम श्लेश हैं। अविशेष, विरोध, अधिक, आदि श्लिष्ट अंलकार है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार का महत्व

भामह के समय में विद्वानों का वर्ग अर्थालंकारों का अधिक महत्त्व आंकने के पक्ष में था, और दूसरा वर्ग शब्दालंकारों का। पर भामह ने एक समन्वयवादी के रूप में दोनों के ही महत्व को समान रूप से स्वीकार किया है।[15]

दण्डी ने केवल दो शब्दालंकारों-अनुप्रास और यमक-का निरूपण किया है, और दोनों को समादर की दृष्टि से नहीं देखा। इनके मत में अनुप्रास का अर्थ शैथिल्य है और यह श्लेष गुण के अभाव का दूसरा नाम है गौड़ मार्ग के अवलम्बी ही इसे अपनाते हैं। यमक के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरता जनक नहीं है– तत्तु नैकानतमधुरम्[16]

आनंदवर्द्धन ने यमकादि शब्दालंकारों की अपेक्षाकृत हीनता प्रबल शब्दों में व्यक्त की है- ध्वन्यात्मक शृंगार विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार में यमक आदि का निबन्ध कवि के प्रसाद का सूचक है। काव्य में अलंकार का प्रयोग अप्रत्यक्ष होना चाहिए पर यमक-निबन्धन के लिए तो कवि विशेष शब्दों की खोज करनी पड़ती है। सरस रचना में यमक अलंकार रस को अंग बना देता है और स्वयं अंगी बन जाता है।[17]

कुन्तक की भी यमक के सम्बन्ध में यही धारणा है कि यह शोभा शून्य अलंकार है। इसके विस्तृत जाल में उलझने से क्या लाभ? स तु शोभान्तरामावादिह नास्ति प्रतन्यते।[18]

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थालंकार का पक्ष प्रबल है। भामह के एकवादी की यह धारणा कि 'रूपक आदि अर्थालंकार तो वाह्य है' हास्यस्प्रद सी प्रतीत होती है। न जाने इन्हें 'वाह्य' किस अर्थ में कहा गया है। अर्थालंकार का चमत्कार शब्द के अर्थ की प्रतीति के पश्चात् ही ज्ञात होता है। शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व अपने-अपने स्थान पर समुचित है। **'उभावेतौ अलंकार्यो।'**[19] अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य है। आन्तरिक पक्ष की सदा विजय मानी जाती है और यहाँ आन्तरिक पक्ष अर्थालंकार है न कि शब्दालंकार।[20]

अलंकारवाद के समर्थक आचार्य

आनन्दवर्द्धन और उनके समर्थक आचार्यों ने अलंकार को चित्रकाव्य (अधम काव्य) कहा है पर इनके पूर्ववर्ती आचार्यों की अलंकारिक विषयक धारणा इनसे विपरीत थी। वे अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते थे। इनके मत में काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार के अन्तर्गत है। इन आचार्यों में भामह और दण्डी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

भामह के शब्दों में जिस प्रकार कान्त होने पर भी वनिता-मुख भूषणों के विना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार सुन्दर वाक् (काव्य) भी अलंकारों के बिना नहीं शोभा पाता।[21] दण्डी ने अलंकार को काव्य का सर्वस्व माना है। इनके मत में गुण तो अलंकार है ही। रस, भाव आदि भी रसवद् प्रेयस आदि अलंकार ही है।[22] वामन ने काव्यगत समस्त सौन्दर्य को 'अलंकार' कहते हैं दण्डी का समर्थन तो किया है- सौन्दर्यलंकारः काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।' पर उनका यह 'अलंकार' शब्द न तो उपमा आदि अलंकारों का पर्याय है।[23] और न वामन अलंकार को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं।[24] अलंकारवाद के समर्थक उस युग में अलंकार के सम्बन्ध में वामन की यह धारणा उन्हें निःसंदेह एक निर्भीक आचार्य के रूप में उपस्थित करती है।

भामह और दण्डी के ही समकक्ष उद्भट भी अलङ्कारवाद के समर्थक रहे हैं। इनके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में काव्य के अन्य अंगों को छोड़कर केवल अलङ्कारों का ही निरूपण किया है। दण्डी के समान ही इन्होंने भी अंगीभूत रस, भाव आदि को रसवत् प्रेयस आदि अलंकारों के नाम से पुकारा है।[25] रूद्रट की गणना अलङ्कारवादी, आचार्यों में की जाती है। एक तो इनका ग्रन्थ का नाम ही 'काव्यालंङ्कार' है और दूसरा ग्रन्थ का अधिकांश भाग अलंकारों को समर्पित हुआ है। इस दृष्टि से रूद्रट का झुकाव अलंकारवाद की ओर परिलक्षित होता है।

मम्मट आदि आचार्य अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं, वे अग्नि को उष्णता विहीन शीतल क्यों नहीं मान लेते? जिस प्रकार उष्णता-विहीन अग्नि की कल्पना असम्भव है, उसी प्रकार अलंकार विहीन काव्य की कल्पना भी असम्भव है, और उपहसनीय है–

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।।[26]

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और शरीर के शोभाकारक धर्म हैं अलंकार। जिस प्रकार लोक में कुण्डल आदि अलंकार मानव शरीर से अलग देखे जाते हैं, उसी प्रकार क्या काव्यांलकार भी काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ से पृथक होते हैं? इस पर कहते हैं कि काव्यगत अलंकार काव्य के सहज धर्म हैं और वाक्यात्मक काव्य धर्मी। धर्म धर्मी में रहता है, अतः काव्यालंकार वाक्यात्मक काव्य से अलग नहीं होते हैं। क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ अलंकार के आधार है, धर्मी है और अलंकार उनके शोभाकारक धर्म हैं। धर्म-धर्मी के बिना नहीं रहता है। अतः काव्यालंकार शब्दार्थरूप काव्य से पृथक नहीं रह सकते हैं। इसी आधार पर अलंकार के तीन भेद निरूपित किये गये हैं- शब्दालङ्कार, अर्थालंकार और उभयालङ्कार। शब्द को अलंकृत करने वाले धर्म को शब्दालङ्कार, और अर्थ को अलंकृत करने वाले धर्म को अर्थालङ्कार तथा शब्द और अर्थ दोनों को अलंङ्कृत करने वाले धर्म को उभयालङ्कार कहते हैं।[27]

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी आचार्यों ने अलंकार के महत्त्व और उसके तत्त्व को समझा है और अपने-अपने ग्रन्थों में उनका गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया। यही कारण है कि प्रायः सभी अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकारों का निरूपण प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि अलंकारों के महत्त्व को सभी ने उच्च स्वर से स्वीकारा है।

सन्दर्भ सूची

1. काव्यादर्श 2/1
2. का0सू0 3/1/1,2
3. ध्वन्यालंकार 2/6
4. काव्यप्रकाश 8/67
5. साहित्यदर्पण 10/1
6. जगन्नाथ- काव्यात्मनों व्यंग्यस्य रमणीयता प्रयोजका अलंकाराः।
7. दण्डी और वामन का 'काव्य' शब्द तथा आनन्दवर्द्धन और मम्मट का 'अंग' शब्द 'शब्दार्थ' के पर्यायवाची हैं।
8. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यास मेव व्यवतिष्ठते।
9. योऽलंकारो यदाश्रित सः तदलंकार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यातिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावाद् इत्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्तं एवं परस्वरव्यतिरेको ज्यायान। काव्यप्रकाश 10/म.उ., पृ.769

10. भारतीय काव्यांग- डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 271
11. युक्तं वक्रस्वभावात्तया सर्वमेवैतदिष्यते।। काव्यादर्श 1/30
12. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोवित्तश्चेति वाङ्मयम्। काव्यादर्श 2/363
13. स्वभाववव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।।
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरूते परम्।
आत्मैव नाऽऽत्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहित। वक्रोक्तिजीवित 11/2,13
14. भारतीय काव्यांग- डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ. 274-75
15. रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। काव्यांलकार 1/138
16. काव्यादर्श 1/61
17. ध्वन्यात्मभूत शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्। शक्तावापि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः। ध्वन्या. 2, 15-16 वृत्ति
18. वक्रोक्ति जीवितं 2/7
19. वक्रोक्ति जीवितं 1/10
20. भारतीय काव्यांग- डॉ. सत्यदेव चौधरी, पृ0 270
21. काव्यादर्श 1/13
22. का.द. 2/3,5
23. स दोषगुणालंकार हानादानाभ्याम्। का.सू.वृ. 1/1/3
24. पूर्वे नित्याः। का.सू.वृ. 3/1/6
25. का.सा.सं. 4/2, 3, 4, 5, 7
26. काव्यप्रकाश नवम् उल्लास, पारसनाथ द्विवेदी, पृ. 471
27. काव्यप्रकाश नवम् उल्लास, पारसनाथ द्विवेदी, पृ. 472

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में आत्मचिंतन करने की आवश्यकता

*मुकेश कुमार मालवीय**

शिक्षा को लेकर समाज में सदैव चर्चा होती रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा औपचारिक और अनौपचारिक दोनों रूपों में व्यक्ति तथा समाज से जुड़ी है। शिक्षा एक ओर परम्परा और अर्जित ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करती है। वहीं दूसरी ओर वह परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल समाज तथा व्यक्ति को समर्थ बनाने का कार्य भी करती है। अपने पहले रूप में वह वाहक का कार्य करती है तथा दूसरे रूप में व्यक्ति को दक्ष तथा सक्षम बनाने का कार्य करती है। इसी प्रकार शिक्षा परिवर्तन का माध्यम भी हैं तथा परिवर्तन के अनुकूल व्यक्ति बन सके इसका साधन भी है। शिक्षा परिवर्तन को एक स्वरूप तथा दिशा देती है साथ ही वह परिवर्तन के लिए मनुष्य का मानस भी बनाती है। शिक्षा विकास और प्रगति में सहायक होती है। इस पूरी प्रक्रिया में शिक्षा समाज से प्रभावित भी होती है और समाज को प्रभावित भी करती हैं। समाज में विकसित नए प्रश्न और नव चिंतन उसे प्रभावित करते हैं। स्वाभाविक है कि समाज की शिक्षा से अपेक्षाएँ रही हैं जो समय-समय पर बदलती रही हैं। प्रत्येक समाज की सामाजिक संरचना उसका जीवन दृष्टि तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संचेतना शिक्षा के प्रति दृष्टि और अपेक्षाओं को सुनिश्चित करती रही है। शिक्षा के प्रति भारतीय सोच सात्विक और समन्वयात्मक के साथ मूल्यपरक रहा है। शिक्षा सदैव 'सत्यं शिवं सुंदरम् की संस्थापक' और 'व्यक्ति तथा समाज बोध के बीच समन्वय तथा तालमेल' स्थापित करने वाली रही है। वह व्यक्ति के समष्टि और परमेष्टि तक विकास का साधन रही है। भारतीय दृष्टि में शिक्षा संस्कार से जुड़ी है, नीति से जुड़ी है, कर्म की शुद्धता से जुड़ी है और यदि वह इन तीनों से पृथक है तो उसे महत्वहीन माना गया है। वह अशिक्षा है। शिक्षा अहंमन्यता लाने के लिए नहीं है शिक्षा सामाजिकता लाने के लिए है। शिक्षा लोक कल्याण और लोक मंगल के लिए है। केवल स्वयं के स्वार्थों की पूर्ति और स्वयं के विकास के लिए नहीं है। शिक्षा समाज के सापेक्ष है। वह व्यक्ति तक सीमित कभी नहीं रही।

आज स्थिति बदल रही है अथवा यूँ कहिए कि बदल चुकी है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापार के सामान्य समझौते (GAT) तथा विश्व व्यापार संगठन (WTO) के साथ ही साथ भूमण्डलीकरण के बाद जो परिदृश्य विकसित हुआ है उसने शिक्षा को खरीदने तथा बेचने की वस्तु बना दिया है। शिक्षा बाजार के साथ जुड़ गई है। शिक्षा स्वयं में व्यापार बन गई है। आँकड़ों में यदि देखा जाए तो अमेरिका को विदेशों से आय का पाँचवा भाग शिक्षा से प्राप्त होता है। फ्राँस, ब्रिटेन, जर्मन, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि देश हैं जो डिग्रियाँ बेचकर अपने यहाँ अध्ययन के अवसर देकर शिक्षा का व्यापार कर रहे हैं। अब भारत भी इसमें सम्मिलित हो रहा है। आज विश्व के श्रेष्ठ विश्वविद्यालय तथा शोध संस्थान विरले ही होंगे जो स्वतंत्र अनुसंधान को प्रोत्साहित करते हैं। सभी के कारपोरेट्स से समझौते है। बहुराष्ट्रीय निगम अपने हिसाब से व्यापारिक लाभ के लिए विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में शोध कार्य कारवा रहे हैं। स्थिति आज यह बन गई है कि कारपोरेट्स के साथ विश्वविद्यालयों के समझौते के लिए शासन भी प्रोत्साहित कर रहा है। स्वाभाविक है कि कारपोरेट्स शोध अपने व्यापारिक हित के लिए करवाएँगें।

शिक्षा से जुड़ा यह केवल एक पहलू है। भूमण्डलीकरण के कारण विश्व के सभी देशों की शिक्षा तथा उसकी व्यवस्था अपने मूल स्वरूप और स्वभाव को खोती जा रही है तथा पश्चिमी मॉडल के दबाव में आ रही है। पश्चिम ने शिक्षा के कुछ प्रतिमान विकसित किए हैं तथा विश्व के सभी देशों के विश्वविद्यालय अब तो महाविद्यालय और हायर सेकेण्ड्री संस्थाएँ भी उन मापदण्डों तथा प्रतिमानों के अनुरूप अपने को विकसित करने तथा उन्हें प्राप्त करने में लगे हैं।

आज बुनियादी अधोसंरचना पर जोर दिया जा रहा है। निसंदेह बुनियादी अधोसंरचना आवश्यक है। पर आज अधोसंरचना पर इतना अधिक जोर दिया जा रहा है कि शिक्षण संस्थान अपने भवन, फर्नीचर, शिल्प, बाह्य रूप पर इतना अधिक ध्यान दे रहे हैं कि संस्थाओं के भवन पाँच सितारा होटलों के समान दिखें। इस प्रवृत्ति ने अभिभावकों और छात्रों में इस भ्रम को विकसित किया है कि भवन ही शिक्षा है। जितना भव्य भवन उतनी अच्छी और महँगी शिक्षा। पर भव्य भवन ही पर्याप्त नहीं है, योग्य शिक्षकों का होना, शिक्षण संस्थाओं में अकादमिक वातावरण का होना, अच्छे पुस्तकालय और प्रयोगशालाओं का होना आवश्यक है ताकि छात्रों को एक्सपोजर मिले। अपने व्यक्तित्व को निखारने के पर्याप्त अवसर मिलें। उसके अंदर का जीनियस बाहर आ सके। उसकी तर्कशक्ति और उसका स्वचिंतन विकसित हो सके। भारतीय शिक्षा व्यवस्था से जुड़े लोगों को इस दिशा में आत्मचिंतन करने की आवश्यकता है।

---

*सहायक प्राध्यापक, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वर्तमान शिक्षा में तकनीकी, ज्ञान, प्रबंधन और व्यवसाय पर जोर है। इसने कई प्रश्नों को जन्म दिया है और स्थितियों को विकसित किया है। उत्तर प्रौद्यौगिकी काल प्रायः सभी परंपरागत मूल्यों और वर्जनाओं से मुक्त हो गया है। परिणामतः जीवन में खुलेपन और स्वकेन्द्रित होने की वृत्ति पनप रही है। आस्था, विश्वास और मूल्यों का संकट आज की सबसे बड़ी चुनौती है। इन संकटों का कोई कारगर हल आधुनिक शिक्षा के पास नहीं है।

शिक्षा को लेकर जो अंतराष्ट्रीय सम्मेलन हुए उनके आधार पर जिस ओर हम आगे बढ़ रहे हैं वह देशों के सम्मुख स्वयं की परंपरागत पहचान, संस्कृति, जीवन दृष्टि के स्थान पर पाश्चात्य मूल्यों और जीवन दृष्टि को अपनाने पर जोर दे रहा है। 1990 में हुए जोमितयान सम्मेलन के बाद प्राथमिक शिक्षा में विश्व बैंक का हस्तक्षेप बड़ा है। शिक्षा संबंधी नीतिगत निर्णय भी विश्व बैंक लेने लगा है। ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम भारत पर लागू किया गया है। शिक्षा के उद्देश्यों में भारी अंतर आया है। आज शिक्षा का उद्देश्य अच्छा नागरिक बनाना गौण है। भूमण्डलीकरण के लिए बच्चे की मानसिकता को बनाना अधिक है।

हमारे सम्मुख आज एक अहं प्रश्न यह है कि क्या हम आधुनिक शिक्षा को भारतीय स्वरूप दे पा रहे हैं। आज की शिक्षा हमारी प्रौद्योगिकी, प्रबंधन, तकनीकी तथा व्यवसायिक आवश्यकताओं को काफी कुछ पूरा कर पा रही है, पर उसमें भारतीयता का भाव जागृत नहीं हो पा रहा है, उसमें भारतीय मूल्य और जीवन दृष्टि शिथिल हो रही है।

सामान्यतः सारी दुनिया में यह माना जाता है कि कुछ भी अगर परिवर्तन लाना है, विकास होना है तो उसका माध्यम शिक्षा है। कोई भी कला हो, कोई भी व्यवसाय हो, कोई भी विषय हो, उस संदर्भ में अगर आगे बढ़ना है तो पहला जो विषय आता है वह शिक्षा का है और इसलिए शिक्षा का प्रचार-प्रसार होना चाहिए। सारी दुनिया के अंदर इसका आग्रह भी रहता है, प्रयत्न भी चलता है। भारत की स्थिति पर विचार करें, तो आजादी तब मिली जब उस समय भारत में कुल 17 विश्वविद्यालय थे। आज 400 से ऊपर विश्वविद्यालय हो गए हैं। 21000 से ऊपर कॉलेज हैं। 2000 से अधिक (IIT-IIM) तकनीकी संस्थान, अनेका-अनेक रिसर्च सेंटर्स और इसके नीचे उच्चतर, माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय तो लाखों की संख्या में हैं। स्पष्ट है कि शिक्षा का विस्तार हुआ है हमारे यहाँ, वैसे ही सारी दुनिया में हुआ है। जिन्हें विकसित देश कहते हैं, वहाँ पर भी, अन्तिम व्यक्ति तक शिक्षा जानी चाहिए, उसके प्रयत्न हुए और वे आगे बढ़े। वर्तमान में भी सर्वशिक्षा अभियान, मिड डे मील आदि अनेक माध्यमों से शिक्षा को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न अपने देश में भी चल रहा है। शिक्षा व्यय बढ़ता जा रहा है। लेकिन सारी दुनिया में, चिंतकों के सामने दूसरा प्रश्न भी खड़ा हो रहा है कि ज्यों-ज्यों शिक्षा बढ़ रही है त्यों-त्यों समस्याएँ भी बढ़ रही हैं। अमेरिका को बहुत विकसित देश कहते हैं, वह बहुत विकसित है भी, लेकिन वहाँ पर गन कल्चर भी उतनी ही बढ़ रही है। परिस्थिति ऐसी है कि 12 साल की लड़कियाँ गर्भवती हो रही है, 14 साल का लड़का अपने साथी को शूट कर रहा है और 16 साल का लड़का HIV+ टेस्ट करा रहा है। परिवारों के अंदर सामंजस्य (Adjustment) नहीं हो रहा है, तो परिवार टूट रहे हैं। समाज में तनाव है, व्यक्तिगत जीवन में अवसाद (Depression) है। अपने देश में भी विचार करेंगे तो शिक्षा का ज्यों-त्यों विस्तार हो रहा है भ्रष्टाचार का भी त्यों-त्यों विस्तार हो रहा है। और भ्रष्टाचार करने वाला कोई अनजान आदमी है, ऐसा नहीं है। जो जानकार है वही है और जो जितना अधिक जानता है वह उतना ही अधिक कुशलता के साथ भ्रष्टाचार करता है। एक द्वंद्व आ रहा है। मुद्दा यह है कि आज शिक्षा का उद्देश्य तो अच्छा है। शिक्षा में नर से नारायण बनाने वाली अपनी परम्परा की बातें सब ठीक हैं, पर प्रश्न है, ऐसा हो क्यों रहा है कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति का गाँव से प्रेम समाप्त हो रहा है? परिवार से प्रेम समाप्त हो रहा है? खेती से प्रेम समाप्त हो रहा है? शहरी शिक्षित व्यक्तियों का अपनी परंपरा से प्रेम समाप्त हो रहा है? अपने मूल्य, अपनी विरासत सभी से हम विमुख हो रहे हैं? यह प्रश्न अब सारी दुनिया के सामने है कि ऐसा क्यों है? 21वीं सदी में शिक्षा कैसी हो? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए यूनेस्कों ने एक समिति का गठन किया जिसके अध्यक्ष डेलर्स थे। समिति ने पूर्ण विचारोपरांत अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसका शीर्षक था 'लर्निंग ट्रेजर विद इन' अर्थात् खजाना बाहर नहीं अंदर है। यह रिपोर्ट 1996 में प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट में जहाँ एक तरफ जो विसंगतियाँ हैं उनका विवेचन किया, तो दूसरी ओर इक्कीसवीं शताब्दी के अंदर मानव जाति के सामने कौन-कौन सी समस्याएँ आने वाली हैं, जिनका उत्तर शिक्षा को देना पड़ेगा, इसका भी विवेचन किया गया। रिपोर्ट में कहा गया है कि कुछ विरोधाभास (Contradictions) हैं, अंतर्द्वंद्व (Conflicts) हैं आपस में। इनके बीच में कैसे संतुलन करें इसका समाधान शिक्षा को निकालना पड़ेगा। ऐसे सात प्रकार के अंतर्द्वंद्वों (Conflicts) का डेलर्स रिपोर्ट (Delor's Report) वर्णन करती है। पहला है वैश्वीकरण बनाम स्थानीयता (Global vs Local)। आप जानते हैं कि आज स्थानीय पहचान (Local identity) समाप्त हो रही है। सब कुछ एक प्रतिमान (Model) के अंदर आ रहा है। एक तरफ स्थानीय विशेषताएँ हैं और दूसरी तरफ वैश्विक, इनके बीच का द्वंद्व है। दूसरा है सार्वभौम बनाम व्यक्तिगत (Universal V/s Individual)। तीसरा उन्होंने कहा परम्परा बनाम आधुनिकता (Tradition v/s Modernity)। एक बड़ी विचित्र धारणा हो गई है आजकल कि यदि आपको मॉडर्न बनना है तो परंपराओं (Traditions) को गाली

दो। मुख्यतः यह सोच ही गड़बड़ है। हमारे यहाँ पर कहा गया है कि भई विकास होना चाहिए। विकास होना चाहिए तो क्या होना चाहिए? आगे बढ़ना चाहिए। हम सब आगे कैसे बढ़ते हैं, हम सब मनुष्य हैं, जब सड़क पर चलते हैं तो एक पैर अपना जमीन पर रहता है और एक पैर ऊपर उठता है, आगे रखा पैर जमीन पर टिका रहता है, दूसरा पैर उठाते हैं फिर उसको आगे रखते हैं। इसी ढंग से बढ़ते हैं। कोई कहे कि क्या ये हजारों साल पुरानी दकियानूसी बात है। मैं दूसरे ढंग से चलूँगा। बिना जमीन पर पैर रखे, दूसरा पैर भी उठाऊँगा। जो उठा सकता है, कोई ऐतराज नहीं है लेकिन होगा क्या? मैं कहता हूँ कि यह जमीन पर रखा हुआ पैर, परम्परा (Tradition) है, जो आगे पैर रख रहे हो वह आधुनिकता (Modernity) है। परम्परा को छोड़कर आप आधुनिकता में (Modernity) जाएँगे तो आपका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। पर आज हम इसका मार्ग खोज नहीं पा रहे हैं। हमारे यहाँ जो सनातन धर्म है, उसका अर्थ है चिर पुरातन, नित्य नूतन, ये दोनों जोड़कर के चलना है। चौथा उन्होंने कहा है कि दूरगामी बनाम अल्पकालिक पिक्चर (चित्रण) (Long term v/s short term consideration)। कुछ समस्याएँ तात्कालिक हैं लेकिन उनके समाधान दीर्घ कालिक हैं, जिन पर प्रयत्न करना पड़ेगा। पाँचवाँ उन्होंने कहा है प्रतिस्पर्धा बनाम समानता (Competition v/s concern for equality)। एक ओर समानता (equality) है और दूसरी तरफ प्रतिस्पर्धा (Competition) है। यदि आरक्षण (Reservation) करते हैं तो लगता है कि व्यक्ति की योग्यता का असर जाता है। लेकिन दूसरी तरफ समाज में अगर बहुत विषमता है तो उसको समान लाना है इसलिए आरक्षण (Reservation) भी चाहिए। यह अंतर्विरोध है। छठवाँ उन्होंने कहा है कि ज्ञान की उपलब्धता बनाम विचार ग्राह्यता की क्षमता (Knowledge exploration v/s Capacity to assimilate) जानकारियाँ बहुत मिल रही हैं लेकिन कौन-सी लेना, कौन-सी नहीं लेना, इसका विवेक चाहिए। इंटरनेट से बहुत कुछ मिलता है लेकिन लेना क्या है? इसका हमें विचार करना है क्योंकि दोनों तरफ की चीजें मिलती हैं, और अन्तिम एवं सातवाँ उन्होंने कहा है कि आध्यात्मिकता बनाम भौतिकवाद (Spirituality v/s, Materialsis) भौतिकता और आध्यात्मिकता का द्वंद्व और इस नाते से इन सबके बीच में कैसे मार्ग निकालें यह विचारणीय प्रश्न है।

कहीं-न-कहीं हमें इसका मूल कारण क्या है, इसका विवेचन करना पड़ेगा। यूनेस्को (UNESCO) ने कहा कि इसका मूल कारण है व्यक्ति और विश्व के प्रति खण्डित दृष्टि (Distorted vision of man and universe) मनुष्य क्या है? विश्व क्या है? और उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? इसका आज पूर्णता में चिंतन का अभाव है। इन सारी समस्याओं की जड़ व्यक्ति के अंदर है। मनुष्य और समाज के रिश्ते क्या हैं? मनुष्य और परिवार के रिश्ते क्या हैं? पड़ोसियों के साथ हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए। किन आधारों पर होना चाहिए। प्रकृति के प्रति हमारा क्या सम्बन्ध होना चाहिए? इस दृष्टि से किसी-न-किसी एक वैकल्पिक दर्शन की जरूरत है। जब यह प्रश्न आता है तो स्वाभाविक रूप से लोग धीरे-धीरे भारतीय चिंतन की ओर मुड़ते हैं। शिक्षा का लक्ष्य और दायित्व की जब चर्चा आती है तो मुझे लगता है कि सबसे पहले आज विचार करने की आवश्यकता है कि भारतीय शिक्षा क्या है? और दूसरा यह कि वर्तमान में जो समस्याएँ खड़ी हुई हैं तो उनका कारण क्या है? और फिर, तीसरा है कि उसका उपाय क्या है? इसलिए संक्षेप में, मैं ये तीनों संदर्भों में कुछ बात रखना चाहूँगा।

भारत में शिक्षा, कभी भी मात्र कोई रोजगार उत्पन्न करने वाली या आप जिस कला-कौशल में आगे बढ़ना चाहते हैं उसकी कुशलता प्राप्त कराए इतना ही मात्र नहीं है। स्वामी विवेकानंद ने एक वाक्य के अंदर शिक्षा क्या है? उसका एक विवेचन किया है। मैं विवेकानंद को इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ कि भारत का प्राचीन और विश्व का वर्तमान दोनों का सामयिक उनका अध्ययन था। उन्होंने कहा है कि Education is the manifestation of the perfection already in man मनुष्य के अन्दर जो पूर्णत्व निहित है उसकी अभिव्यक्ति शिक्षा है। एक बच्चा, जब पैदा होता है, तो उसमें और पशु में कोई अंतर नहीं होता। पशु जैसे अपना सोचता है, बच्चा भी अपना सोचता है। उसका खिलौना उसका भाई भी ले ले तो रोने लगता है। लेकिन पूर्णत्व अभिव्यक्त करना, यानि धीरे-धीरे उसका अपनापन बढ़ना, अपने परिवार के साथ, फिर गाँव के साथ, फिर बढ़ते-बढ़ते, सृष्टि के साथ। कुल मिलाकर फिर जो अंतिम तत्व जिसको कहते हैं वहाँ तक पहुँचना, यह शिक्षा है कुल मिलाकर। यह होगा कैसे तो विवेकानंद जी ने कहा कि ये अगर करना है तो हमको प्रकृति का बाह्य और आंतरिक नियमन करना चाहिए। आज समस्या सबसे बड़ी यह हो गई है कि मनुष्य बाह्य प्रकृति का नियमन तो विज्ञान के द्वारा बहुत कुछ सीख रहा है। लेकिन ये जो मनुष्य है जिसमें मन है, भावना है, विचार है, उसकी अंतप्रर्कृति का नियमन कैसे करना है इसका कहीं कोई प्रावधान नहीं है। इसलिए विवेकानंद ने कहा है कि अंतप्रर्कृति और बाह्य प्रकृति का नियमन करना है। इसको कैसे करना यह आप ज्ञान के द्वारा करिए, कर्म के द्वारा करिए, भक्ति के द्वारा करिए, या मनसंयम, योग के द्वारा करिए, एक के द्वारा करिए या सबके द्वारा करिए। यह महत्वपूर्ण है, बाकी सारी बातें गौण हैं। एक तरह से ऐसे जीवन मूल्यों को लेकर जब जीवन जिए जाते हैं तो धीरे-धीरे एक परम्परा खड़ी होती है, कुछ जीवन-मूल्य खड़े होते हैं, जीवन के व्यवहार खड़े होते हैं, उसी को हम संस्कृति कहते हैं। जिसमें संस्कृति, जीवन मूल्य, जो सादगी में निर्मित होते हैं वे एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी को जाना चाहिए। यह भी शिक्षा का दायित्व है और इसलिए शिक्षाविदों ने कहा कि शिक्षा सामाजिक समूहों के हाथ में एक महत्त्वपूर्ण

उपकरण है। जिसके माध्यम से यह जो सांस्कृतिक विरासत एवं परम्परा है इसे आने वाली पीढ़ियों को संक्रमित करना, यह शिक्षा का दायित्व है। और, ये दोनों चीजें करना है तो हमारे यहाँ पर तीनों बात का विचार किया गया है। (Education is the Principal instrument in the hands of Social groups by means of which they modify inferit and transmit the culture to next generation)

कभी-कभी लोग कहते हैं कि भारत में केवल वैराग्य प्रधान था या दार्शनिक प्रवृत्तियाँ थीं, ऐसा नहीं है। चौंसठ प्रकार की कलाएँ हमारे यहाँ पर लोग कहते थे, सीखनी चाहिए। और ये 64 कलाएँ, उसमें सामान्य खेल-कूद से लेकर, बाल संगोपन से लेकर, नगर-निर्माण, युद्ध कलाएँ, अर्थशास्त्र सब प्रकार की विधाएँ हैं। केवल दर्शन चिंतन या वैराग्य परक भारत की परम्परा थी, ऐसा नहीं, दोनों ही परंपराएँ भारत में थीं। इसलिए उपनिषदों में कहते थे कि परा और अपरा विद्या, दोनों को जानना है। तीसरी बात, कभी-कभी आती है कि क्या हम कूपमंडूक थे? वैश्वीकरण (Globalisation) शब्द तो आज आया है। हमारे यहाँ तो प्राचीन समय से जितने वाक्य देखेंगे, यथा-स्वदेशो भुवनत्रयम्, वसुधैव कुटुम्बकम्, कृणावन्तो विश्वमार्यम्, सर्वभूत हिते रताः। इनमें वैश्विक चिंतन रहा है इसलिए कहा गया है कि आनोः भद्रा कृतवो यन्तु विश्वतः। दुनिया के हर कोने से जो भद्र और श्रेष्ठ विचार हैं, विद्याएँ हैं वे आएँ। उनका स्वागत है लेकिन इन सारी बातों को जीवन में उतारने के लिए जो मूल पद्धति हमारे यहाँ अपनाई गई वह यह कि उन्होंने विचार किया कि मनुष्य को भी अगर पूर्ण बनना है तो मनुष्य को पूर्णता में समझना पड़ेगा। आज की जो शिक्षा है वह शरीर केंद्रित है, बुद्धि केंद्रित है। लेकिन हमारे यहाँ कहा गया है कि शिक्षा पंचकोषात्मक है। मनुष्य का यह शरीर अन्नमय कोष है, इसके अंदर एक मन है वह मनोमयकोश है, जो जीवनी शक्ति है, प्राण है, वह प्राणमय कोश है। फिर बुद्धि, जिससे विचार करते हैं ज्ञानमय कोश है और उसके भी परे एक आनन्दमय कोश है, उस कोश के परे जो अंतिम सत्य है वह है पंचकोषात्मक शिक्षा और फिर कहा है कि 'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या वह जो मुक्त करती है, बंधन में बाँधती नहीं है। किससे मुक्त करती है? तो कहा है शरीर व इंद्रियों को आलस्य और प्रमाद से। जो हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं- कान हैं, आँख हैं, इनको असंवेदनशीलता से मुक्त करना इसका मुख्य कार्य है।

मैं देखता हूँ बहुत गरीबी है लेकिन मेरे मन में कुछ नहीं होता है। मैं देख रहा हूँ लेकिन कहीं-न-कहीं संवेदनहीनता के कारण मुझे लगता नहीं कुछ करना चाहिए। बहुत सी गलत बातें इसलिए चलती जाती हैं कि धीरे-धीरे हम असंवेदनशील हो गए हैं। देखते हुए भी नहीं दिखता है, सुनते हुए भी नहीं सुनता है तो, क्या शिक्षा का हेतु यह होना चाहिए? और तीसरा मन जो है यह लालसाओं से, लिप्साओं से मुक्त हो। बुद्धि अज्ञान से मुक्त हो और आत्मा इन सब चीजों के साथ 'मैं हूँ' के भाव से मुक्त हो। और ये करते हुए फिर आगे परिवार के साथ एकात्मता, समाज के साथ एकात्मता, प्रकृति के साथ एकात्मता। उपर्युक्त सभी बातें हमारे व्यवहार में लाने के लिए जीवन में इस प्रकार की विद्या विकसित की और यह सब विकसित करने के लिए जो आधारभूत बात आई वह है संस्कार। बिना संस्कार के मन नहीं बदलते, हृदय का गठन नहीं होता, भावनाएँ विकसित नहीं होती और आज शिक्षा की त्रासदी यह है कि बुद्धि का ज्ञान तो बहुत बढ़ गया है लेकिन जो संस्कार जिसके द्वारा उत्पन्न होना था उसका ह्रास हो गया। संस्कार किसके द्वारा उत्पन्न होते हैं? तो हमारे यहाँ कहा गया है, धर्म के द्वारा। दुर्भाग्य ऐसा है कि आज़ादी के बाद धर्म शब्द को ऐसा बना दिया गया है कि धर्म शब्द बोलने में ही डर लगता है। सेकुलरिज्म का बोलबाला है। ठीक है, धारणा सेल्युलर की पश्चिम में है, वहाँ की परिस्थितियों में यह शब्द आया था। वह आज का विषय नहीं है अपना, लेकिन हमारे यहाँ पर जो धर्म था, उसका कोई पूजा-पाठ से सम्बन्ध नहीं था। हर चीज के लिए हमारे यहाँ धर्म शब्द प्रयुक्त होता था और कहा गया है कि धर्म यही सब प्रकार की नैतिकताएँ, सब प्रकार का अनुशासन, सभी प्रकार का नियमन, सभी चीजों को उत्पन्न करने वाली चीजें धर्म से जुड़ी हैं। धर्म क्या है? प्रायः कहता हूँ कि अँग्रेजी में उसे व्यक्त करना है तो बड़ा कठिन काम है क्योंकि हमारे यहाँ कुछ भी कहेंगे तो धर्म शब्द बोलते हैं तो उस क्रिया को अगर अँग्रेजी में कहते हैं तो अलग-अलग कहना पड़ेगा। जैसे हमारे यहाँ बोलते हैं पुत्र धर्म, पति धर्म, पत्नी धर्म, सेवक धर्म। अब यहा शब्द प्रयुक्त धर्म है लेकिन वह पुत्र धर्म यानि पुत्र को क्या करना चाहिए, अँग्रेजी में मुझे कहना है इसको तो मुझे शब्द प्रयुक्त करना पड़ेगा कर्त्तव्य (Duty)। यहाँ शब्द प्रयुक्त धर्म है लेकिन वहाँ उसका भाव है वह कर्त्तव्य (Duty)। हमारे यहाँ शब्द प्रयोग है राजधर्म, वह दंडविधान करता है, कानून बनाता है। यहाँ भी शब्द प्रयोग धर्म ही है लेकिन अँग्रेजी में उसे कहना है तो मुझे कहना पड़ेगा विधि (Law)। हमारे यहाँ कहा गया है कि पराई स्त्री को माँ समझो, पराए धन को मिट्टी समझो, यही धर्म है। शब्द प्रयुक्त धर्म है लेकिन इसको अँग्रेजी में मुझे कहना है तो कहना पड़ेगा नीति (Ethics)। हमारे यहाँ यह भी कहते हैं कि जल का भी धर्म है, वायु का भी धर्म है, तो उनका कौन-सा धर्म है? उसे क्या बोलते हैं? तो अँग्रेजी में मुझे कहना है तो प्रकृति (Nature). उसका जो एक स्वभाव है, वह उसका धर्म है, और मनुष्य जिस ढंग से चाहता है भगवान की उपासना करना है, उसको भी धर्म कहा है- वैष्णव धर्म, शैव धर्म। इसको यदि आपको अँग्रेजी में कहना है तो कहिए पंथ/मत (Religion). धर्म यह जो सम्पूर्ण जीवन में व्यास है अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई संकल्पना थी और मनुष्य सम्पूर्ण जीवन धर्म से जीता था। इसका परिणाम था

कि रात के अँधेरे में भी गलत काम नहीं करना चाहिए। लोग करते थे वैसा। और इस नाते से हम एक दृष्टि से संक्षेप में कहें तो भारतीय शिक्षा चिंतन और उसकी कुछ आधारभूत बातें हैं। प्रश्न है कि ये सब कुछ हमारा था लेकिन हम सब कुछ भूल गए। सब शिक्षाविद् है इसलिए वे सारे इतिहास को जानते हैं उसको मैं बहुत दोहराता नहीं। लेकिन जो समस्या खड़ी हुई है उसको देखना पड़ेगा, हमको। चार्ल्स ग्रान्ट ने 1792 में एक रिपोर्ट तैयार की, फिर 1813 में एक शिक्षा नीति बनी। फिर मैकाले ने 1835 में एक शिक्षा नीति बनाई और उसके अनुसार शिक्षा देश में चली। उसका एक हेतु था। लेकिन इसके कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुई एक तो सबसे बड़ी समस्या हुई कि भारत में शिक्षा स्वतंत्र थी और शिक्षा का केंद्र-बिंदु शिक्षक था। अँग्रेजों के आने से पहले मुसलमानों के समय में भी शिक्षा तंत्र में नहीं जकड़ी थी। गुरुकुल होते थे, उसका जो प्रमुख होता था वह उसका आचार्य होता था। बड़े-बड़े धनवान लोग धन देते थे और राजा भी उसके लिए व्यवस्थाएँ करता था। राजा भी पैसा देता था लेकिन पद्धति थी कि राजा जब गुरुकुल में जाता था तो मुकुट बाहर रखकर नंगे पैर जाता था। वह जो सर्वोच्च सत्ता थी वह गुरु की थी। श्री भवानी प्रसाद मिश्र कहते थे कि हमारे यहाँ गुरु परम्परा है लेकिन हमने उसे मास्टर बना दिया। तो पहली जो समस्या आई, वह यह थी कि अँग्रेजों ने अपने समय में शिक्षा (Education) का एक विभाग (Department) बना दिया। सरकार का एक बड़ा तंत्र है जिसमें कोयले का विभाग है, इसका विभाग हैं, उसका विभाग है। इसमें शिक्षा (Education) का भी एक विभाग हो गया। नाम भी उसका रख दिया मानव संसाधन (Human Resource) जैसे खनिज संसाधन (Mineral Resource) हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ (Resource) हैं, आदमी भी संसाधन (Resource) है। जब आदमी संसाधन है तो फिर शिक्षा भी क्रय-विक्रय की वस्तु है तो फिर लेन-देन है, बाजारवाद है। फिर व्यापारीकरण है। ये सब समस्याएँ स्वाभाविक आएँगी। इन सबके कारण शिक्षा स्वतंत्र न होकर शिक्षा एक तंत्र के अंदर आती गई और वह तंत्र का भाग बन गई। इसके साथ ही वैश्वीकरण में (Globalisation) अनेक प्रकार की बातें चलीं। धीरे-धीरे वहाँ से बढ़ते-बढ़ते आज के समय में हम आते हैं तो वैश्वीकरण (Globlisation) के समय में शिक्षा का अर्थ ही सीमित हो गया।

आज हम जिस चौराहे पर खड़े हैं वहाँ तो स्थिति अभी इस प्रकार की हो गई है कि जो शिक्षा मनुष्य के मन का गठन करती है; मनुष्य को समाज, प्रकृति, दुनिया की जानकारी देती है; वह सब समाज विज्ञान (Social Science) कालबाह्य होता जा रहा है तथा पूरा-का-पूरा बाजारीकरण, व्यापारीकरण के कारण प्रबंधन और उससे जुड़े पाठ्यक्रम तथा पैकेज पद्धति (Management, Package Courses) विकसित हो रही है। हम एक दृष्टि से शिक्षा को मूल्य विहीनता की स्थिति में ले गए। आखिर चाहते तो सब हैं कि हम नैतिक बनें लेकिन बने कैसे? वह कौन-सी पद्धति है? वह कौन-सी प्रक्रिया है? कौन-से जीवन के आदर्श है, जो परिवर्तन लाते हैं? परिवर्तन विषय के कारण नहीं आता है, परिवर्तन अध्यापक के कारण आता है, जो गुरु रहता है, उसका जो जीवन रहता है, उसका जो स्नेह रहता है, उसका जो स्पर्श रहता है उससे जीवन में बदलाव आता है, जीवन से जीवन बदलता है। कोई तकनीकी उपकरण (Technical Equipment) से जीवन नहीं बदलता है। थियोडर रोजक ने 'ह्वेअर द वेस्टलैंड, एण्ड्स' नाम से किताब लिखी थी। इस पुस्तक में पश्चिम में जो शिक्षा की प्रगति हुई और जो सारी त्रासदियाँ पैदा हुई, इसका कारण क्या है इस प्रश्न पर चर्चा की है। उसने कहा कि सबसे बड़ी समस्या खड़ी हो गई है कि प्राध्यापक के हाथों में छात्र के निर्माण के लिए हमने कुछ वस्तुएँ दे दी हैं वे वस्तुएँ निर्जीव हैं, भावना शून्य हैं। रोजक वर्णन करता है कि हमने प्राध्यापक के हाथों में इलेक्ट्रोनाइज्ड, कम्प्यूटराइज्ड, इण्डिविज्युलाइज्ड, ऑडियो व्युजिअल मल्टीइंस्ट्रक्शनल कन्सोल दे दिए हैं और अपेक्षा की है कि इसके द्वारा श्रेष्ठ व्यक्ति के गुणों का प्रस्तुतिकरण कीजिए और छात्र को श्रेष्ठ व्यक्ति बना दीजिए जो हो नहीं सकता। थियेडोर रोजक का कहना है कि मनुष्य एक जीवंत इकाई है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व है, उसे मेकेनिकल प्रोसेस से पूर्ण करने का प्रयत्न करने से ये त्रासदियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

इस रूप से हमें कहीं-न-कहीं आधारभूत परिवर्तन लाना पड़ेगा। वह परिवर्तन कब होगा, कहाँ से होगा? लेकिन उसका कोई शॉर्टकट नहीं है अन्यथा यह जो चक्रव्यूह है इससे निकलना कठिन होगा। इसमें पहली आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा स्वतंत्र हो। शिक्षा के स्वरूप पाठ्यक्रमों का निर्धारण शिक्षाविदों के द्वारा हो। जैसे सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) और चुनाव आयोग के लिए स्वतंत्र व्यवस्था है, उसी प्रकार की व्यवस्था शिक्षा के लिए आवश्यक है।

दूसरी सबसे बड़ी आवश्यकता है शिक्षा और शिक्षण में भारतीय सैद्धांतिक मान्यताओं को स्थापित करने की। परतंत्र काल में अँग्रेजों ने अपने लक्ष्य की दृष्टि से शिक्षा में पाश्चात्य मान्यताओं को समाविष्ट किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हम अपने परिवेश और सैद्धांतिक मान्यताओं से कटने लगे। विद्यार्थी जो भी विषय पढ़ता है, वह हिन्दी पढ़े, विधि पढ़े, वनस्पतिशास्त्र पढ़े, अर्थशास्त्र पढ़े, भूगोल-शास्त्र पढ़े अथवा कोई-सा भी विषय पढ़े, लेकिन वह एक ही बात पढ़ता है कि इस विषय में सिद्धान्त पश्चिम के लोगों ने दिए हैं; इसमें ग्रंथ पश्चिम के हैं; इसकी सारी सैद्धांतिक मान्यताएँ उनकी हैं, भारत का कुछ है, यह छात्र पढ़ता ही नहीं है, इसलिए उसे भारत की दृष्टि भी समझ नहीं आती। परिणामस्वरूप वह शिक्षित तो है लेकिन उस शिक्षा से उसमें भारत की परम्पराओं को, और अधिक कोसने की

प्रकृति विकसित होती है। शिक्षा में परिवर्तन के लिए 1986 में नई शिक्षा नीति बनी। यह भी इस दिशा में कुछ नहीं कर सकी। डॉ. डी.एस. कोठारी ने एक बार बुद्धिजीविकों की सभा में कहा था कि भारतीय बुद्धिजीवियों (Intellectuals) की सबसे बड़ी समस्या है कि उसका गुरुत्वाकर्षण केन्द्र यूरोप में है, तो यूरोप में होने के कारण स्वाभाविक रूप से अँग्रेजी भाषा, अँग्रेजी वेश-भूषा, हमको अच्छी लगेगी। अतः राम-राम कहेंगे तो दकियानूसी लगता है। हैलो-हाय कहेंगे तो जरा कुछ प्रोग्रेसिव है। हैप्पी बर्थडे पर हम दिया बुझाएँगे, तो प्रगतिशील (Prograssive) लगता है, दिया जलाएँगें तो ये पिछड़े हैं। हमारे पूर्वज उस जमाने से कहते रहे कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। उन्हें (अँग्रेजों) कहा नहीं-नहीं 'ज्योर्तिमय तमसो गमय'। अजीब है। गलती किसी की नहीं है। मैं उनकी आलोचना (Critisize) नहीं कर रहा हूँ। उनकी भी गलती नहीं है। आप पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र (Gravitational Center) में हैं तो आपका वैसा व्यवहार है आप चाँद के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र (Gravitational Center) में जाएँगे तो ऊपर उठ जाएँगे। कोठारी कहते थे कि शिक्षा में करना क्या है उन्होंने कहा कुछ नहीं करना है इतना करिए कि ये जो गुरुत्वाकर्षण केन्द्र (Gravitational Center) यूरोप हो गया है, इसको भारत केन्द्र कर दीजिए। स्पष्ट है कि भारत की शिक्षा भारत से जुड़े। भारत से जुड़े तो चमत्कारी परिवर्तन आएगा।

वर्तमान में एक काम तो कम-से-कम हो सकता है कि हर विषय के अंदर एक अध्याय कम-से-कम जोड़िए कि इस विषय के संदर्भ में भारत की परम्परा क्या है? भारत का चिंतन क्या है? भारत के सिद्धांत क्या हैं? भारत की उपलब्धियाँ क्या हैं? ऐसा करने पर कम-से-कम छात्र उसे पढ़ने तो लगेगा। प्रश्न है, बोलने से कुछ नहीं, इसका रास्ता निकालना पड़ेगा हमको यहाँ से प्रारंभ करना पड़ेगा, बाकी तो फिर बहुत विषय हैं। अर्थशास्त्र (Economics) का हमारा प्रतिमान (Model) क्या है और पश्चिमी प्रतिमान क्या है? पश्चिमी प्रतिमान के परिणाम क्या हुए? उससे किस प्रकार से विश्व का भला किया वह सारा विवेचन मैं नहीं करता। अभी जो विद्वान हैं वे धीरे-धीरे भारतीय परम्पराओं के आधार पर पाठ्यपुस्तकों का सृजन करें जिस दिन अवसर मिलेगा उस दिन वह पाठ्यक्रम लागू होगा। इस नाते से यह एक महत्व का विषय है। तीसरी आवश्यकता जो मुझे महत्त्व की लगती है वह है नैतिक मूल्यों की। आज नैतिक मूल्यों की गिरावट के कारण समाज में जो विकट समस्याएँ पैदा हो रही हैं, उससे हम सब परिचित हैं। समाज की यह गिरावट नैतिक मूल्यों की ओर और भी गंभीरता से हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इंग्लैण्ड अपने को प्रगतिशील समझता था, अभी-अभी जो दंगे हुए तो वहाँ की युवा पीढ़ी ने पहली बार जनरल स्टोर में जाकर लूट-पाट की। इस घटना पर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री डेविड कॅमरान को हाउस ऑफ कॉमन्स में कहना पड़ा कि हमें अपनी नई पीढ़ी के बारे में सोचना पड़ेगा। ऐसा दृश्य कभी हमने नहीं देखा, तो हमको क्या करना पड़ेगा? वे बोले, हमको संस्कार देने पड़ेंगे लेकिन संस्कार कोई ऊपर से हवा में तो आते नहीं उसकी कोई पद्धति (System) भारत में मौजूद है। केवल मूल्य व्यवस्था (Value System) उसमें से निकल गई है। आज की शिक्षा व्यावहारिक नहीं है। वह समाज से नहीं जुड़ी, व्यक्ति के जीवन से नहीं जुड़ी और न सामान्य व्यवहार की समझ से जुड़ी है। शिक्षा को व्यावहारिक बनाना पड़ेगा। शिक्षा के इस पक्ष के संबंध में विनोद में एक बात कहता हूँ कि आज-कल कोई भी समस्या हल करनी हो तो पहले सर्वेक्षण करा लीजिए। उससे समस्या सही रूप में समझ में आ जाएगी। और उसका समाधान भी निकल आएगा। ऐसा ही एक उदाहरण है- कॉलेज के कुछ छात्र गाँव में सर्वे करने गए। वहाँ उन्होंने आपस में चर्चा की कि किसान का जीवन कैसा होता है? यह देखा जाए। किसान का जीवन देखने के लिए वे एक किसान के खेत पर गए। खेत पर किसान हल चला रहा था तथा पास में ही उसके कुएँ पर रेहट से पानी दिया जा रहा था। रेहट में बैल कुएँ के पास गोल घेरे में घूमता है और डिब्बों की माला के द्वारा कुएँ से पानी निकलता है। छात्रों ने यह सब देखा और देखकर वे किसान के पास गए तथा उससे पूछताछ की, उसका नाम आदि लिखा। इसके बाद कहा कि तुम्हारा बैल घूमता है तब इन डिब्बों से पानी निकलता है, पर यदि मान लो तुम्हारा बैल खड़ा हो गया और तुम तो यहाँ खेत पर हो और वहाँ कुएँ पर बैल के पास कोई सुपरवाइजर तो है नहीं जो यह देखे कि बैल चल रहा है या नहीं तो पानी कैसे आएगा। किसान ने कहा कि नहीं वह रुकेगा नहीं। मैंने उसके गले में घंटी बाँध दी है, वह टन-टन बजती है। उसकी आवाज से मुझे मालूम पड़ जाता है कि वह चल रहा है। अब छात्र का दिमाग तो आज की शिक्षा से निकला था अतः उसने किसान से कहा कि मान लो कि, बैल खड़ा हो जाए और सोचे कि किसान तो देख नहीं रहा है, बेकार है चलना, और वह खड़े-खड़े ही अपनी गर्दन हिलाए तो क्या होगा? इस प्रश्न का जो उत्तर कॉलेज के पढ़ने वाले छात्रों को किसान ने दिया वह समझने लायक है। किसान ने कहा कि मेरा बैल ऐसा कभी नहीं करेगा क्योंकि वह किसी कॉलेज में नहीं पढ़ा है। तो समस्या यह है कि आप की शिक्षा व्यावहारिक नहीं है।

धर्मनिरपेक्षता की (Secularism) अवधारणा राज्य के संबंध में है। राज्य धर्मनिरपेक्ष रहे, आप धर्मनिरपेक्षता (Secularism) का खूब गुण-गान करिए, मुझे कोई उसमें तकलीफ नहीं है। पर मेरा कहना है धर्मनिरपेक्षता के लिए धर्म को गाली तो मत दीजिए, धर्म को ठीक से समझिए। आज की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब मूल्य उत्पन्न करने वाला जो तत्व था, उसके न होने के कारण हैं। श्री रामा बेडस (चीफ जस्टिस एवं संस्कृति के विद्वान) बड़े विनोदी ढ़ंग से, बड़ा मजेदार वर्णन करते हैं कि देश में कितनी समस्याएँ हैं, क्यों लोग परेशान हो रहे हैं? जैसा मार्गदर्शन है, उसी हिसाब से सब

ठीक चल रहा है। उसका कहना था कि हमारे पूर्वजों ने कहा है कि सत्य बोलना धर्म है। राजा हरिश्चन्द्र ने सपने में जो वचन दिया था उसका पालन करने के लिए अपना राज्य बर्बाद कर दिया। आजकल तो खुले में आश्वासन दो और कल भूल जाओ, कोई समस्या नहीं नहीं है। हरिश्चन्द्र आज पैदा होते तो लोग कहते इससे बड़ा मूर्ख दुनिया के अन्दर कोई नहीं है। उन्होंने कहा कि पूर्वजों ने कहा कि सत्य बोलना धर्म है तो सत्य, सजा से, पैसे से, हर चीज से बड़ी चीज है। उसके लिए जिंदगी लगाना चाहिए। यह मूल्य था। अब आबादी के बाद सभी नेता, सभी बुद्धिजीवी, सभी लोग कह रहे हैं, धर्म निरपेक्ष बनो, धर्म निरपेक्ष बनो। तो, समाज ने कहा ठीक है धर्म निरपेक्ष बन जाते हैं। अब वह झूठ बोलता है, बेईमानी करता है, क्या गलत करता हैं? ठीक चल रहा है, हमारे पूर्वजों ने कहा है कि पराया धन मिट्टी के समान है। आज से सौ साल पहले गाँव में सोने का टुकड़ा पड़ा रहे, कोई हाथ नहीं लगाता था। सोचता था कि अपना नहीं है क्या करना है? आज सड़क तो छोड़ दीजिए सात ताले में रखिए वह निकाल लेगा। पुराने सौ साल पहले बताते हैं कि सरकारी कर्मचारी को कोई अपना काम निकालने के लिए घूस देता था तो वह मना करता था कि नहीं-नहीं, क्यों? तो वह एक वाक्य बोलता था। बुजुर्ग लोग जानते होंगे कि नहीं भईया, पाप का पैसा घर में नहीं लाना है, आखिर को बाल-बच्चे हैं। उसके मन में कहीं-न-कहीं धारणा थी उसको आप अंधविश्वास कहो या कुछ भी कहो, एक संसार था कि गलत पैसा आएगा तो कुछ बच्चों का नुकसान होगा। वह मूल्य हमने निकाल दिया। सौ साल में दुनिया कितनी बदल गई कि आप घूस नहीं देना चाहते तो परिस्थिति पैदा करेगा, घूस दीजिए। जब देंगे, तब वह कहेगा कि क्या करें बाबू, आखिर को बाल-बच्चे हैं। शब्द प्रयोग वही है। प्रश्न मेरा यही है कि सौ साल पहले वह जो मना करता था तो रोकने वाली ताकत कौन-सी थी? क्या पुलिस थी? क्या अदालत थी? क्या कानून था? क्या सरकार थी? कौन-सी चीज रोकती थी? वह रोकने वाला जो तत्व है तो इसके संदर्भ में भी विचार करने की आवश्यकता है।

एक चौथी बात है कि आजकल हर चीज परीक्षा है, अंक है, इसका आंतरिक दबाव रहता है। प्रो. पु.ल. देशपांडे, महाराष्ट्र के एक बड़े विनोदी लेखक हुए हैं। उन्होंने अपने जीवन का एक संस्मरण लिखा। वे एक कॉलेज में गए। वहाँ उन्होंने भाषण दिया, ज्ञानेश्वर के बाद ज्ञानेश्वरी पर भी वे बोले। उसके बाद प्राचार्य कक्ष में आकर बैठे तो, एक एम.ए. का स्टूडेंट आया और आकर के दरवाजे पर खड़ा हुआ और उसने कहा कि 'मे आई कम इन सर'। देशपांडे ने कहा कि आइए तो उसने कहा कि आपने ज्ञानेश्वरी की एक ओवी बोली, (श्लोक को ओवी कहते हैं मराठी में) उसने वह ओवी बोली और कहा कि सर, इसका अर्थ बताइए। तो, प्रो. देशपांडे ने कहा कि मुझे इतनी खुशी हुई कि आज बींसवीं शताब्दी के अंत में पढ़ने वाले लड़के के अंदर आधुनिक समय में ज्ञानेश्वरी में इतनी रूची बढ़ी है यह आनंद की बात है। इसलिए, उन्होंने थोड़ी पूछताछ की कि तुमने ज्ञानेश्वरी को पढ़ा है, क्या? बोला नहीं सर, नहीं पढ़ा है। प्राचार्य बोले ज्ञानेश्वरी पढ़ी है क्या? बोला, सर, पता लगा है कि इसके बारे में परीक्षा में पक्का प्रश्न (Question) आने वाला है। प्रो. देशपाण्डे ने पूछा कि कितने मार्क्स का होगा? उसने कहा सर कम-से-कम ढाई मार्क्स तो जरूर होंगे। प्रो. देशपाण्डे ने आखिरी लाइन ये लिखी कि बड़े दुःख के साथ मैं सोचने लगा कि बीसवीं शताब्दी के अंत में ज्ञानेश्वरी की कीमत ढाई अंक है तो मेरी कितनी होगी? और, इन नाते से ये जो सब्जेक्टिव विषय है, विषय की गहराइयों में जाना, आज उसके संदर्भ में सोचने की आवश्यकता है।

एक और महत्व का विषय है कि शिक्षा हमारे यहाँ पर जीवन व्यापी थी। जो विद्वान हैं वह विद्वान बनेंगे लेकिन जो कलाकार है वह कलाकार बनेगा, जो कारीगर है वह कारीगर बनेगा, जो इंजीनियर है वह इंजीनियर बनेगा, जीवन की सभी विधाओं के अंदर कुशलता है कि पुरूषार्थ पैदा होगा। अँग्रेजों को तो अपने ऑफिस चलाने के लिए व्यक्ति चाहिए थे। तो, सिस्टम उन्होंने ऐसा बनाया। एक हमारे जानकार कहते हैं कि हमारी शिक्षा पद्धति ऐसी विचित्र है कि हम बच्चे को जैसे ही वह पहली कक्षा में आता है तो उसे बेंच पर बिठा देते हैं। क्लास में बेंच पर बैठता है और जिंदगी में 18 साल तक वह बैठा रहता है। 18 साल साल बैठते-बैठते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि जिंदगी भर बैठा ही रहता है। वह खड़ा ही नहीं हो सकता। फिर उसकी अक्ल नौकरी की मानसिकता की विकसित होती है। यह मैं कह रहा हूँ ऐसा नही है। डॉ. कलाम ने इक्कीसवीं सदी का भारत (Vision 2020) में जो भारत के आगे बढ़ने में आने वाली समस्याओं में एक जो सबसे बड़ी समस्या कही थी कि युवाओं के अंदर अपने सुरक्षित जीवन जीने की चाह और रिस्क लेकर के कुछ पुरुषार्थ करने की मनोवृत्ति का अभाव ये सबसे बड़ी चुनौती है। इस नाते से यह शिक्षा उसके साथ में जुड़े और जो शिक्षा आज अपनी परम्परा, परिवेश, परिवार, गाँव अपने सब कुछ से जो कटाती रही है तो, परिवेश से जोड़ने वाली बने। इस नाते से शिक्षा के अंदर कुछ मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है। यह अगर करना है तो ये जितने प्रश्न हैं, इन प्रश्नों के सन्दर्भ में व्यक्तिगत स्तर पर, बड़े स्तर पर, बालक के स्तर पर, हमें प्रयत्नों की प्रक्रिया चालू करनी पड़ेगी। कुछ लोगों को आगे बढ़ना पड़ेगा, साधन के भाव से आगे बढ़ना पड़ेगा।

एक प्रश्न शिक्षक की मानसिकता का है, हमारे कुछ शैक्षिक दायित्व हैं। यहाँ बहुत सरल रूप से कहा गया है कि जो गुरु है, शिक्षक है, वह विषय का शिक्षक नहीं है एक यह चीज मानसिकता में आ जाए तो और कुछ करने की जरूरत नहीं है। शिक्षा के दायित्व के संदर्भ में हमारी समस्या है कि आज शिक्षक विषय का शिक्षक है, कोई भौतिकी (Physics) का है, कोई रसायन (Chemistry) का

है, कोई साहित्य (Literature) है। हमारे यहाँ कहते थे विषय तो अनेक होंगे, शिक्षक विषय का नहीं विद्यार्थी का है। विद्यार्थियों को जिन्दगी को बदलना है। भारत की परम्पराएँ अपने मूल्य, मूल्य शिक्षा के साथ जुड़े ये बातें थोड़ी पाठ्यक्रम (Syllabus) के अंदर आएँ। धीरे-धीरे शिक्षा जगत के अंदर आएँ। एक प्रक्रिया प्रारंभ हो चमत्कारिक परिवर्तन नहीं आएगा। लेकिन इतना निश्चित मुझे लगता है आज के समय में कि ज्यों-ज्यों समस्या बढ़ रही है त्यों-त्यों बदलने की चाह भी बढ़ रही है। ये दोनों पक्ष हैं और इस नाते से सकारात्मक दिशा के अंदर सोचने वाले परिवर्तन का भाव रखने वाले सभी बंधु इस दिशा के अंदर आगे की ओर बढ़ेंगे तो आने वाले समय के अंदर एक निश्चित परिवर्तन का सूत्रपात होगा, इसमें कोई दो मत नहीं हैं। यह सब करते हुए और फिर स्वाभाविक रूप से जीवन के जितने भी क्षेत्र हैं वह विज्ञान का होगा, तकनीकि का होगा, भिन्न-भिन्न प्रकार की शोध का होगा, वह कृषि का होगा, व्यवसाय का होगा, वाणिज्य का होगा, विधि का होगा, और प्रबंधन का होगा। इन समस्त विषयों के रहते हुए भी मनुष्य एक अच्छा मनुष्य बने, जीवन मूल्यों वाला बने, अपनी संस्कृति, समाज के स्वभाव वाला बने। इसके संदर्भ में आज और विचार करने की आवश्यकता है। यह करते हुए शिक्षा को उसके वास्तविक रूप से प्रस्तुत करना है, उसकी जरूरत है। आज जो व्यवसायीकरण के दौर में सब कुछ मानों जैसे विलुप्त होता जा रहा है, तब शिक्षा अपने फिर से उस रूप में आए। उस नाते से काका कालेलकर ने 1928 में गुजरात विद्यापीठ में भाषण देते हुए, शिक्षा पर बोलते हुए एक बहुत सुन्दर बात कही थी। शिक्षा स्वयं बोल रही है कि मैं क्या हूँ? मुझे आप क्या समझते है?यह सवाल नहीं है, मैं क्या हूँ यह शिक्षा बता रही है एक देवी के रूप में शिक्षा ने अपना वर्णन किया। मैं समझता हूँ कि वह समग्र और सर्वांगीण वर्णन है। वैसे ही शिक्षा का स्वरूप फिर से बने, उसके लिए भागीरथ प्रयत्न करना है और उस उदाहरण को मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ।

काका कालेलकर ने कहा कि शिक्षा कहती है, ''मैं सत्ता की दासी नहीं हूँ। कानून की किंकरी नहीं हूँ। कला की प्रतिहारी नहीं हूँ। अर्थशास्त्र की बंदी नहीं हूँ। मैं तो, धर्म का पुनरागमन हूँ। मनुष्य के मन, हृदय और इन्द्रियों की स्वामिनी हूँ। मानवशास्त्र और समाजशास्त्र मेरे दो चरण हैं। कला और कारीगरी मेरी दो आँखें हैं। उत्साह और उद्योग मेरे दो फेफड़े हैं। स्वातन्त्र्य मेरा स्वाँस है। श्रद्धा मेरा चैतन्य है। ऐसी, मैं जगन्माता, जगद्दात्री हूँ। मेरा उपासक कभी भी इस दुनिया में किसी का मोहताज नहीं रहेगा। मेरी कृपा से उसकी सर्व मनोकामना पूर्ण होगी।'' इस प्रकार की जो शिक्षा है, जो स्वरूप है, जो कमी थी वह पुनरापि लाने का प्रयत्न हम सब करें।

सन्दर्भ

- पाण्डेय रामशकल : उदयीमान भारतीय समाज में शिक्षक, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा-2
- मोहन, मदन : भारतीय शिक्षा की उदीयमान समस्याएँ, न्यू कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद-2
- मालवीय, राजीव : शिक्षा के नूतन आयाम, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
- आधुनिक मापन एवं मूल्यांकन, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
- भटनागर, ए.बी. : शैक्षिक एवं मानसिक मापन, सूर्या पब्लिकेशन, मेरठ।
- अग्रवाल जे.सी. : डेवलपमेंट एण्ड प्लानिंग ऑफ माडर्न इण्डियन एजुकेशन, विकास पब्लिशिंग हाउस, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- सफाया, रघुनाथ : डेवलपमेंट, प्लानिंग एण्ड प्राबलम्स ऑफ इण्डियन एजुकेशन, धनपत राय एण्ड संस, नई दिल्ली।
- अग्रवाल, जे.सी. : लैण्ड्समार्क इन द हिस्ट्री ऑफ माडर्न इण्डियन एजुकेशन, विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

विन्ध्यवास, वसुबन्धु और कालिदास की समकालीनता : एक अध्ययन

*डॉ. मुनिराम तिवारी**

विन्ध्यवास सांख्य दर्शन के आचार्य हैं तथा वसुबन्धु बौद्ध दर्शन के आचार्य जबकि कालिदास शैवदर्शनावलम्बी महान कवि, ये तीनों आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, परन्तु अपने ग्रन्थों में अपने जीवन के सम्बन्ध में स्पष्ट या परोक्ष रूप से कोई महत्वपूर्ण सूचनाओं का उल्लेख नहीं किया है, जिससे इनके आपसी सम्बन्ध या समकालीनता पर प्रकाश डाला जा सके। फिर भी कुछ परवर्ती आचार्यों एवं इतिहासकारों द्वारा दिये गये सूचनाओं के आधार पर इन तीनों विभूतियों के आपसी सम्बन्ध एवं समकालीनता पर विचार करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

विन्ध्यवास को कुछ इतिहासकार विन्ध्यवासी भी कहते हैं। वे वर्षगण्य के शिष्य थे, इसकी पुष्टि दयवीर शास्त्री करते हैं।[1] विन्ध्यवास अथवा विन्ध्यवासी के साथ कुछ इतिहासकार ईश्वरकृष्ण को समीकृत करते हैं, क्योंकि दोनों ही सांख्याचार्य के रूप में उल्लिखित हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश दोनों के प्रमाणिक जीवन परिचय उपलब्ध नहीं होते हैं। स्वयं ताकाकुसु के मत में विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति के दो नाम है। ईश्वरकृष्ण नाम है तथा विन्ध्वास उपाधि।[2] किन्तु प्रो0 गार्वे के मत में ईश्वरकृष्ण का काल 369 ई0 है जबकि ताकाकुसु के अनुसर 450 ई0 है।[3]

हिरण्यसप्तति के लेखक सांख्याचार्य विन्ध्यवास को उदयवीर शास्त्री[4] वसुबन्धु के समकालीन तो मानते हैं, किन्तु दोनों के काल का प्रमाणिक उल्लेख नहीं करते हैं। वे वसुबन्धु को चतुर्थ शताब्दी में बताकर इसी के आधार पर विन्ध्यवास का काल निर्धारित करते हैं। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वसुबन्धु का काल ही जब अनिर्धारित है, तो उसके काल के आधार पर विन्ध्यवास का काल निर्धारित करने का प्रयास प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण का प्रश्न है, शास्त्री दोनों को भिन्न मानते हैं।

कुछ विद्वान ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से न केवल भिन्न अपितु पूर्ववर्ती भी मानते हैं। इनके मत में[5] विन्ध्यवास से पूर्ववर्ती ईश्वरकृष्ण का काल ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व है।

विन्ध्यवास वसुबन्धु के समकालीन थे या नहीं यह प्रश्न तो विचाराधीन है ही, किन्तु विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता के मत ने इसे जटिलतर बना दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ इतिहासकार ईश्वरकृष्ण और कालिदास को भी अभिन्न मानते हैं। जिसके कारण यह वसुबन्धु एवं विन्ध्यवास की समकालीनता का प्रश्न जटिलतम बन गया है। ईश्वरकृष्ण और कालिदास को अभिन्न मानने वालों में त्रयम्बक गोविन्द माईणकर का नाम यहाँ उल्लेखनीय है।[6] जो ईश्वरकृष्ण को व्यक्ति का घरेलू नाम तथा कालिदास को उपाधि मानते हैं। तब इस विषय में अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तीन कालिदास की मान्यता और उनके देशकाल के विषय में प्रचलित विवाद की पृष्ठभूमि में या तो सबकुछ सम्भव है, अथवा कुछ भी नहीं।

वसुबन्धु और कालिदास पर एक बिन्दु के अन्तर्गत विचार करना तथा उनमें परस्पर सम्बन्ध का अनुसंधान करना अपने आप में रोचक और महत्वपूर्ण विषय है। वसुबन्धु बौद्ध दार्शनिक होने के कारण बौद्ध मतावलम्बी थे जबकि कालिदास मूलतः कवि थे। वह शैवधर्म की मान्यताओं में विशेष आस्था रखते हुए भी वैदिक संस्कृति के पोषक थे। कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रत्यक्षतः किसी बौद्ध सन्दर्भ को प्रस्तुत नहीं किया है। इसलिए न केवल वसुबन्धु अपितु समस्त बौद्ध मत से उनका सम्बन्ध अनुसंधान का विषय है।

वसुबन्धु और कालिदास में साक्षात् सम्बन्ध रहा है या नहीं यह प्रमाणों के अभाव में नहीं कहा जा सकता। दोनों ही विभूतियों का प्रमाणित जीवन परिचय उपलब्ध नहीं है। दोनों ने अपनी रचनाओं में आत्म परिचय विषयक संकेत नहीं दिये हैं। दोनों के ग्रन्थ अनेक और विविध हैं। इसलिए दोनों के विषय में यह मान्यता भी प्रचलित है कि इस नाम के आचार्य या लेखक एक से अधिक हो चुके हैं।

कालिदास से बौद्धमत के सम्बन्ध की चर्चा के प्रसंग में अश्वघोष का स्मरण सहज ही हो जाता है, क्योंकि दोनों महाकवियों की पूर्वापरता तथा उनके काव्यों के परस्पर प्रभाव की चर्चा अनेक विद्वानों ने की है। खण्डन-मण्डन और युक्ति प्रमाणों के लम्बे इतिहास के बावजूद आज भी दोनों पक्ष चर्चा में जीवित हैं, जिनमें एक कालिदास को पूर्ववर्ती बताता है तो दूसरा अश्वघोष को।[7]

कालिदास के साहित्य में बुद्ध अथवा बौद्ध मत का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उल्लेख तथा अश्वघोष और कालिदास की पूर्वापरता पर कालिदास साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ0 रेवा प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि कालिदास साहित्य में बुद्ध अथवा बौद्ध मत का प्रत्यक्षतः उललेख नहीं है। केवल कुमार सम्भव में एक स्थान पर बुद्ध शब्द का तथा अन्यत्र निर्वाण शब्द का उल्लेख आया है उनकी व्याख्या के अनुसार बुद्ध शब्द यहां व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है और निर्वाण शब्द भी बौद्ध दर्शन से सम्बद्ध नहीं है। प्रो0 द्विवेदी अश्वघोष से कालिदास को पूर्ववर्ती मानते हैं किन्तु अपनी मान्यता के समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।

---

*अतिथि अध्यापक, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी।

आर0डी0 कारमारकर दो कालिदास की मान्यता के समर्थक हैं। इनके अनुसार प्रथम कालिदास ई0पू0 30 से ईसा पश्चात् 30 तक हुए तथा दूसरे कालिदास गुप्तकाल में हुए।[8]

वसुबन्धु और कालिदास दोनों के विषय में स्वतंत्र रूप से विचार करने वाले कुछ इतिहासकर इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन बताते हैं और चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्द गुप्त तथा स्कन्ध गुप्त अथवा कुमार गुप्त की युवावस्था की घटनाओं को इनकी रचनाओं से जोड़ते हैं।

अर्थात् दोनों ही विभूतियों के समय पर विचार करने वाले इतिहासकार इनके समय निर्धारण में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को एक आधार मानते हैं। जबकि इतिहास में चन्द्रगुपत और विक्रमादित्य के नाम और उपाधि को धारण करने वाले एकाधिक राजा हो चुके हैं। इसलिए चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का आधार यद्यपि बहुत सशक्त नहीं हैं, फिर भी जो इतिहासकार कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय ''375-41'' का समकालीन मानते हैं, उनके मत की पृष्ठभूमि में विचार करने पर वसुबन्धु को भी इसी राजा का समकालीन होना चाहिए।

वसुबन्धु के समय की पूर्वापर सीमा चौथी शताब्दी के प्रारम्भ से 316 से छठीं शताब्दी तक है।[9] यह लगभग 300 वर्षों का कालावधि है अर्थात् वसुबन्धु के समय का विवाद 300 वर्षों तक सीमित है। दूसरी ओर कालिदास के समय का विवाद ईसा पूर्व 8वीं शताब्दी से लेकर ईसा पश्चात् 12वीं शताब्दी तक अर्थात् दो हजार वर्षों तक था, जिसे 100 से अधिक वर्षों के अनुसंधान और विचार के बाद केवल कुछ सौ वर्षों तक सीमित किया जा सका है। सम्प्रति यह विवाद ईसा पूर्व 57 तथा ईसा पश्चात् 300 सौ 500 तक अर्थात् गुप्तकाल तक लगभग 250 वर्षों में संकुचित हो गया है।[10]

यह स्वभाविक ही है कि जो इतिहासकार कालिदास को गुप्तकाल में मानते हैं, उनके तर्कों से वसुबन्धु के समय विषयक तर्कों का कुछ सामंजस्य हो। किन्तु गम्भीर प्रमाणों के अभाव में यह सामंजस्य प्रमाणिक रूप से स्थापित करना सम्भव नहीं है। दोनों के समय को निर्धारित करने वाले इतिहासकार विक्रमादित्य के समान आधार को तो मानते हैं, किन्तु इतिहास में एक से अधिक विक्रमादित्य का उल्लेख होने के कारण किसी विशेष विक्रमादित्य से इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित करने में कुछ विवाद शेष रह ही जाते हैं। विक्रमादित्य अनेक, कालिदास अनेक और वसुबन्धु भी अनेक। अतः इस प्रकार के प्रचलित मत और उनके समर्थन में दिये गये तर्क इन दोनों विभूतियों के समय के प्रश्न को निःसंदेह सुलझाने वाले कम और उलझाने वाले अधिक हैं।

मेघदूत में उल्लिखित दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्।[11] मल्लिनाथ[12] इस दिङ्नाग को वसुबन्धु का शिष्य तथा प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक मानते हैं, किन्तु के0 एस0 रामास्वामी शास्त्री[13] इससे सहमत नहीं है। डॉ0 पी0 राघवन का प्रमाण देते हुए डॉ0 पाठक ने[14] दिङ्नाग को ऐसे नाटककारों की सूची में रखा है, जिसने कुन्दमाला तथा रामकथा पर आधारित अनेक नाटक लिखे थे।

अतः इस विवरण से यही संकेत मिलता है कि मेघदूत में उल्लिखित दिङ्नाग वसुबन्धु का शिष्य नहीं था। पूर्व विद्वानों का ऐसा निष्कर्ष इसलिए भी समर्थन योग्य है कि कालिदास जैसे श्रेष्ठ कवि का सर्वथा भिन्न क्षेत्र बौद्ध दर्शन के आचार्य से प्रतिद्वन्द्विता रखने का औचित्य नहीं है। यदि कल्पना के लिए ऐसा मान लें तो भी कालिदस के साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बौद्ध मत का उल्लेख अवश्य ही मिलना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। इसके अलावा ऐसा मानने पर कालिदास को अश्वघोष से भी पूर्ववर्ती सिद्ध करने वाले अनेक सबल प्रमाण पूरी तरह बाधित हो जायेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष सामने आता है कि प्रो0 गार्वे, ताकाकुसु एवं उदयवीर शास्त्री विन्ध्यवास का काल 369-450 मानते हैं जो वसुबन्धु के काल की समकालीन माना जा सकता है। लेकिन जहाँ तक कालिदास की समकालीनता का प्रश्न है तो कुछ इतिहासकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य 375-414 मानते हैं और वसुबन्धु को भी इसी राजा के समकालीन बताते हैं। लेकिन इतिहास में एकाधिक विक्रमादित्य होने के कारण, किसी ठोस निर्णय पर पहुंचना जल्दबाजी होगी।

अतः जब तक विक्रमादित्य की प्रमाणिकता निर्विवाद सिद्ध नहीं हो जाती तब तक कालिदास को पूर्ववर्ती मानना ही उचित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ0 426
2. ताकाकुसु, स्टडी ऑफ परमार्थ लाइफ ऑफ वसुबन्धु एण्ड डेट ऑफ वसुबन्धु, पृ0-48
3. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ0 426-27
4. वही, पृ0- 427
5. चतुर्वेदी, ब्रजमोहन, सांख्यकारिका, पृ0-40 से 50 में गोपीनाथ हरदत्त शर्मा और कालिपद भट्टाचार्य के मत द्रष्टव्य
6. चतुर्वेदी, ब्रजमोहन, सांख्यकारिका, पृ0-51
7. भारद्वाज, शिवप्रसाद, कालिदास दर्शन, पृ0-15
8. द्रष्टव्य, कालिदास, पृ0-15
9. द्रष्टव्य, पंचस्कन्धप्रकारण त्रिस्वभाव निर्देश, पृ0-8
10. आर0डी0 कारमारकर, कालिदास, पृ0-9
11. मेघदूत, 1-15
12. दिङनागाचार्यस्य हस्तावलेपान हस्त विन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्। मेघदूत, 1.14 टीका
13. भारद्वाज, शिव प्रसाद, कालिदास दर्शन, पृ0-32
14. संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्व, पृ0-38 और 36

नासदीय-सूक्त एवं मानव धर्मशास्त्र में सृष्टि-विज्ञान

प्रियङ्कर अग्रवाल एवं प्रो॰ रामकिशोर त्रिपाठी***

यो यज्ञो विश्वतस्तंतुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयंति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते॥[1]

चिरकाल से ही मनुष्य जब-जब रात्रि में आकाश की ओर दृष्टिपात करता है, तब-तब वह वहाँ व्याप्त असंख्य तारा-मण्डल समूहों को देखकर इस सृष्टि की विशालता का अनुभव करता है। इस विशाल नामरूपात्मक संसार को देखकर उसके अन्तःकरण में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि- ''इस महान् प्रपञ्च का रचयिता कौन है? यह विश्व किससे आया? किसमें स्थित है? और इसका अन्त किसमें होगा?

वैदिक आदिमानव की मनीषा में इस चिन्तन की निरन्तरता से जो ज्ञानपुञ्ज उत्पन्न हुआ, उस प्रकाशपुञ्ज को अग्निरूप में स्वीकृत किया गया। अन्तःकरण की चिन्तनात्मक वृत्ति, ज्ञानरूप अग्नि की अभिव्यक्ति का साधन है। ज्ञानकाण्डान्तर्गत अग्नि-स्वरूप सृष्टिविज्ञान से सम्बन्धित दो सूक्त हैं- नासदीय-सूक्त व पुरुष-सूक्त। नासदीय-सूक्त जो अपने पहले ही शब्द ''नासदासीत'' से सूचित किया जाता है, अत्यन्त विचित्र और रहस्यमय है। यह ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 11वें अध्याय का 129वाँ सूक्त है तथा इसके द्रष्टा-ऋषि दीर्घतमस् हैं। इसमें अनेक वैज्ञानिक रहस्य सम्पृक्त हैं, जो कि वैदिककालीन मनीषियों की रहस्यवाद की चिन्तन-परम्परा के बोधक हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि विज्ञान का रहस्यवाद, वेद से उद्भूत हुआ है। उक्त 'ऋषि' शब्द की व्याख्या डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल[2] ने इस प्रकार से किया है- ''इत्थंभूत स्वायम्भुव तत्त्वात्मक गत्यात्मक मौलिक प्राणों का ही नाम है- 'ऋषि'। जिस मानवश्रेष्ठ ने तपोबल-अध्यवसाय से सर्वप्रथम जिस प्राण का, परीक्षण के द्वारा साक्षात्कार किया, वह मानव यशोनाम दृष्ट्या उसी 'ऋषिप्राण' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। 'रिषति गच्छति- गतिशीलो भवति' इस निर्वचन से प्राण का तात्त्विक नाम हो गया 'ऋषि'। इसी सर्वादिकारण रूप ऋषिप्राण का स्पष्टीकरण करते हुये श्रुति कहती है- **असद्वा इदमग्र आसीत। तदाहुः- किं तदसदासीदिति?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषयः?। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा-अस्मात्-इदमिच्छन्तः श्रमेण-तपसा-अरिषन्-तस्मात्-ऋषयः**''।[3]

नासदीय-सूक्त में प्रकृति विकार से सृष्टि-रचना का उल्लेख है और पुरुष-सूक्त में विराट्(पुरुष) से सृष्टि का वर्णन है। इसी प्रकृति-विज्ञान पर सम्पूर्ण सृष्टि संरचना की परिकल्पना, आधुनिकों ने की है। अनेक विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में इस विषय पर अनेक भाष्य एवं टीका-ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनमें सायणभाष्य का अपना विशिष्ट स्थान है जिसमें आचार्य ने इसकी अत्यन्त सारगर्भित एवं प्रत्यक्षागामी व्याख्या की है। इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि का कथन है कि–

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमाऽपरोयत।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥[4]

(नासदासीत्) ''जब यह कार्यभूत सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (अर्थात् जगत् का साधारण कारण)[A] एवं जगत् निर्माण सामग्री (उपादान-कारण) विद्यमान थे। उस समय वह असत् स्वरूप था। आकाशादि महाभूत नहीं थे। न तो कोई व्यवहार था न ही व्यवहार का कोई विषय ही था। उस काल में सत्त्व-रज-तम इन गुणत्रय को मिलाकर जो प्रधान कहा जाता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्योमः) आकाश अर्थात् यह स्थूल जगत् का आश्रय भी नहीं था।''

इसके पश्चात् परमात्मा की व्यापकता तथा अपरिच्छिन्नता को दृष्टान्त सहित कह रहे हैं– ''जैसे तुषार (कोहरे) का जल पृथ्वी को आच्छादित नहीं कर सकता, वैसे ही अनन्त शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म को यह जगत् आच्छादित नहीं कर सकता और न ही उससे व्यापक हो सकता है। इस सूक्त वचन से स्पष्ट होता है कि- परमात्मा अनन्त है अर्थात् देश-कालादि से अपरिच्छिन्न है एवं उस ब्रह्म से जायमान जगत्, ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त सत्तावाला नहीं है''।

अब यहाँ पर शङ्का उत्पन्न हुई कि– ''**असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**''[5], इस श्रुति का नासदासीत् (असत् भी नहीं था)– इस श्रुति से विरोध होगा? तब इसके उत्तर में कहना होगा कि- उक्त छान्दोग्य उपनिषद् के मन्त्र में कारणसत्त्ववादी वेदान्तियों के द्वारा

---

*शोधछात्र, धर्मशास्त्र-मीमांसा विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, वेदान्त विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

A. प्रत्येक कार्य के प्रति न्याय-दर्शन में नौ साधारण-कारण माने गये हैं, जिनमें कि ईश्वर सर्वप्रथम है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी सांसारिक कारण, अ-साधारण कारण हैं।

B. न्याय में उत्पन्न होकर अविनाशी रहने वाला पदार्थ केवल 'प्रध्वंसाभाव' को ही माना गया है।

नाम-रूपात्मकता को सत् माना गया है। उनके मत में सृष्टि के पूर्व में आत्मा नामरूपात्मक उपाधियों से रहित होने के कारण 'असत्' पद से व्यवहित् है। सृष्टि से पूर्व कारणस्वरूप परमात्मा सत् ही था। यदि कारण को सत् नहीं माना जायेगा तो उत्पद्यमान प्रपञ्चरूप (कार्य) भी सत् नहीं होगा, यतः आरोप्यमाण कार्य की सत्ता, कारण से भिन्न नहीं होती। किन्तु असत्कार्यवादी शून्यवादियों (बौद्धों) के मत से जागतिक-सृष्टि के पूर्व जगत् का कारण, असत् अर्थात् शून्यरूपेण विद्यमान है। उसी शून्य से सत्-रूप कार्य की उत्पत्ति, शून्यवादी बौद्ध मानता है; जो अनुभव विरुद्ध है। अभाव से भावरूप की उत्पत्ति असम्भव है।

आगे कहते हैं–

''न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वाया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास॥''[6]

''जब जगत् नहीं था तब विकार-स्वरूप मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् परमाणुओं के संयोग एवं अन्य समवायादि सम्बन्धों का आश्रय लेकर उत्पन्न हो, उत्पन्न होकर वर्तमान (स्थिर) रहे और फिर उसमें शरीरादि का वियोग हो, तब तो मृत्यु कही जाय। जागतिक पदार्थ, उत्पत्ति के पूर्व तद्विकार स्वरूप मृत्यु का प्रश्न ही नहीं है। 'अमृत' भी नहीं था। अमृत का तात्पर्य्य, वस्तु की निरन्तरता या स्थायीभाव है अर्थात् शरीरादि धर्मी उत्पन्न होकर सदा बने रहें[B] जो सृष्टि के पूर्व असम्भव है।

सूर्य, चन्द्रादि के राहित्य के कारण रात और दिन का विभाग भी नहीं था। केवल एक ही सत्ता थी जहाँ वायु की भी गति नहीं थी। यह सत्ता स्वयं अपने प्राण से अनुप्राणित, अपने प्रकाश से प्रकाशित और स्वयं अपना कारण होते हुये विराजमान थी। उस सत्ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था''। इसी तात्पर्य्य को– **''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदंविभाति''**[7], यह श्रुति भी बोधित करती है। उस ज्योतिःस्वरूप प्रकाशपुञ्ज जगत् कारणभूत परमात्मा के प्रकाशित होने पर अन्य जागतिक पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

फिर–

''तम आसीत तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्''॥[8]

तब क्या था?– इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि- ''(तम आसीत) अन्धकार की सत्ता थी। प्रकाश की उत्पत्ति न होने के कारण तथा प्रकाश अनुत्पन्न होने के कारण प्रकाशाभाव था। प्रकाशाभाव का तात्पर्य्य, लौकिक व्यवहार-शून्यता है। यथा प्रकाश ही सकल व्यवहार का हेतु है, अतः प्रकाशाभाव व्यवहाराभाव का द्योतक है। व्यवहाराभाव होने के कारण '**तमसागूढ...**' कहा है। यतः सृष्टि के पश्चात् ही देश-काल इत्यादि का विभाग होता है। अतः सृष्टि के पूर्व देश तथा काल की सत्ता नहीं थी। आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति के पूर्व नाम-रूपात्मकता नहीं थी। अतः एकरूपता में कारणस्वरूप की प्रतीति होती थी। जो कुछ भी सत्ता थी, वह शून्यता से ढकी हुई थी; क्योंकि आकाशादि की उत्पत्ति न होने के कारण किसी भी प्रकार का आकार न था, एवं आकाश से ही सृष्टि आरम्भ होती है''। इसी तात्पर्य्य को अन्य श्रुति भी कहती है- **''तस्माद्वा एतस्मादात्मनो आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायोः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी.....''**[9]। इसी श्रुतिवाक्य के द्वारा वेदान्त में अपञ्चीकृत महाभूतों की उत्पत्ति कही गई है। सूक्ष्म महाभूत, अपञ्चीकृत्-महाभूत कहे जाते हैं। सर्वप्रथम अपञ्चीकृत् महाभूतों की उत्पत्ति होती है। पञ्चीकृत् प्रक्रिया द्वारा स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में जिस अन्धकार की सत्ता का वर्णन है, उसे ही मनुस्मृति में भगवान् मनु के द्वारा सरल ढंग से कहा गया है। मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के आरम्भ में ही जब ऋषियों के द्वारा सृष्टि-विषयिणी जिज्ञासा की गई तो उत्तर में भगवान् मनु ने कहा–

''आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञाततमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः''॥[10]

कुल्लूकभट्ट ने अपनी टीका में इसके तात्पर्य्य को और अधिक स्पष्ट करते हुये कहा है कि– ''प्रलयकाल में यह जगत अन्धकार में लीन होता हुआ सा अन्धकार रूप ही था। 'अन्धकार' (तम) शब्द से तात्पर्य्य तमोगुणीभूत मूल-प्रकृति से है। (तात्पर्य्य यह है कि) जैसे अन्धकार में रखे हुये पदार्थ दिखाई नहीं पड़ते, उसी प्रकार प्रलयकाल में समस्त पदार्थ एवं समस्त भाव, सूक्ष्म-रूप (अव्यक्त-रूप) से मूल-प्रकृति में लीन होते हुये भासित नहीं होते थे। वह प्रकृति भी ब्रह्म में आश्रित होकर ब्रह्मरूप ही थी।[C] इसीलिये श्लोक में 'अप्रज्ञातम' कहकर लक्षण किया। अर्थात् यह सृष्टि प्रत्यक्ष-प्रमाणों (इन्द्रियों) से अगोचर होने के कारण अप्रज्ञात, लिङ्गादि लक्षणों से रहित व अनुमान आदि प्रमाणों से अज्ञेय होने के कारण अलक्षण तथा तर्कादि शब्दों से परे होने के कारण अप्रतर्क्य थी।''[11]

''तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत''[12], **''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्''**[13] इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी तात्पर्य्य की प्रतिपादक हैं। उक्त श्रुतियाँ तथा सूक्त एवं स्मृतिवाक्य, सृष्टि के कारणस्वरूप ब्रह्म की सत्ता के प्रतिबोधक हैं। यहाँ पर 'सत्' शब्द, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म का वाचक है। अतः 'प्रसुप्त' पद- 'समस्त क्रिया-कलापों से राहित्य' का बोधक है। जिस प्रकार से प्रसुप्तावस्था में सकल जागतिक पदार्थ अपने कारण में लीन रहते हैं, उसी प्रकार प्रलयावस्था में भी सकल कार्य अपने मूल-कारण में लीन रहते हैं। इसलिये प्रसुप्त शब्द का प्रयोग किया गया।

C. यहाँ पर लिङ्गवाची शब्द, केवल तात्पर्य्य-बोधक हैं। वस्तुतः वेदान्त अथवा अन्य भी जैविक (जीवात्मा-सम्बन्धी) दर्शनों में आत्मा का कोई लिङ्ग या चिन्ह नहीं माना गया है। ब्रह्म या प्रकृति निर्ल्लिङ्ग पदार्थ माने गये हैं। शब्द घटक लिङ्गों से ही उनमें पुंस्त्वादि की अभिव्यक्ति होती है।

आगे कहते हैं–

''कामस्तदग्रे समवर्ततताधिः मनसो रेतः प्रथमं यदासीत।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥''[14]

तपश्चर्या, शक्ति के आधान का कारण है– **''स तपोऽतप्यत.....''।[15]** ''उस ब्रह्म ने सृष्टिपूर्व तपश्चर्या किया। तपश्चर्य्या द्वारा अधिगत शक्तिमान् परमात्मा, स्वसङ्कल्पमात्र से सकल पदार्थों को उस मूल प्रकृति में अभिव्यक्त किया। सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम अन्तःकरण की उत्पत्ति हुई। अन्तःकरण उत्पन्न होकर सङ्कल्प-विकल्पात्मक व्यापार द्वारा मनोरूपता को प्राप्त हुआ। अन्तःकरणोपाधिक आत्मा में ही काम सङ्कल्प आदि उत्पन्न हो सकते हैं। अतः पूर्व में अन्तःकरण की उत्पत्ति कही गई- **''तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय.....''।[16]** इस 'एक' के मनन या विचार से यह कामना बीजरूप में (परिणत) हुई; तथा पहले-पहल यही कामना सत (ब्रह्म) और असत (जड-प्रपञ्च) को बाँधने का कारण हुई''।

मनुस्मृति में इसी श्रुतिवाक्य का अनुवाद निम्न श्लोक के द्वारा किया गया है कि–

''ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः''॥[17]

'तब प्रलयावसान-काल में स्वयंभू परमात्मा, अन्धकार को दूर करते हुये आकाशादि महाभूतों को व्यक्त किये'। कुल्लूकभट्ट ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है– ''प्रलयावसान से तात्पर्य्य है, शून्यता के अन्तिम क्षण के बाद का क्षण। उस प्रथम क्षण में स्वयंभू (हिरण्यगर्भ), कर्म-फल की व्यवस्था से रहित, स्वकीय इच्छा से औपाधिक शरीरादि को ग्रहण कर सामान्य प्राणी सदृश प्रकट हुआ। जीवात्मा को शरीरादि के ग्रहण के लिये प्रारब्ध-रूप कर्मफल की अपेक्षा रहती है; किन्तु परमात्मा- स्वयं कर्मो एवं उनके फल से मुक्त है तथा कर्म-फल की व्यवस्था का सञ्चालक है। उसे प्रारब्धकर्म की आवश्यकता शरीर-धारण के लिये नहीं है; अतः स्वेच्छा से शरीर धारण करने में समर्थ है। वही परमात्मा प्रलयावसान (अर्थात् सर्ग के आदि) में आकाशादि महाभूतों को प्रकाशित करते हुये प्रकट हुआ।[18] श्रुति भी इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि– ''स एकधा भवति द्विधा भवति''। फिर-

''सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सृशिक्षुर्विविधा प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत॥''[19]

अर्थात्– ''उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सर्वप्रथम जल की सृष्टि की और उसमें शक्तिरूपी बीज का वपन किया''। इस तथ्य को **''तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तदाऽऽपोऽसृजत''**[20], यह श्रुति प्रतिपादित करती है। उक्त सृष्टि का उपादान-कारण तथा कर्तृरूप निमित्त-कारण परमात्मा है; यतः सृष्टि के पूर्व परमात्मा से अतिरिक्त कुछ भी न था, अतः परमात्मा ही सृष्टिरूप में अभिव्यक्त हुआ ऐसा मानना होगा।[21]

उपर्युक्त वाक्य में परमात्मा के प्रकट होने की जो बात कही गई है, उसे ही वेदव्यास ने *''जन्माद्यस्य यतः''*- इस सूत्र के द्वारा कहा है। अर्थात् 'जो इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का हेतु है, वह परमात्मा ही है।[22] इस सूत्रार्थ की समर्थक ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन.....तद्ब्रह्म''– यह श्रुति है। नासदीय-सूक्त पठित 'काम'पद सृष्टिकामना का बोधक है। उस बीजरूपी कामना को भगवान् वेदव्यास ने **''ईक्षतेर्नाशब्दम्''**[23]– इस सूत्र में 'ईक्षण' पद से कहा है। अतः ईक्षणाश्रयतया परमात्मा कर्ता तथा अधिष्ठानरूपेण उपादान-कारण है।

यदि प्रधान को कारण माना जाये, तब भी उक्त सूक्त की गतार्थता हो सकती है। उसके निषेध के लिये, अर्थात् प्रकृति के कर्तृत्वाभाव प्रतिपादनार्थ इस सूत्र का उपस्थापन हुआ। 'न विद्यते शब्दः श्रुतिर्यस्य तदशब्दमिति', अर्थात् जो प्रधान (प्रकृति) ईक्षण स्वरूप ज्ञान का आश्रय नहीं है, वह सृष्टि का कारण नहीं हो सकती। यतः श्रुति में 'ईक्षण' आश्रयतया कारण-स्वरूप का निर्धारण हुआ है। जडभूत-प्रकृति ईक्षण का आश्रय नहीं है। अतः सृष्टि का कारण नहीं हो सकती। इस तथ्य को मनुस्मृति में और भी स्पष्ट किया गया है कि-

''तदण्डं भवद्धैमं सहस्त्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयंब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥''[24]

''वह कारणभूत मूलप्रकृति, परमात्मा की इच्छा से सुवर्ण यानि स्वच्छ अण्डे के समान अर्थात् पिण्डरूप हो गई, जिसे ब्रह्माण्ड कहा गया। श्लोकगत 'हेम' शब्द का तात्पर्य्य शुद्धता से है न कि सुवर्ण धातु से। उस अण्ड की आभा करोड़ों सूर्यों के प्रकाश के तुल्य थी। तत्पश्चात् उसमें से परमात्मा की रजोगुणात्मिका शक्ति प्रकट हुई, जिसे लोक में ब्रह्मा कहा गया''। कुल्लूकभट्ट ने इसे स्पष्ट किया है कि– ''जिसने पूर्वजन्म में भेदाभेद भावनया अर्थात् (हिरण्यगर्भोऽहमस्मि) 'मैं हिरण्यगर्भ रूप हूँ'- इस प्रकार से ब्रह्म की उपासना किया, वह लिङ्गशरीरावच्छिन्न जीवरूप में प्रविष्ट होता है। लिङ्गशरीरावच्छिन्न जीवरूप में प्रवेश कर स्वयं परमात्मा ही हिरण्यगर्भरूप में प्रादुर्भूत हुआ''[D]। अतः जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। इसी तात्पर्य्य की बोधिका श्रुति भी है- **''हिरण्यगर्भा समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत, स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम''।[25]** उस रजोगुणात्मिका कर्तृत्वशक्ति-सम्पन्न परमात्मा ने ब्रह्माण्डान्तवर्ति सकल जीव-प्रकृति का तथा जीव भोग्य अन्न-पानादि का निर्माण किया।

''तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥
उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम्॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥[26]

''ब्रह्मा ने उस अण्डे में एक वर्ष (360 ब्रह्मदिन) निवास कर अपने ध्यान के द्वारा उस अण्डे के दो टुकड़े किये। उन दो टुकड़ों से स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और मध्य में आकाश, आठ दिशाओं तथा जल के आधारभूत समुद्र की सृष्टि किया। इन्द्रिय-निर्माण के पूर्व ब्रह्मा ने परमात्मेच्छया सदसदात्मक 'मन' की सृष्टि किया[27] तथा मन से पहले 'अहम्' इस अभिमान वाले एवं अपने कार्य को करने में समर्थ अहङ्कार की रचना किया। तथा अहङ्कार से पहले आत्मोपकारक 'महत्तत्त्व' की तथा सत्त्व-रज-तम से युक्त विषयों की, रूप-रसादि विषयों को ग्रहण करनेवाली नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रियों तथा शब्दादि पञ्च तन्मात्राओं की सृष्टि किया''।

''तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥
यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः''[28]॥

'अनन्त शक्तिसम्पन्न परमात्मा ने पूर्वोक्त तन्मात्रा यानि अपञ्चीकृत् महाभूतों के अंशों से ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन तथा प्राण की उत्पत्ति की। पञ्चीकृत् स्थूल महाभूतों से अन्नपानादि तथा स्थूल शरीर एवं स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति किया। मायोपाधिक उस मूर्तिमान ब्रह्म के, शब्दादि पाँच तन्मात्रायें तथा अहङ्कार- ये छः सूक्ष्म अवयव हैं तथा कर्मभाव से उसका आश्रय करते हैं, इसी कारण लोग ब्रह्म की मूर्ति को 'शरीर' कहते हैं– **(षडाश्रयणात् शरीरम्)**[29]**।**

''तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम्॥''[30]

''तत्पश्चात् अनश्वर महाशक्ति-सम्पन्न परमात्मा से जायमान अपञ्चीकृत् महाभूतों से उत्पत्ति-विनाशशील जगत् उत्पन्न हुआ''। इसी जागतिक प्रपञ्च में शरीरधारी जीवात्मा 'प्राणी' कहलाता है। इसी प्राणी की जाग्रदावस्था को 'संसार' कहते हैं **(संसरतीति संसारः)**। जब वह सोता है तो सांसारिक-प्रपञ्च से हटकर स्वाप्निक-प्रपञ्च में आता है जिसका स्रष्टा वह स्वयं होता है। इन जाग्रत, स्वप्न अवस्थाओं से परे तीसरी अवस्था 'सुषुप्ति' कहलाती है, जिसमें कि उसके सांसारिक प्रपञ्च का लय हो जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है–

''स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमाययाकल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमात्मत्त्वं सुखरूपमेति''॥[31]

''जीवात्मा, जागृत-अवस्था में जिस प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च-संसर्ग जन्य सुख-दुःख का उपभोग करता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में अपने अज्ञान से कल्पित प्रपञ्च सम्बन्धी सुख-दुःख का उपभोग करता है। सुषुप्ति-अवस्था में इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि उपभोग-साधन के विलीन हो जाने के कारण किसी भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता''।

इस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था, सकल उपभोग का उपरमण है। परन्तु संसार न रहने के कारण अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। सुषुप्ति-अवस्था में कारण-शरीरभूत अविद्या रहती है। निर्विकल्पक समाधिरूप तुरीयावस्था में कारण-शरीर अविद्या भी नहीं रहती। अतः परमानन्द स्वरूप मोक्षावस्था ही 'तुरीयावस्था' है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद॰ 10/11/130/1.
2. 'सांस्कृतिक-व्याख्यानपंचक' (महामहिम राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद जी महाभाग की सम्मान्या-समुपस्थिति में, राष्ट्रपति भवन- नई दिल्ली में आयोजित) 30 अगस्त, 1956.
3. शतपथ॰ ब्रा॰ 6/1/1/1.
4. ऋग्वेद॰ 10/11/129/1.
5. छान्दोग्य॰ 6/2/1.
6. ऋग्वेद॰ 10/11/129/2.
7. कठोपनिषद्॰ 5/15.
8. ऋग्वेद॰ 10/11/129/3.
9. तैत्तिरीय॰ 2/1.
10. मनुस्मृति॰ 1/5.
11. ''इदं जगत तमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत.....स्वकार्याक्षममित्यर्थः''- कुल्लूकभट्ट; मन्वर्थमुक्ताली।
12. बृहदारण्यक॰ 1/4/7.
13. छान्दोग्य॰ 6/2/1.
14. ऋग्वेद॰ 10/11/129/4.
15. प्रश्नोपनिषद्॰ 1/4.
16. छान्दोग्य॰ 6/2/3.
17. मनुस्मृति॰ 1/6.
18. 'ततः स्वयंभूः परमात्मा.....प्रकाशयन'- कुल्लूकभट्ट; मन्वर्थुक्तावली।
19. मनुस्मृति॰ 1/8.
20. छान्दोग्य॰ 6/2/3.
21. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत...
22. ''यस्य जगतो जन्मादि सृष्टिस्थितिप्रलयमिति''- शाङ्कर भाष्य.
23. शारीरक सूत्र॰ 1/2/3.
24. मनुस्मृति॰ 1/9.
25. ऋग्वेद॰ 10/121/1.
26. मनुस्मृति॰ 1/12-15.
27. ''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वसय धारिणी''- (मुण्डक॰ 2/1/3).
28. मनुस्मृति॰ 1/16-17.
29. कुल्लूकभट्ट- मन्वर्थमुक्तावली।
30. मनुस्मृति॰ 1/19.
31. कैवल्योपनिषद्॰ 13.

D.येन पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिठशरीरावच्छिन्नजीवमनुप्रविश्य स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भूतः। सर्वलोकानां पितामहो जनकः, सर्वलोकपितामहः इति वा तस्य नाम''।

'मैं घनीभूत भारत हूँ'

*उदयप्रताप सिंह**

भारत कोई जड़ीभूत तत्त्व नहीं वह एक जीवंत इकाई है। वह भूगोल का कोई छोटा-बड़ा भू-खण्ड नहीं मानवीय संवेदना से स्पंदित एक प्राणवंत राष्ट्र है। इसके निवासी एक ही परमपिता की संतान हैं। इसका चिंतन सभी प्राणियों की मंगल-कामना है। परमात्म और आत्म तत्त्व से सृजित भारत भूमि पुण्य भूमि है। आत्म-परमात्म का यह अविच्छिन्न स्वरूप ही घनीभूत भारत है। एक दूसरे की वेदना में संवेदना का ज्ञापनी ही इसका धर्म है। आदि काल से परमात्मा का प्रतिनिधि ऋषि रहा है मित्रों आज मैं उसी भूमिका में आप से संवाद करना चाहता हूँ। युवकों से मुझे अधिक प्यार है। अतः पहले उन्हीं का आवाहन करता हूँ।

हे! भारत के युवा मित्रों सुनो मैं शिकागो से विवेकानन्द बोल रहा हूँ। विवेकानंद अर्थात् तुम्हारा 'नरेन'। मेरा शिकागो से कुछ भी कहने का बहुत कुछ अर्थ समझा जाता है! विदेशी भूमि जा ठहरी। अब विदेश हमें प्रीतिकर लगने लगा है। बात आज से सवा सौ वर्ष पूर्व की है। विश्व-धर्म-सम्मेलन की सभा में मुझे सबसे अंत में बोलने का अवसर मिला। 'अमेरिका के भाईयों और बहनों' मैंने कहा ही था कि सभागार तालियों से गूँज उठा। मेरी दशा उस समय देखते ही बनती थी। मैं अवाक् था। अपनी आवाज की तरह मैं भी गुम हो गया। मैं विस्मित कि कौन सी बात निकल पड़ी। थोड़े क्षणों में मेरा आत्म-ब्रह्म जगा। उसने प्रतिभासित कराया कि अभेद की स्थिति ही अद्वैत वेदांत है। वही वेदांत का सार, धर्म की धुरी और मनुष्यता का प्रस्थान बिन्दु भी है। क्या भारत, क्या अमेरिका यह रोमांचक दृश्य देखकर मेरी आँखे डबडबा आईं। उन आँसुओं को ओट से मुझे कभी ब्रह्म की झलक दिख जाती तो कभी अन्तर्मन में बैठे ब्रह्मस्वरूप गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का साक्षात् स्वरूप।

आज उसी भूमिका में विश्व को जगा रहा हूँ। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा था कि शब्द-ब्रह्म होता है, वह मरता नहीं। अतः सदी पूर्व कहे अपने शब्द-ब्रह्म का पदचाप सुन रहा हूँ और तुम्हें सुना रहा हूँ। विश्व को जगा रहा हूँ और भारतवंशियों को उसी का प्रतिस्मरण करा रहा हूँ। न जाने लोग इतनी गहरी नींद में क्यों चले जाते हैं कि स्वप्न ही स्वप्न देखने लगते हैं। कर्म से बेखबर हो जाते हैं। इस नींद में, इस तंद्रा में सोये प्राणियों को सौ-सवासौ वर्ष में एक बार झकझोरना ही पड़ता है। मैं संन्यासी हूँ अतः लोक को जगाना मेरा धर्म है। मुझे बताना ही है कि मनुष्य से मनुष्य की प्रीति में ईश्वर का वास है। मनुष्य के बीच की समरसता ही ईश्वर का वरदान है। मनुष्य में मनुष्य का अगाध विश्वास ही ईश्वर की पूजा है। भौतिक विकास की चकाचौंध में पश्चिमी सोच का व्यक्ति अंदर से पागल हुआ जा रहा है। मानवीय सम्बन्ध टूट रहे हैं। इसकी काली छाया शिकागो में उसी समय दिखने लगी थी जो आज भारत में दिख रही है। अतः मेरा सम्बोधन उनके अन्तस्तल में उतर गया। उनकी हृततंत्री बजने लगी। आज भारत उसी रास्ते पर है। मैंने उस समय भी कहा था कि हर भूगोल की, हर खगोल की अपनी विशेषता होती है– किसी की राजनीति, किसी का औद्योगिक विकास तो किसी की सर्वसमावेशी धार्मिकता। अपने भारत की पहचान है धर्म। धर्मगुरुत्व। धर्मराग। मैं उसी धरती से पुनः अपील करता हूँ कि हे! भारत के युवा मित्रों अपनी धार्मिकता का पुनर्स्मरण करो। नैतिकता की स्वर्णाभ रेखाएँ खींचो। आज चीन-जापान और अमेरिका जैसे देश अपनी कर्मठता से अग्रणी बने हैं, अपनी कर्मनिष्ठा से आदर के पात्र बन गए हैं। राजनीति की दुरंगी चाल वहाँ नहीं है। अपने यहाँ तो अजीब रोग लग गया है। सभी नेता बनने को आतुर हैं। राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि कौन करेगा? गीता-रामायण महाभारत और उपनिषदों का ज्ञान कौन बाँटेगा? विश्वबंधुत्व का भाव कौन जगाएगा? इसका उत्तर युवा मित्रों तुम्हें ही देना है। मैंने सवासौ वर्ष पहले इसका उत्तर अपनी ज्ञान-परम्परा में स्नात होकर दिया था। विश्वस्तर पर मेरी बात ध्यान से सुनी गई थी। उस समय न मैं किसी ताकतवर देश का प्रतिनिधि था और न किसी राजनीतिक संगठन का दूत या राजदूत ही। मैं तो सिर्फ वेदांत की सर्वस्पर्शी धार्मिकता का हुंकार भर रहा था। मैं तो भारत को घनीभूत रूप में व्यक्त कर रहा था।

मन की ऊर्ध्व चेतना, उसकी प्राणवत्ता, सुपर शक्ति है। वही शिव और वही पंच तत्त्वों से बना जीव है। उसी में शक्ति स्वरूप ईश्वर बैठा है। हजारों वर्ष पहले लोकनायक गोरखनाथ ने यह बात डंके की चोट पर कही थी। मुझे भी महसूस हुआ कि व्यक्ति को अपनी शक्ति की सही पहचान होनी चाहिए। अपने अन्तर्निहित परमशक्ति को जानने का निरंतर प्रयास करना चाहिए। मित्रों! तुम्हें विश्वास करना चाहिए कि न अतीत में न भविष्य में तुमसे श्रेष्ठ ईश्वर हुआ था न

*बी.एफ.एस. 13 हरनारायण, विहार, सारनाथ, वाराणसी

होगा। अनुभूति की यह प्रतिध्वनि बार-बार होनी चाहिए कि व्यक्ति अनंत महासमुद्र है। महावीर, बुद्ध, ईसा मात्र उसकी तरंगे हैं। इसकी अनुभूति मुझे उस सभागार में हुई जहाँ कई धर्मधुरंधरों का तंबू मेरे कुछ ही वाक्यों के वात्याचक्र से उखड़ गया। मेरे दो ही वाक्यों पर पूरा अमेरिका झूम उठा– ''किसी भी रूप में जो मेरे पास आएगा उसको मैं मिलूँगा'' और ''सभी मनुष्य विभिन्न मार्गों से मुझ तक पहुँचने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, सब अंत में मेरे पास ही पहुँचेंगे।'' मित्रों मुझे लगा कि ये वाक्यांश वेदांत के निकष से निकले भारतीय चिंतन के आसव थे। शास्त्रों के मंथन से निकले मणि रत्न थे।

आर्य सभ्यता के कर्णधार युवकों! मुझे भी विज्ञान बहुत प्रिय है। मेरा वैज्ञानिक तर्क और परीक्षण में पूर्ण विश्वास है। पर गुरुदेव रामकृष्ण के सम्पर्क में आते ही मेरे अन्तर्मन में पीड़ा विगलित मानव की एक तस्वीर अकस्मात् उभरी जिसमें प्रेम, दया, करुणा, विश्वास, सहकार, विवशता व असहाय होने का दर्द घनीभूत रूप में दिखने लगा। मैंने ध्यान से देखा तो यह तर्क-वितर्क और प्रयोगशाला से इतर मानवीय संवेदनाओं का विषय है। इसका सीधा जुड़ाव धर्म से है। धर्म के तत्त्व संश्लिष्ट होते हैं। उसकी तलाश में गुरुओं की शरण में जाना पड़ता है। सो मैं गुरु की, धर्म की खोज में निकल पड़ा। संतों, आश्रमों और धार्मिक प्रतिष्ठानों को सिर नवाता एक दिन गंगा के पावन तट पर स्थित पवहारी बाबा (गाजीपुर उ.प्र.) के आश्रम पहुँच गया। उनकी धर्ममय जीवन शैली से मैं इतना प्रभावित हुआ कि कई दिनों तक उन्हीं की शीतल छाया में विश्राम करता रहा। उनके धर्म-दर्शन के गहन बोध, आर्य-अनार्य की वास्तविक व्याख्या, बंगला सहित कई भाषाओं की वक्तृता से मैं चमत्कृत हो गया। एक क्षण तो ऐसा भी आया जब मैं उन्हीं से दीक्षित होने का निश्चय कर बैठा और कई दिनों तक पवहारी और रामकृष्ण परमहंस के द्वन्द्व में झकोरे खाता रहा। उस समय तक उनका भावोच्छ्वास कर्मचेतना का यथार्थ रूप धर चुका था। डसने वाला काला नाग उनके लिए प्रेम देवता था और अति एकाग्रता को ही वे कर्म की तीव्र चेतना कहने लगे थे। उनकी सन्निधि का दूसरा चक्र मेरे जीवन में मानवमात्र के प्रति सहानुभूति का ज्वार लेकर उमड़ पड़ा। उनकी अहैतुकी साधना मुझे संसार और समाज की सेवा न कर पाने की ग्लानि को भी म्लान कर देने में सक्षम थी। उनकी मान्यता थी कि आत्मशक्ति से लोक कल्याण संभव है। उसके लिए साकार होना आवश्यक नहीं। निष्क्रियता का मनोजगत बनाने वाला भावात्मक धर्म और मानव-समाज की कल्याण भावना से प्रेरित सक्रिय धर्म के द्वन्द्व में मैं वर्षों तक दोलायमान रहा। फिर रूप का परिचय कराना चाहता हूँ। जहाँ स्व से अधिक पर की चिंता हो।

आज भी भारत माता का करुण क्रंदन रुका नहीं है। यदि तुम सब इस क्रंदन से भारत माँ की मुक्ति चाहते हो तो उसकी पीड़ित संतानों की सेवा करो। दरिद्र में नारायण का रूप देखो और उसी की पूजा करो। इससे बड़ा भी कोई धर्म है क्या? बनारस की यात्रा में मैंने अपने युवा मित्रों से कहा था– ''मैं जा रहा हूँ। मैं तब तक नहीं लौटूँगा जब तक समाज में बम की तरह न फट सकूँ और उसे कुत्ते की तरह मेरे पीछ चलने को बाध्य न कर सकूँ।'' मित्रों! विश्वधर्म सम्मेलन में मैं वक्तृता की धाक जमाने नहीं गया था। भारत की पीड़ित, दलित संतानों के सुखमय विहान की संभावना तलाशने गया था। सफलता-असफलता की बात छोड़ो। मेरे हृदय में पीड़ित मानवता की दहकती आग लगी थी। मैं चाहता था कि भारत की दरिद्रता उसी में भस्म हो जाय। मनुष्य की सेवा में ही ईश्वर दिखता है। देश का पुनरुद्धार, उसकी आध्यात्मिक शक्ति का जागरण और विश्वबंधुत्व का प्रसार तुम्हें ही करना है। कला, विज्ञान, विजय और कर्म के उन्माद में संतुलन तुम्हें ही साधना है। मुझे ही देखो अद्वैत (शास्त्रों) के प्रति मेरे मन में अक्षुण्ण प्रेम है और पीड़ित मनुष्य के लिए अगाध करुणा। जब दोनों में एक को चुनने की बारी आई तो शास्त्र की जगह मानवसेवा को मैंने चुन लिया। वहीं मेरा ईश्वर भी दिख रहा था।

किसी भी देश की वास्तविक पहचान युवाशक्ति होती है। युवा मन का गीता की ज्ञान चेतना में भारत में अस्पृश्यता एक कलंक है। इस स्याह धब्बे को साफ करने में काफी विलम्ब हो चुका है। बाहर के लोगों को इसका श्रेय देना खतरनाक है। इसे तुम्हें ही साफ करना है। गैर बराबरी तुम्हें ही मिटाना है। वर्गीय चेतना देश की भौगोलिक एवं भावात्मक एकता के लिए घातक है। राजनीतिक के छल-छद्म में न पड़कर भारतमाता को आपादमस्तक देखो। सभी समस्याओं के समाधान का मार्ग दिखेगा। युवावस्था की ऊर्जा देश के लिए खर्च करो परिवार के लिए नहीं। कंचन-कामिनी का ध्यान तुम्हारी राष्ट्रभक्ति के राग में अवरोधक बनेगा। उसे छोड़ो। मुझे देखो न। कई देशों का भ्रमण कर चुका। बहुत से चाकचिक्य दिखे पर भोग-विलास में मेरी कोई रुचि नहीं। आज भारतीय पुरुष समाज प्रश्न के घेरे में है। समाज की मुख्य धुरी स्त्री सशंकित है। पुरुष से उसका विश्वास उठ रहा है। उपनिवेशवाद चोर दरवाजे से नहीं; मुख्य फाटक से घुसने का प्रयास कर रहा है। जाने-अनजाने हम देशी कम परदेशी अधिक होते जा रहे हैं। मित्रों! मुझे स्मरण है औपनिवेशिक भारत में बाहरी शिक्षा प्राप्त कर हम देश की सोचते थे आज ऐसा क्यों नहीं है। देश में शिक्षित बन विदेश की सोच रहे हैं। इसका आत्ममंथन युवकों को ही करना है। आज हम ग्लोबल समाज की मृगमरीचिका में ऐसे भ्रमित हैं, बाजारवाद के चंगुल में ऐसे फँसे हैं कि अपने निर्बल, निर्धन बंधुओं और श्रमजीवी धरतीपुत्र किसानों को भूल गए हैं।

इस दलदल से बाहर आने का सही समय यही है। पराधीनता की पुनरावृत्ति से सतर्क होने की शुभघड़ी यही है। नैतिक कायरता का परित्याग कर ऊर्जावान भारत बनाने का शुभ मुहूर्त यही है। देश के संदर्भ में राष्ट्रभक्त शक्तिमान का अपराध शक्तिहीन देशप्रेमी की नैतिकता से श्रेयस्कर होता है।

मेरे आजाद देश युवा मित्रों! अंतिम बात कहकर विदा लेना चाहता हूँ। पूर्व और पश्चिम का समन्वय कर एक दूसरों को समझो तब उसे अंगीकार करो। दलित-उच्च में भेद न कर जरूरतमंद की सेवा करो। धर्म परावर्तन को हवा न दो। परस्पर लड़ो नहीं, सहायक बनो। मेल-जोल को जीवन में उतारो, विनाश व विग्रह को नहीं। मैत्री और शांति को जीवन दर्शन बनाओ। अकेले की मुक्ति, मुक्ति नहीं होती। दूसरों के मोक्ष में अपनी मुक्ति समझो। यदि दूसरों की सेवा करते हुए तुम्हें नरक में भी जाना पड़े तो वह अपनी मुक्ति द्वारा अर्जित स्वर्ग से श्रेष्ठ है।

●

भोजपुरी भाषा विमर्श

प्रो. बालशास्त्री एवं रामकेश्वर तिवारी***

भारत की आर्य भाषाओं में भोजपुरी भाषा हिन्दी की एक प्रमुख बोली है। इस सरस भाषा में साहित्य की रचना अभी विशेष नहीं हुई है, फिर भी जो कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं वे इसकी सरसता एवं मधुरता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। भोजपुरी भाषा विमर्श में इस भाषा के नामकरण के क्या कारण हैं? यह भाषा कहाँ बोली जाती है? इसका सामान्य व्याकरण क्या है? इत्यादि विषयों का सामान्य विमर्शात्मक विवेचन किया गया है।

भोजपुरी या भोजपुरिया का प्रथम प्रयोग

भोजपुरी भाषा को कुछ विद्वान ''भोजपुरिया'' के नाम से भी पुकारते हैं। डॉ सुनीति कुमार चटर्जी ने अपने ग्रन्थ में इस नाम का व्यवहार किया है[1]। 'भोजपुरिया' शब्द प्रचलित 'भोजपुर' शब्द का विशेषण है। 'भोजपुर' शब्द से उस प्रदेश की भाषा का अर्थ द्योतित करने के लिए ''इया'' प्रत्यय का प्रयोग उतना हीं उचित है जितना 'ई' प्रत्यय का। (प्रयोग में जैसे– सोनी–सोनिया, पिंकी–पिंकिया, रिंकी–रिंकिया, डाली– डलिया आदि) 'ई' प्रत्यय 'इया' से आकार में लघु है और यह अन्य विशेषणों यथा– बंगाली, आसामी, नेपाली में समता भी रखता है। 'भोजपुरी' या 'भोजपुरिया' शब्द का सर्वप्रथम लिखित प्रयोग सन 1789 ई. में पाया जाता है। डॉ ग्रियर्सन ने रैमन का उद्धरण देते हुए लिखा है कि ''दो दिनों के बाद सिपाहियों की एक टुकडी जो चुनार घर (गढ) प्रातः काल शहर से मार्च करती जा रही थी। मैं बाहर निकला और सेना की मार्चिंग को देखने लगा। वह टुकड़ी खड़ी हो गई। उस टुकडी के मध्य से कुछ आदमी निकलकर एक अँधेरी गली में गए और एक मुर्गी को पकड लिया। इस पर लोग करुण क्रन्दन करने लगे। तब उनमें से एक आदमी ने 'भोजपुरिया मुहावरे' में उनसे कहा इतना मत चिल्लाओ आज हमलोग फिरंगी के साथ जा रहे हैं परन्तु हमलोग चेतसिंह के ही नौकर (आसामी) हैं[2]।

उपर्युक्त उद्धरण में सन् 1789 ई. में 'भोजपुरिया' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जॉन वीम्स ने सन् 1868 ई. में अपने एक लेख में सर्वप्रथम इस भाषा के लिए 'भोजपुरी' शब्द का प्रयोग किया है[3]। सम्भवतः उन्होंने उस समय में प्रचलित इस शब्द का व्यवहार किया है।

भोजपुरी नामकरण का कारण

भोजपुरी अथवा भोजपुरिया भाषा का नामकरण बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले में स्थित भोजपुर नामक गाँव के नाम पर हुआ है। शाहाबाद जिले में बक्सर सब-डिविजन (उपविभाजित क्षेत्र) में भोजपुर नाम का एक बडा परगना है। इसी परगने में 'नवका (नयका, नैका) भोजपुर' और 'पुरनका भोजपुर' दो छोटे–छोटे गाँव हैं जो डुमराँव राज्य की राजधानी डुमराँव नगर से दो-तीन मिल उत्तर गंगा के निकट बसे हैं। ये दोनों गाँव आसपास हैं और भोजपुर नामक प्राचीन नगर के हीं स्थान पर स्थित हैं। इन्हीं गाँवों में ये भाषा बोली जाने के कारण इसका नाम भोजपुरी पड़ा[4]।

प्राचीनकाल में 'भोजपुर' बड़ा समृद्धिशाली नगर था। यह उज्जैनवंशी पराक्रमी राजाओं की राजधानी थी। इस वंश के प्रतिनिधि डुमराँव राज्य के राजा आज भी विद्यमान हैं। डॉ बुकानन ने सन् 1812 ई. में शाहाबाद जिले में पूरा परिभ्रमण किया था, उसने अपने यात्रा विवरण में यहाँ के मूल निवासी चेदी नामक जाति को परास्त कर उज्जैनवंशी राजपूतों के द्वारा इस स्थान को जीतने की किम्वदन्ती का उल्लेख किया है। इन उज्जैनी राजपूतों की उत्पत्ति मालवा के सुप्रसिद्ध राजा भोज से मानी जाती है।

'ब्लाखमैन' ने लिखा है कि 'दक्षिणी बिहार और बंगाल के पश्चिमी सरहद के राजाओं ने दिल्ली के बादशाहों को बड़ा परेशान किया। अकबर के राज्यकाल में भोजपुर के राजा दलपति पराजित होकर पकडे गये और जब अधिक नजराना लेकर अकबर ने उन्हें मुक्त किया तो वे फिर सेना लेकर विद्रोह कर बैठे। जहाँगीर के समय तक उनका विद्रोह चलता रहा और शाहजहाँ ने उनके उत्तराधिकारी को फाँसी दिलवा दी[5]।'' इस तरह से ब्लाखमैन ने भोजपुर नाम का उल्लेख किया है तथा अपने 'आइने अकबरी' के अनुवाद में भोजपुर के सम्बन्ध में अनेक घटनाओं का वर्णन किया है[6]।

'आइने अकबरी' में राजा दलपति सम्बन्धी विवरण की एक टिप्पणी में राजा दलपति को उज्जैनिया कहा गया है। आइने अकबरी से यह भी पता चलता है कि उज्जैनिया राजाओं की राजधानी 'भोजपुर' थी जो 'आरा' से पश्चिम और सहसराम (वर्त्तमान सासाराम) से उत्तर थी। उन दिनों में यह स्थान बिहार प्रान्त के रोहतास सरकार के अधिकार में था। शाहजहाँ के राज्यकाल के दशवें वर्ष में यहाँ के राजा प्रताप सिंह ने विद्रोह किया था। तब अब्दुल्ला खाँ ने भोजपुर पर आक्रमण कर इसे जीत लिया। प्रताप सिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया और शाहजहाँ की आज्ञा से उसे फाँसी दे दी गई।

*भूतपूर्व सङ्कायप्रमुख, व्याकरण विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**वरिष्ठ अनुसंधाता, व्याकरण विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रचीनकाल में 'भोजपुर' एक प्रधान स्थान था, जिसे मालवा के उज्जैनवंशी राजाओं की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। ये उज्जैनी राजा मालवा से यहाँ आए थे। इन राजपूतों का भारत के मध्यकालीन इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। पश्चिमी बिहार में इनकी महत्ता सन् 1857 तक अक्षुण्ण रही है जबकि वीराग्रणी कुवँर सिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत का झण्डा ऊँचा किया था। इस युद्ध में कुवँर सिंह पराजित हुए और इस प्रकार भोजपुर की प्राचीन महत्ता का नाश हो गया। परन्तु डुमराँव राज्य पर आज भी एक उज्जैनी राजा राज्य करता है, जो पुराने उज्जैनी राजाओं का एकमात्र प्रतिनिधि है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि 'भोजपुर' स्थान का नाम उन उज्जैनी भोज राजाओं के नाम के कारण हुआ है जो उज्जैन (मालवा) से आकर यहाँ बस गये थे। यह बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय है कि 'भोज' नाम उपाधि रुप से सभी उज्जैनी राजाओं के द्वारा धारण किया जाता था। यह 'श्रृंगार प्रकाश' के रचयिता सुप्रसिद्ध दानी राजा भोज का व्यक्तिगत नाम हीं नहीं था बल्कि यह उपाधि भी थी[7]। ये राजा उज्जैन से आने के कारण उज्जैनी भोज कहे जाते थे। अतः इन्होंने जिस नगर को बसाया उसका नाम इन्हीं के नाम पर भोजपुर (भोज राजाओं का नगर) रखा गया। इनकी राजधानी 'भोजपुर' में थी जो आज भी बिहार प्रान्त के डुमराँव नामक नगर के पास स्थित है। प्राचीन किला का भग्नावशेष आज भी इस भोजपुर गाँव में विद्यमान है। इसी प्रचीन छोटे से नगर के कारण यह नाम आस-पास के स्थानों में भी फैल गया, पहले 'भोजपुर' नाम का जिला भी था जिसके अन्तर्गत वर्त्तमान शाहाबाद जिले का उत्तरी भाग सम्मिलित था। 18वीं शताब्दी के अन्त में 'भोजपुर' का क्षेत्रफल अत्यन्त विस्तृत था। शनैः-शनैः भोजपुर नाम से बना हुआ भोजपुरी अथवा भोजपुरिया विशेषण यहाँ के निवासियों तथा क्रमशः इस प्रदेश के आसपास बोली जानेवाली भाषा के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। चूकि यह बोली भोजपुर जिले के उत्तर, दक्षिण और पश्चिमी भागों में भी फैली हुई थी अतः यहाँ के लोग तथा उनकी बोली भी इसी नाम से विख्यात हो गई।

इस प्रदेश के राजपूतों ने मुगल बादशाहों से लड़ने में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। तथा आसपास के लोगों में अपनी पृथक सत्ता एवं महत्ता बताने के लिए वे इसी नाम से अपने को अभिहित करते थे।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में मागध श्रेणी की इस भाषा को बोलनेवालों के लिए भोजपुरी अथवा भोजपुरिया शब्द का प्रयोग पाया जाता है। निम्नाङ्कित बिहार प्रसिद्ध पद्य में 'भोजपुरिया' शब्द का प्रयोग 'भोजपुर' प्रदेश में रहने वाले लोगों के लिए किया गया है–

भागलपुर का भगेलुआ भैया,
कहलगाँव का ठग्ग।
पटना देवालिया तीनू नामजद्द॥
सुनि पावै 'भोजपुरिया' त तुरे तीनों का रग्ग॥

इसी प्रकार से भोजपुरिया शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए भी कई स्थानों में हुआ है। जैसे– कस कस कसमर किना मगहिया, का 'भोजपुरिया' की तिरहुतिया[8]। इस पद्य में यह बताया गया है कि मगही भाषा में जहाँ 'किना' का प्रयोग होता है वहाँ भोजपुरी भाषा में 'का' और तिरहुती में 'की' का व्यवहार होता है।

भाषाशास्त्र में भोजपुरी का स्थान, क्षेत्र एवं पृथकता

भाषा वैज्ञानिकों ने सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं का वर्गविभाजन कर कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अन्तरंग और बहिरंग नाम से विभक्त किया है। बहिरंग भाषाओं की तीन प्रधान शाखाएँ हैं। (1) उत्तरपश्चिमी शाखा (2) दक्षिणी शाखा (3) पूर्वी शाखा। पूर्वी शाखा के अन्तर्गत उड़िया, बंगला, आसामी और बिहारी भाषाएँ आती हैं। बिहारी भाषा की तीन बोलियाँ (डाइलेक्ट्स) प्रसिद्ध हैं। (1) मैथिली (2) मगही (3) भोजपुरी। इस प्रकार भोजपुरी बहिरंग भाषाओं की पूर्वी शाखा के अन्तर्गत बिहारी भाषा की एक बोली है जो क्षेत्र विस्तार और इस भाषा में बोलने वालों की संख्या के आधार पर अपनी बहनों मैथिली एवं मगही में सबसे बड़ी है[9]।

भोजपुरी भाषा भारतवर्ष की आर्य भाषाओं में पूर्वी अथवा मागध श्रेणी की भाषाओं में सबसे पश्चिमी भाषा है। डॉ ग्रियर्सन ने इन मागध श्रेणी (magadhan group) की भाषाओं को बिहारी नाम से अभिव्यक्त किया है। बिहारी भाषा का तात्पर्य केवल एकमात्र भाषा से है जिसके अन्तर्गत तीन बोलियाँ (1) मैथिली (2) मगही (3) भोजपुरी प्रचलित हैं। यद्यपि भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से देखने पर यह मत ठीक है, फिर भी मैथिली एवं मगही बोली में बहुत कुछ अन्तर है। इसी प्रकार भोजपुरी के बोलने वाले अपनी पृथक सत्ता स्वीकार करते हैं।

मागध भाषाओं का विभाजन डॉ. चटर्जी ने तीन भागों में किया है, इनके अनुसार भोजपुरी का सम्बन्ध पश्चिमी समुदाय से है। मैथिली और मगही भाषा का सम्बन्ध केन्द्रीय मगध से है, तथा ये सगी बहन हैं। बंगला, आसामी तथा उडिया भाषाएँ भोजपुरी भाषा की चचेरी बहने हैं।

पूर्वोक्त तीनों बोलियों में विस्तार की दृष्टि से विचार करने पर भोजपुरी का स्थान सबसे बृहत् दिखाई देता है। यह बहुत विस्तार से फैली हुई है। उत्तर दिशा में हिमालय की तराई से लेकर मध्यप्रान्त के सरगजा रियासत तक इसका फैलाव है। बिहार राज्य में यह सीवान (सारन) चम्पारण, राँची, जमशेदपुर का कुछ हिस्सा पलामू का अर्धभाग और मुजफरपुर जिले के उत्तरी पश्चिमी भाग तथा शाहाबाद (आरा, सासाराम, रोहतास, बक्सर, औरंगाबाद, कैमूर, भभुआ) भाग में प्रचलित है। उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों – बनारस, गाजीपुर, बलियाँ, जौनपुर

और मिर्जापुर जिलों के आधे से अधिक भागों में तथा आजमगढ़ और बस्ती जिलों में भी फैली है। उपर्युक्त क्षेत्रों से अनुमान करने पर भोजपुरी भाषा लगभग 50,000 वर्गमील में फैली हुई है ऐसा प्रतीत होता है। इसकी सीमान्त रेखाएँ किसी एक प्रान्त की राजनैतिक सीमा से सम्बद्ध नहीं है। मुख्यरुप से भोजपुरी भाषा का प्रधान केन्द्र उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिले और बिहार प्रदेश के पश्चिमी जिले हैं, परन्तु इन जिलों के अतिरिक्त भी यह भाषा बोली जाती है। गंगा नदी से उत्तर भाग में इस भोजपुरी भाषा की सीमा मुजफरपुर जिले के पश्चिमी भाग की मैथिली है। पुनः गंगा नदी के दक्षिण भाग में इसकी सीमा गया और हजारीबाग की मगही से मिल जाती है। वहाँ से यह सीमान्त रेखा दक्षिण-पूर्व की ओर हजारीबाग की मगही भाषा क्षेत्र के उत्तर घूमकर सम्पूर्ण राँची पठार और पलामू जिले के भाग में इसकी सीमा अधिकांश भागों में फैल जाती है। दक्षिण दिशा की ओर यह भाषा उड़िया और गंगपुर स्टेट की तदेशीय भाषा से परिसिमित होती है। पलामू के पश्चिमी प्रदेश से गुजरने के बाद भोजपुरी भाषा की सीमा मिर्जापुर जिले के दक्षिण प्रदेश में फैलकर गंगा के बहाव के साथ-साथ पूर्व की ओर जाती है और बनारस के निकट पहुँचकर गंगा पार कर जाती है। इस प्रकार मिर्जापुर जनपद के गांगेय प्रदेश के अल्प भाग में हीं इसका प्रसार है। मिर्जापुर जनपद के दक्षिण प्रदेश में इस भाषा की मुलाकात छत्तीसगढी से होती है परन्तु इस जिले के पश्चिमी भाग के साथ-साथ उत्तर की ओर घूमने पर इसकी सीमा पश्चिम में पहले बघेली और फिर अवधी से जा मिलती है। गंगा को पार करके भोजपुरी की सीमा फैजाबाद के जिले में सरयू नदी के निकट टाँडा तक हो जाती है। इस प्रकार इसका विस्तार बनारस होते हुए जौनपुर जिले के बीचोबीच और आजमगढ जिले के पश्चिम भाग के साथ फैजाबाद जिले के आरपार फैल जाता है।

बिहारी भषा के अन्तर्गत तीन प्रकार की भाषाओं की गणना होती है। (1) मैथिली (2) मगही (3) भोजपुरी। प्रथम दोनों भाषाओं का आपस में इतनी अधिक साम्यता है की बिहारी भाषा को दो भागों में हीं विभक्त करना श्रेयस्कर प्रतीत होता है– पूरबी बिहारी और पश्चिमी बिहारी। इन दोनों भाषाओं में उच्चारण तथा रुपगत अनेक भेद दिखते हैं। मैथिली में विशेषतः और मगही में सामान्यतः 'अ' का उच्चारण बंगला उच्चारण समान होता है। क्योंकि 'अ' की ध्वनि ओकार समान मुँह को गोलाकार बनाने से होती है। परन्तु भोजपुरी में 'अ' का उच्चारण पश्चिमी हिन्दी समान नितान्त सुस्पष्ट अकार ही होता है। भोजपुरी भाषा में अ की एक विभिन्न ध्वनि है जो हवे, हवन (है) शब्द में वर्त्तमान है। यह कुछ विचित्र ध्वनि है और कुछ 'ओ' समान मुँह को अधिक गोल बनाने पर उच्चरित होती है। मैथिली और मगही भाषा में आदरार्थ 'अपने' शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु भोजपुरी भाषा में इसके लिए 'रउरे, राउर या रउआ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह 'रउरे' तथा 'राउर' (आपका) का प्रयोग भोजपुरी का स्पष्ट संकेत है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'मोंहि लागत दुःख रउरे लागा' और 'जो राउर अनुशासन पाउँ' आदि चौपाइयों में इन्हीं भोजपुरी शब्दों का प्रयोग किया है। सहायक क्रिया के रुप में या सत्ताार्थक धातु के लिए मैथिली भाषा में 'छई' या 'अछि' का प्रयोग किया जाता है। मगही भाषा में 'हई' प्रयोग होता है परन्तु भोजपुरी में 'बाटी, बाड़ी, बानी, बाईं बा' का प्रयोग होता है। भोजपुरी में इस 'बाटे या बाटी' का उपर्युक्त दोनों बोलियों में नितान्त अभाव है। भोजपुरी में प्रधान क्रिया रुप में वर्त्तमान काल में 'देखतानी, देखतबानी, देखताड़ी, देखतबाड़ी, देखताई, देखी ला' (मैं देखता हूँ) का प्रयोग पाया जाता है, जो अपनी विशेषता रखता है। ऐसा प्रयोग अन्य बोलियों में उपलब्ध नहीं होता है। भाजपुरी भाषा में षष्ठी कारक का प्रत्यय 'के' है परन्तु मैथिली और मगही में इसके लिए 'क, कर या केर' का प्रयोग किया जाता है।

भोजपुरी भाषा के बोली भेद

भोजपुरी भाषा के तीन प्रधान बोलियाँ हैं– (1) आदर्श भोजपुरी (2) पश्चिमी भोजपुरी (3) नागपुरिया। इसके अतिरिक्त इस भाषा की दो उपबोलियाँ भी हैं– (1) मधेसी (2) थारु।

1. आदर्श भोजपुरी– यह बोली प्रधानतया शाहाबाद (आरा), बलिया, गाजीपुर जिले के पूर्वी भाग, और घाघरा (सरयू) एवं गंडक दोआब में बोली जाती है। यह बोली भोजपुर गाँव के चारों ओर बोली जाती है। अतः इसको आदर्श माना जाना स्वाभाविक है। इसमें अनेक स्थानीय विशेषताएँ पाई जाती है। इसमें सबसे प्रधान एवं स्पष्ट प्रतीयमान पार्थक्य यह है कि जहाँ शाहाबाद, बलियाँ, और गाजीपुर आदि दक्षिणी जिलों में सहायक क्रिया में 'ड' का प्रयोग किया जाता है वहाँ उत्तरी जिलों में 'ट' का प्रयोग होता है। इस प्रकार उत्तरी आदर्श भोजपुरी में 'बाड़े' प्रयोग होता है। उदाहरण के तौर पर बलियाँ की आदर्श भोजपुरी में हम कहते हैं ''मोहन घर में बाड़े'' परन्तु गोरखपुर की भोजपुरी में 'मोहन घर में बाटें' कहा जाता है। सीवान जिले के उत्तर और मध्य में क्रिया के भूतकाल का एक विचित्र रुप पाया जाता है, जिसमें 'ल' के स्थान पर 'उ' जोड़ा जाता है। उदाहरण के तौर पर– 'मोहन गइल रहन' के स्थान पर 'मोहन गउअन' (मोहन गया था)। परन्तु यह बात अन्यत्र नहीं पाई जाती है। उत्तरी गोरखपुर और शाहाबाद की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पश्चिमी गोरखपुर और बस्ती जिले की भाषा मे आदर्श भोजपुरी भाषा से थोड़ा अन्तर है। और तो और पूर्वी गोरखपुर (देवरिया) और पश्चिमी गोरखपुर की भाषा में भी अन्तर है वहाँ की बोली सुनने पर तत्काल हीं पता चल जाता है। पूर्वी गोरखपुर की भाषा को गोरखपुरी और पश्चिमी गोरखपुर एवं बस्ती जिले की भाषा को सरवरिया संज्ञा दी जाती है। सरवरियर शब्द 'सरुआर' से निकला हुआ है जो 'सरयूपार–घाघरा के उस पार' का अपभ्रंश है। इस प्रकार इस प्रदेश के अन्तर्गत बहराइच, गोण्डा, बस्ती और

गोरखपुर एवं सारन ये सभी जिले आते हैं, परन्तु स्थानीय परम्परा के अनुसार आजकल सरुआर उसी प्रदेश को कहते हैं जो फैजाबाद जिले के अयोध्या से देवरिया जिले के मझौली राज तक फैला हुआ है।

बलियाँ और सारन दोनों जिलों में आदर्श भोजपुरी बोली जाती है, परन्तु कुछ शब्दों के उच्चारण में दोनों में अन्तर है। 'बलियाँ' या 'शाहाबाद' के लोग 'ड' का उच्चारण 'ड' हीं करते हैं। परन्तु छपरा के लोग 'र' उच्चारण करते हैं। जैसे– बलियानिवासी 'घोड़ा गाड़ी आवत बा' कहते हैं वहीं इसी वाक्य को छपरहिया 'घोरा गारी आवत बा' कहते हैं। इस प्रकार आदर्श भोजपुरी में भी स्थान विशेष के कारण थोड़ा अन्तर दीख पड़ता है। आदर्श भोजपुरी का नितान्त निखरा एवं विशुद्धतम रुप बलिया में बोला जाता है। जैसे– 'रामलगन आजु हम तोहरा के ढेर दिन पर देखत बानीं। अतना दिन तूँ काँहाँ रहला हा। जब-तब हम तोहरा बारे में तोहरा गाँव के लोगन से पूछत रहलीं हाँ, मगर केहू हाल साफ ना बतावत रहल हा। अब कहअ तोहरा घर के सभी वेकति अच्छी तरे बाड़ी नूँ।

रामचन्दर भइया तूँ का पूछत बाड़अ। जब हमरा हाल के सुनबअ त तोहरो दुःख बिआपी औ आँखिन में से लोर गिरावे लगबअ। जब हम एठाँ से घरे गइलीं तब से गिरहती के काम में बझलीं। दोसर केहू हमरा घरे में अइसन नइखे जेकरा से हमके एको लेहजा आराम मिली। काहे से कि हमरा बाप के अँखिए जबाब दे दिहलिस ओ हमरा जेठजना भाई हमरा के पहुँचला का पहिले हीं परदेश चलि गइले, अवर तब से एको चिठियो ना भेजले हा। हमार काका जी अपना लरिका बाला समेत अलगे रहेले। एही सब के ओजह से हम राति-दिन फिकिर ओ तरदुत से पिसाइल रहिले। महराज तसीलदार मालगुजारी खातिर दुइ पियादा तनात कइले बाड़े। मामा से रुपया मँगली त ऊ साफे इनकार कइले। खीसा ह की–

घर के मारल बन में गइलीं, बन में लागल आगि।
वन बेचारा का करे की, करमें में लागल आगि॥

2. पश्चिमी भोजपुरी– ये भाषा फैजाबाद, जौनपुर, आजमगढ, बनारस, गाजीपुर पश्चिमी भाग और मिर्जापुर जिले के मध्यभाग में बोली जाती है। पश्चिमी भोजपुरी इण्डो-आर्यन भाषा परिवार के पूर्वी समुदाय की सबसे पश्चिमी सीमान्त बोली है जो अवधि आदि से कुछ समानता रखती है[10]।

आदर्श भोजपुरी एवं पश्चिमी भोजपुरी में भिन्नता– आदर्श भोजपुरी और पश्चिमी भोजपुरी में बहुत अधिक भिन्नता है। सम्भवतः आदर्श भोजपुरी का अन्य बोलियों से उतना अधिक पार्थक्य नहीं है जितना पश्चिमी भोजपुरी से। पश्चिमी भोजपुरी में करण कारक के लिए क्रिया के आगे 'अन' प्रत्यय का प्रयोग देखने में आता है (गइलन, खइलन आदि)। जबकि आदर्श भोजपुरी में बिल्कुल हीं नहीं है। पश्चिमी भोजपुरी में इसके लिए 'रउरा' प्रयोग होता है। दोनों बोलियों में सहायक क्रिया के दो रुप पाए जाते हैं– बानी और हवीं, परन्तु पश्चिमी भोजपुरी में हवीं का रुप होईं पाया जाता है।

उच्चारण की विशेषता से भी अनेक प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं। बलियाँ जिले में उत्तम पुरुष के रुपों के साथ कुछ अनुस्वार सा मिला रहता है। अतः उसके उच्चारण के लिए नाक की सहायता अनिवार्य रुप से ली जाती है। परन्तु पश्चिमी भोजपुरी में अनुनासिक का नाम तक नहीं है। जैसे– 'मैने काम किया' इसके लिए बलियाँ जिले के लोग सानुनासिक 'हम काम कइलीं' बोलेंगे। परन्तु पश्चिमी भोजपुरी बोलने वाले बनारसी लोग कहेंगे 'हम काम कइली'। उच्चारण का यह स्पष्ट भेद प्रत्येक मनुष्य को मालूम हो सकता है। अन्य पुरुष के बहुवचन रुप में भी अन्तर है।

संज्ञा के रुपों में भी एक प्रसिद्ध विशेषता है। जहाँ आदर्श भोजपुरी में सम्बन्ध कारक में 'के' का प्रयोग करते हैं वहाँ पश्चिमी भोजपुरी में 'का' या 'कई' प्रयुक्त होता है। 'के' का परिवर्तित रुप 'का' बन जाता है।

आदर्श भोजपुरी

1. ओह परदेश का एक सहर का रहवइया का पास।
2. कपटी का मरला कुछुओ दोख नाहीं।
3. अपना बाप से कहलन।
4. ओह गाँव का कवनो आदमी।

पश्चिमी भोजपुरी

1. ओह परदेश के एक सहर के रहवैये के पास।
2. कपटी के मरले कई किछउ दोख नाहीं।
3. अपने बाप से कहले।
4. ओह गाँव के कवनो आदमी।

सम्प्रदान कारक का परसर्ग (प्रत्यय) इन दोनों बोलियों में भिन्न-भिन्न पाया जाता है। आदर्श भोजपुरी में सम्प्रदान का प्रत्यय 'लागि' है। परन्तु बनारस की पश्चिमी भोजपुरी में इसके लिए 'के बदे' 'वास्ते' प्रयुक्त होता है। जहाँ आदर्श भोजपुरी में 'तोहरा लागि उडबो आकास' बोलते हैं वहाँ बनारसी बोली में 'किनली है रजा लाल दुसाला तोरे बदे' कहा जाता है। पश्चिमी भोजपुरी में हिन्दी भाषा के समान विशेषण-विशेष्य-लिंग, वचन और कारक के अनुसार बदलता रहता है। परन्तु आदर्श भोजपुरी में ऐसी बात नहीं पाई जाती है। पश्चिमी भोजपुरी में कहते हैं 'बड़े बेटे क इ घर; बड़ी बेटी; बीस बड़े-बड़े घर'। इस प्रकार विशेषण 'बड़ा' शब्द विशेष्य लिंग और वचन के अनुसार बदलता रहता है, परन्तु आदर्श भोजपुरी में 'नीमन बेटा-नीमन बेटी' या 'सुन्नर लड़का-सुन्नर लड़की' में नीमन और सुन्नर का रुप परिवर्तित नहीं होता। बलियाँ की बोली और बनारस की बोली में उच्चारण तथा रुपगत इतनी विभिन्नता है कि एक बार सुनने पर ही भेद स्पष्ट ज्ञात

हो जाता है। पश्चिमी भोजपुरी का उदाहरण– एक आदमी के दुइठे बेटवा रहलन। ओ में से छोटका अपने बाप से कहलेस ए बाबू! जौन कुछ माल असबाब हमरे बखरा में पडे तौन हमके दे द। तब ऊ आपन कमाई दूनों में बाँट दिहलेस। थोरिके दिन बितले लहुरका बेटवा सब माल समेट बड़ी दूर परदेश चल गएल और उहाँ सब धन लुचपन में फूँक दिहलेस। जब सब गवाँय चुकल तब ओहि देस में बड़ा काल पड़ल।

3. नागपुरिया– यह भोजपुरी की ही एक बोली है जो छोटा नागपुर में बोली जाती है। इस पर छत्तीसगढ़ी बोली का प्रभाव अधिक पड़ा हुआ है। नागपुरिया को सदान या सद्री नाम से भी जानते हैं और मुण्डा लोग इसे 'दिबुकाजी' कहते हैं। सद्री का अर्थ यहाँ की प्रादेशिक भाषा में 'बसे हुए' लोगों से है। अतः इस भाषा का सद्री नामकरण का कारण यही जान पड़ता है कि यह एक स्थान पर बसे हुए लोगों की भाषा है खानाबदोशों का नहीं। नागपुरिया आदर्श भोजपुरी से व्याकरण सम्बन्धी अनेक बातों में पार्थक्य रखती है। नागपुरिया बोली में संज्ञा की निश्चयात्मकता लाने के लिए 'हर' शब्द जोड़ा जाता है, तथा किसी संज्ञा का बहुवचन बनाने के लिए उसमें 'मन' प्रत्यय प्रयोग में लाया जाता है।

4. मधेसी– मधेसी शब्द संस्कृत के 'मध्यदेश' से निकला है, जिसका अर्थ है बीच का देश। यह बोली तिरहुत की मैथिली बोली और गोरखपुर की भोजपुरी मध्य प्रदेश में बोली जाती है। अत एव इसका नाम मधेसी पड़ गया। यह बोली चम्पारण जिले में बोली जाती है। यह प्रायः कैथी वर्णमाला में लिखी जाती है। मैथिली से इसमें अनेक बातों में समानता उपलब्ध होती है।

5. थारु - नेपाल की तराई में जो थारु लोग बसते हैं उनकी कोई अपनी भाषा नहीं है। जहाँ कहीं भी वे पाए जाते हैं वहाँ अपने आर्य पड़ोसियों की भाषा को पूर्ण रुप से अपना लेते हैं। ये थारु लोग बहराइच से चम्पारण जिले तक पाये जाते हैं और ये भोजपुरी की विकृत रुप वाली बोली बोलते हैं। यह विशेष उल्लेखनीय बात है कि गोण्डा और बहराइच जिले के थारु लोग भोजपुरी बोलते हैं, जबकि वहाँ की भाषा पूर्वी हिन्दी है।

भोजपुरी व्याकरण

भोजपुरी व्याकरण में विशेष अवस्थाओं को छोड़कर इसकी क्रिया का रुप कर्त्ता पर अवलम्बित रहता है। कर्म का कारण क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आदर्श भोजपुरी में उत्तमपुरुष एकवचन (मैं) का प्रयोग बहुत ही कम होता है। इसके स्थान पर सदा बहुवचन (हम) का ही प्रयोग होता है। लेकिन पश्चिमी भोजपुरी में ऐसी बात नहीं है। हाँ, आदर्श भोजपुरी में पद्यों में एकवचन का प्रयोग अवश्य मिलता है परन्तु वह भी बहुत कम। इसी प्रकार मध्यम पुरुष एकवचन का प्रयोग तिरस्कार सूचित करता है जैसे– तू बाड़। इसलिए इसके लिए भी बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। भोजपुरी में वर्त्तमानकालिक रुप एक विशेष प्रकार का होता है जो नेपाली के भविष्यकालिक रुप से समानता रखता है और जो स्वतः भविष्यकाल में प्रयुक्त भी होता है। यह वर्त्तमानकालीन धातु में 'ला' जोड़ने से बनता है। डॉ हार्नली के अनुसार इस 'ला' का अर्थ गया है, जो हिन्दी के भविष्यकालिक रुप गा की भाँति प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार हिन्दी में 'देखूँगा' और नेपाली

कारक	प्रत्यय	वाक्योदाहरण
कर्त्ता		राम गइलन, राम जातावन (जाताडन), राम जइहन आदि।
कर्म	के	राम आम किनलन। राम आम किनतावन, किनतबाडन आदि। *(भोजपुरी में जो शब्द कर्म का बोधक होता है उसमें कभी-कभी 'ए' जोडकर भी कर्म का वाचक होता है।* ***जैसे*** *—राम घरे गइलन। राम बने गइल बाडन)।*
करण	से, सतिर, संतिर, साथे, जोरे	राम से लेके दे द।राम सतिर/ संतिर सीता गइली। राम जोरे लछमनो गइलन।राम साथे हमुँ जाइब।
सम्प्रदान	लागि, वदे, ला, खातिर	अपने लागि फल ले आइल बानी। तोहरे वदे हम जा तानि। राम ला किताब ले जा। राम खातिर दशरथ प्राण त्यगलन।
अपादान	से, ले	घर से बन तक खोजनि कहुँ ना मिलल। धोबिया घाटे ले ले अइनि हँ।
सम्बन्ध	क, , कई	उ दीपनारायन क गइया हिय। रुबिया लइकवा किहाँ गइल बा। सुरेशवा कई भगिनवा आइल बा।
अधिकरण	में, पे	हम विद्यालय में कुरुसी पे झोरा रखले बानी।

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	हम जातानि/ जातबानि	हमनि / हमहन/ हमन जातानि/ जातबानि/जातबाडी/जातहईं/ जाथईं जा।
मध्यम पुरुष	तूँ जाताव/ जाताड, तें जातावे/ जाताडे	तूँ लोग/ तोहनि / तेहनि / तोहन लोग जाताव/ जातबाड/ जाताउ जा।
अन्य पुरुष	ऊ/ हऊ जातावन/ जाताडन/ जातबावन/ जातान/ जातहऊअँ	ऊ लोग/ हऊ लोग जातावन/ जाताडन/ जातबावन/ जातान/ जातहऊअन जा।
आदरार्थ	*इसमें एकवचन नहीं होता है।आदरार्थ में बहुसंख्यबोध लिए रउआ आदि साथ 'सभ या लोग' तथा अन्तिम में 'जा' जोड लेंगे।*	रउआ/ रउरा/ रवा/ रउआँ/ रवा जातानि/ जातबाडीं/ जातबानी

वर्त्तमानकाल

*बहुवचन के सभी क्रियावाचक शब्दों के साथ "**जा**" शब्द जुडेगा ।*

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	**पु.-** हम बाडीं/ बानी/ बाटीं/ बाईं/ हईं/ हनीं आदि। **स्त्री.**– वही।	**पु.**- हमनि के/ का बाडीं/ बानी/ बाटीं/ बाईं/ हईं/ हनीं आदि। **स्त्री.**– वही।
मध्यम पुरुष	**पु.** – तूँ बाड/ बाव/ बाट/ हड/ हव आदि। तें बाडे/ बावे/ बाटे/ हडे/ हवे/ हटे आदि। **स्त्री.** - तूँ बाडू/ बाऊ/ बाटू/ हडू/ हऊ आदि। तें बाइस/ बाटिस/ हईस आदि	**पु.** – तूँ लोग/ लोगन, तोहन लोग, तूँ सभ बाड/ बाव/ बाट/ हड/ हव आदि। तेंहनिसन बाडसन/ बावसन/ बाटसन/ हडसन/ हवसन/ हटसन आदि। **स्त्री.** - तूँ लोगिन/ तूँ लोग/ तूँ सभई बाडू/ बाऊ/ बाटू/ हडू/ हऊ। तेंहनिसन बाइसन/ बाटिसन/ हईसन/ बाऊसन आदि
अन्य पुरुष	**पु.** – उ/ हउ बाडन/ बाटन/ बावन/ बान/ हडन/ हवन आदि। **स्त्री.** – ऊ/ हऊ बिया/ बाडी/ बाटी/ बाई/ हई आदि।	**पु.**– उ लोग/ हउ लोग/ उ सभ/हउ सभ बाडन/ बाटन/ बावन/ बान/ हडन/ हवन। ओहनिके बाडसन/ बावसन/ बाटसन/ हडसन/ हवसन/ हटसन आदि। **स्त्री.** – ऊ लोग/ ऊ सभ/ हऊ लोग/ हऊ सभ बाडी/ बाटी/ बाई/ हई। ओहनिके बाइसन/ बाटिसन/ हईसन/ बाऊसन आदि।

भूतकाल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	**पु.**- हम रहीं/ रहलीं/ रहनीं आदि। **स्त्री.**– वहि।	**पु.**- हमनिके/ हमनिका/ हमन रहिं/ रहलिं/ रहनिं आदि। **स्त्री.**– वहि।
मध्यम पुरुष	**पु.**- तूँ रहल/ रह। तें रहस/ रहलस आदि। **स्त्री.**– तूँ रहू/ रहलू तें रहिस/ रहलिस आदि।	**पु.**- तूँ लोग/ लोगन, तोहनलोग/ तूँ सभ रहल/ रह। तें/ तोहनिके/ तोहनिका रहसन/ रहलसन आदि। **स्त्री.** – तूँ लोग/ लोगन, तोहनलोग/ तूँ सभ रहू/ रहलू। तें/ तोहनिके/ तोहनिका रहिसन/ रहलिसन/ रहूसन आदि।
अन्य पुरुष	**पु.**- उ/ हउ रहन/ रहलन/ रहे आदि। **स्त्री.**– ऊ/ हऊ रहे/ रही आदि।	**पु.**- उलोग/ हउलोग/ उसभ/ हउसभ रहन/ रहलन। ओहनिके रहसन/ रहलसन आदि। **स्त्री.** – ऊलोग/ हऊलोग/ ऊसभ रहि/ रहली। ओहनिके रहिसन/ रहलिसन आदि।

भविष्यकाल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	**पु.**- हम रहब/ रहम आदि। **स्त्री.**– वहि।	**पु.**- हमनिके/ हमनिका/ हमहन रहब/ रहम (रहबजाई/ रहलजाई) आदि। **स्त्री.**– वहि।
मध्यम पुरुष	**पु.**- तूँ रहब/ तें रहबे आदि। **स्त्री.** –तूँ रहबू/ रहबिस। तें रहबी/ रहबीस आदि।	**पु.**- तूँलोग/लोगन/ लोगिन/ सभ रहब/ रह। तोहनिके/ तेहनिके रहसन/ रहबसन आदि। **स्त्री.** – तूँलोग/लोगन/ लोगिन/ सभ रहबू/ रहू। तोहनिके/ तेहनिके रहसन/ रहबसन आदि।
अन्य पुरुष	**पु.**- उ/ हउ रहिहन/ रहि आदि। **स्त्री.**–ऊ/ हऊ रहिहन/ रही आदि।	**पु.**- उलोग/ हउलोग/ उसभ/ हउसभ रहिहन। ओहनिके/ होहनिके रहिहसन आदि। **स्त्री.**–वहि।

में 'देखूला' बोलते हैं उसी प्रकार भोजपुरी में 'देखीला' बोला जाता है। इसका व्यवहार प्रायः वर्त्तमानकाल में होता है।

भोजपुरी अपना निजी धातुरुप रखती है। जिस प्रकार मगही में 'ही' और मैथिली में 'छी' का प्रयोग होता है उसी प्रकार भोजपुरी में बाटी, बाड़ी, बानी का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं सहायक क्रियायों को अन्य धातुओं में जोड़कर क्रियायें बनाईं जातीं हैं।

भोजपुरी मे संज्ञा/कारक/क्रिया– भोजपुरी में प्रत्येक संज्ञा पद के तीन रुप होते हैं 1 लघु 2 दीर्घ 3 दीर्घतम। घोड़ा, घोड़वा, घोड़उवा, बेटा, बेटवा, बेटउवा, नाऊ, नऊवा, नऊअवा, बेटी, बेटिया, बेटियवा आदि। इनमें मूल या लघुरुप शब्दकोष में स्थान पाता है परन्तु दीर्घ और दीर्घतम जनता के मुख में निवास करता है। 'वा' स्वार्थिक प्रत्यय है। परन्तु कभी-कभी दूसरे योग से बने रुपों मे अर्थभेद भी पाया जाता है। भोजपुरी मे एकवचन से बहुवचन बनाने के लिये नि, न्ह या न जोड़ते हैं। जैसे घोड़ा से घोड़नि, घोड़न्ह या घोड़न रुप बनेंगे। इसी प्रकार घर से घरनि, घरन्ह या घरन बहुवचनान्त रुप बनेंगे। कभी-कभी समूह सूचक 'लोग' और 'सभ' शब्दों के योग से भी बहुवचन बनाया जाता है। जैसे राजा से राजा लोग या राजा सभ। इसी प्रकार आदमी से आदमी लोग या आदमी सभ।

विभिन्न कारक रुपों को बनाने के लिए अनेक प्रत्यय जोड़ने की व्यवस्था है। भोजपुरी भाषा में कर्तृ कारक का कोई विशेष प्रत्यय या चिह्न नहीं दिखता।

इनके अतिरिक्त करण और अधिकरण के लिए 'एँ' और 'ए' प्रत्यय शुद्ध कारक प्रत्यय है। जिनके पहले आ का लोप हो जाता है। परन्तु अन्तिम 'ई' या 'उ' को ह्रस्व बना दिया जाता है। जैसे– घोड़ा से घोड़ें, घोड़े और माली से मलिएँ, मलिए। सम्बन्ध कारक में 'क' पर प्रत्यय जोड़ने के पूर्व अन्तिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर देते हैं। जैसे– घोड़ा = घोड़क। परन्तु यदि कोई संज्ञा शब्द व्यञ्जनान्त होता है तो 'क' जोड़ने से पूर्व उसमे 'अ' जोड़ते हैं। जैसे घर से घरक। सम्बन्ध कारक बनाने के लिए कहीं-कहीं 'का' प्रत्यय भी जोड़ते हैं। जैसे राजा का मन्दिर में। घोड़ क पोंछ में। घर क देवाल में। हमनि काहाँ।

भोजपुरी भाषा में प्रायः उत्तमपुरुष एकवचन के बदले बहुवचन ही प्रयुक्त किया जाता है। भोजपुरी में प्रायः सभी पुरुषों में सर्वनाम सूचक शब्द है। इन सर्वनामों में द्विवचन के लिए सर्वनामवाचक शब्द के साथ 'दुनों' शब्द जोड़कर प्रयोग होता है। सर्वनामों के रुप भिन्न-भिन्न कारकों में बदले जाते हैं। जैसे– हमार घर ह। हमरा खातिर बा। तोहार विद्यालय ह। उनकर खेत ह। राउर कपड़ा ह, आदि। सहायक क्रिया और सत्ता सूचित करने के लिए भोजपुरी भाषा में तीन धातु हैं। बाड़/ बाड़ी/ बाटीं/ बानी/ बाईं, हड़े/ हड़/ हटीं/ हड़ीं/ हनीं और रहन/ रहलन/ रहिहन/ रहस/ रहली/ रहलू/ रहे आदि। मध्यम पुरुष अथवा अन्य पुरुष में बहुवचन अथवा आदर दिखाने के लिए ला/ ली/स आदि क्रिया में जोड़कर प्रयोग करते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज।
2. रैमन – सेर मुतावेरिन, अनुवाद, द्वितीय संस्करण, अनुवाद की भूमिका पृ. 6
3. Journal of Royal Asiatic Society, part-3 pp. 483-508 Notes on the Bhojpuri Dialects of Hindi Spoken in Western Bihar.
4. दुर्गा प्रसाद सिंह लोकगीत भूमिका पृ. 1
5. Asiatic Society of Bengal, year 1871, page 3-129
6. आइने अकबरी, भाग–1 (1531)।
7. ऐतरेय ब्राह्मण 8;14।
8. लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग-1, सप्लिमेण्ट-2, पृ. 22, भाग-5, पार्ट-2, पृ. 47 की अतिरिक्त टिप्पणी।
9. श्यामसुन्दर दास भाषा विज्ञान पृ. 133,150,151।
10. लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग-5, पार्ट 2 पृ. 248।

कथा संरचना की दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण एवं श्रीरामचरितमानस के 'सुन्दरकाण्ड' का तुलनात्मक विवेचन

रामयश पाण्डेय एवं प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय***

कथा संरचना दो पदों से मिलकर बना है-एक कथा एवं दूसरा पद संरचना। कथा पद संस्कृत के कथ् धातु से निर्मित है। इसका अर्थ 'कहना' है।[1] प्राचीन काल से ही मनुष्य कथा को कहने एवं सुनने लगा था। प्रो. गोपाल राय ने लिखा है कि ''मौखिक रूप में कथा कितनी आदिम है इसका इतिहास उपलब्ध नहीं है। यह अत्यन्त प्राचीन है, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि आज भी वह मनुष्य की सहज और जन्मजात प्रवृत्ति से जुड़ी हुई है। कदाचित् मनुष्य के जन्म के साथ ही कथा का जन्म हो गया था।''[2] मनुष्य के जन्म के साथ कथा का जन्म भले ही हो गया हो पर कथा सुनने और कहने का आरम्भ मानव की चेतना के विकास के इतिहास के साथ ही हुआ होगा। नृतत्त्वशास्त्रियों ने आदिम मनुष्य की प्राप्त खोपड़ियों के अध्ययन से पता लगाया कि पुरापाषाण काल का मनुष्य कथा कहने, सुनने लगा था।[3] भारतीय परम्परा में सबसे पहले कथा कहने वाले भगवान शिव हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में शिव को वक्ता के रूप में व्यक्त किया है। कथा कहने की परम्परा बहुत पहले से पक्षियों द्वारा रही है। श्रीमद्भागवत में शुकदेव, कादम्बरी में वैशम्पायन, पंचतंत्र में तो पशु पक्षी कथा के प्रमुख पात्र ही हैं। रामचरित मानस में तुलसी दास जी ने स्रोता-वक्ता में गरुड़ और काक भुशुण्डि को भी रखा है, जो पक्षी हैं।[4] कथा कहने सुनने की मौखिक प्रक्रिया से जब आगे बढ़ती है और लेखन के क्षेत्र में आती है, तब 'कथानक' का निर्माण होता है। कथा को कथानक बनने में समय लगता है। **ई0 एम0 फोर्स्टर** ने कहा है ''कथा अपने शुद्ध और मूल रूप से समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं का विवरण मात्र है।[5] कौतूहल ही कथा का प्राण तत्व है।[6] कथानक कथा की विशिष्ट योजना एवं नवीन विन्यास है।[7] कथा अथवा कथानक में विषयवस्तु को प्रस्तुत करने की क्षमता होती है। कथा हमारे सामने विषय को रखती है। विषय वस्तु कथा अथवा कथानक का मूल है। जिसका विषय ज्ञात या सत्य हो उसे आख्यायिका कहते हैं। कथा वह कथा है जिसका विषय काल्पनिक हो, सत्य जिसमें अल्प ही हो।[8]

विषय से अलग संरचना की कल्पना सम्भव नहीं। संरचना का अस्तित्व विषय सापेक्ष होता है।[9] वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं से साहित्य सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ कला है। संरचना पद का प्रयोग स्थूल कलाओं के लिए निःसंदेह किया जा सकता है पर यही बात साहित्य के लिए हूबहू नहीं कही जा सकती। रूप, ढांचा, आकल्पन, बनावट, स्थापत्य, शिल्प, संरचना आदि पदों का प्रयोग वास्तु मूर्ति और चित्र के लिए तो किया जा सकता है पर साहित्य के लिए इन पदों का प्रयोग संकोच के साथ ही किया जा सकता है। कारण यह कि साहित्य की संरचना ''मानसिक प्रत्यक्षीकरण का विषय है, जो गतिमान बिम्बों के जुलूस के रूप में अस्तित्व ग्रहण करता है।''[10] पर्सी लब्बाक जैसे उपन्यास साहित्य के ख्यात विद्वान भी मानते हैं कि कोई आलोचक यह दावा नहीं कर सकता कि वह इनमें से किसी पद विशेष के प्रयोग द्वारा उपन्यास की बनावट को पूर्णतः द्योतित कर पाता है।[11] चूँकि साहित्य की बनावट अथवा कथा की बुनावट के लिए कोई सटीक पद या शब्द नहीं मिल रहा है, जिससे की बनावट या बुनावट द्योतित हो सके अतः ऐसी स्थिति में हम संरचना पद को ही ग्रहण करते हैं।

महाकाव्य की कथा संरचना का स्वरूप एवं उसके प्रमुख घटक तत्व

महाकाव्य में मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथा का संयोग किया जाता है। आचार्य दण्डी ने सर्वत्र भिन्न वृत्तांतों के नियोजन की बात कही है।[12] इसी प्रकार आचार्य रूद्रट ने भी महाकाव्य में मुख्य कथा के अन्तर्गत अवान्तर प्रकरणों की रचना आवश्यक मानी है।[13] आचार्य धनंजय ने उपर्युक्त मुख्य कथा एवं अवान्तर कथाओं को आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा के नाम से अभिहित किया है। उनके विचार से आधिकारिक कथा वस्तु नायक के जीवन प्रवाह से साक्षात् सम्बन्ध रखती है इसलिए वह मुख्य होती है। प्रासंगिक कथा वस्तु उससे दूरान्वय से सम्बन्ध रखती है, अतः वह गौण होती है।[14] प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौंदर्य वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापार के विकास में सहायता देना है।[15] कथावस्तु के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता होती है उन्हें अर्थ प्रकृति कहा जाता है। अर्थ प्रकृति शब्द का अर्थ है– प्रयोजन सिद्धि का मूल कारण– **'अर्थस्य प्रयोजनस्य सिद्धि प्रकतिः मूलकारणम्।'** [16]

प्रयोजन की सिद्धि के लिए क्रमशः बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक अर्थ प्रकृतियों का अवलम्बन करके ही कथावस्तु की संरचना होती है। काव्य में जिसका पहले अत्यल्प कथन किया जाय किन्तु जो आगे चलकर अनेक रूपों में विस्तार पाए उसे बीज

*शोध छात्र हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी।
**प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी।

नामक अर्थ प्रकृति कहते हैं।[17] आचार्य धनंजय ने लिखा है कि अवान्तर कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है उसे बिन्दु कहते हैं।[18] पताका और प्रकरी नामक दोनों अर्थ प्रकृतियाँ अवान्तर कथाओं से सम्बन्धित हैं। अवान्तर कथाएँ ही नाट्यशास्त्र में प्रासंगिक कथा कहलाती हैं। वे ही पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो प्रासंगिक कथा मूल कथा में दूर तक चलती रहती है, सानुबन्ध होती है– उसे पताका कहते हैं और जो केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है उसे प्रकरी कहते हैं।[19] कार्य के लिए साहित्य दर्पण में कहा गया है- जो प्रधान साध्य होता है, जिसकी सिद्धि के लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाता है, जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री एकत्रित की जाती है, उसको कार्य नामक अर्थ प्रकृति कहते हैं।[20]

कथा का मुख्य प्रयोजन सिद्ध करने वाली पाँच प्रकार की अर्थ प्रकृतियाँ जिस तरह उपादेय होती हैं उसी तरह मुख्य प्रयोजन की सिद्धि को पाँचों अवस्थाओं में बांटने से कथा का विकास और भी अधिक रोचक हो जाता है। नाट्यशास्त्र में ये पाँच अवस्थाएं आरम्भ, यत्न, प्रात्याशा, नियताप्ति और फलागम के नाम से प्रसिद्ध हैं।[21] इन पाँचों अवस्थाओं से हटकर सहसा किसी अदभुत उपाय के द्वारा फल प्राप्ति या मुख्य प्रयोजन की सिद्धि प्रस्तुत करने पर कथावस्तु की रोचकता तत्काल समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार सुग्रीव वृत्तान्त पताका एवं त्रिजटा प्रसंग प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियाँ हैं, उसी प्रकार हनुमान जी का लंका के लिए उद्यत होना– प्रारम्भ, समुन्द्र लंघन-यत्न, सीता को लंका में ढूँढ़ना-प्राप्त्याशा, विभीषण द्वारा सीता का पता चलना-नियताप्ति और सीता से मिलकर भगवान राम को सीता का संदेश प्रदान करना-फलागम नामक कार्यावस्थाएं हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने महाकाव्य की कथावस्तु के समुचित विकास के लिए उसमें नाटकीय पंच संधियों की योजना भी आवश्यक मानी है। संधि योजना रसाभिव्यक्ति के लिए परमावश्यक है।[22] भामह, दण्डी, रूद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ आदि प्रमुख आचार्यों ने महाकाव्य की कथावस्तु में नाटकीय पंचसधियों का होना एक प्रकार से अनिवार्य घोषित किया है[23], वे हैं-मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।

वाल्मीकि रामायण के 'सुन्दरकाण्ड' की कथा संरचना

आदि कवि वाल्मीकि ने सुन्दरकाण्ड की कथा का प्रारम्भ हनुमान जी के उत्साहपूर्वक लंका की दिशा में प्रस्थान करने से किया है। महाबलशाली परम पराक्रमी हनुमान जी ने महेन्द्र नामक पर्वत को अपनी दोनों भुजाओं एवं चरणों से उछलने के लिए दबाया (बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्)।[24] फिर तो महेन्द्र पर्वत पर रहने वाले जीव जन्तुओं वनस्पतियों की क्या दशा हुई इसे बाल्मीकि जी ने बिस्तार से बताया है कि उस पर्वत पर उपस्थित वनस्पतियां एवं वृक्ष आदि उखड़-पुखड़ कर गिर गए और जब हनुमान जी उड़े तो न जाने कितने वृक्ष उड़कर उनके पीछे-पीछे दूर तक चलते गए। समुद्र के ऊपर से उड़ते हुए हनुमान जी को देवताओं, गंधर्वों चारणों ने देखा और वे उनके ऊपर फूलों की वर्षा करने लगे।[25] समुद्र भी जल के भीतर स्थित मैनाक पर्वत से कहा कि हनुमान जी को थोड़ा विश्राम करने का अवसर दो तत्पश्चात् वे शेष मार्ग को सुखपूर्वक तय कर लेंगे।[26] समुद्र की आज्ञा पाकर जल में छिपा रहने वाला वह मैनाक पर्वत ऊपर की दिशा में बाहर आ गया।[27] हनुमान जी उस पर्वत को सहसा देखकर समझ गए कि यह कोई विघ्न आ गया है। मैनाक ने मनुष्य रूप धारण कर हाथ जोड़े हनुमान जी से प्रार्थना किया कि आप थोड़ी देर के लिए विश्राम कर लें। हनुमान जी ने कार्य की शीघ्रता को बताते हुए मैनाक को हाथ से सादर स्पर्श किया और उसे आश्वस्त करते हुए आगे बढ़ गए। तब देवता गंधर्व सिद्ध और महर्षियों ने सूर्य तुल्य तेजस्विनी नागमाता सुरसा से कहा कि हनुमान जी समुद्र के ऊपर से जा रहे हैं तुम (सुरसा) दो घड़ी के लिए इनके मार्ग में विघ्न डाल दो।[28] सुरसा ने वही किया। राक्षसी का वेश बनाकर मुँह फैलाए हनुमान जी के सामने खड़ी हो गई और बोली देवताओं ने तुम्हे (हनुमान जी) आहार स्वरूप भेजा है। सुरसा जितना मुख फैलाती जाती थी हनुमान जी भी उतने बड़े हो जाते। दस योजन से लेकर अस्सी योजन तक मुख का विस्तार और हनुमान जी के 90 योजन हो जाने पर सुरसा ने सौ योजन का मुख बना लिया।[29] तत्पश्चात् बुद्धिमान हनुमान जी ने सुरसा के मुँह में उसी क्षण अंगूठे के समान लघु रूप धारण कर प्रवेश किया और तुरन्त बाहर आ गए। उससे विदा लेने के पश्चात् हनुमान जी आगे बढ़े।

हनुमान जी की परछायीं को पकड़कर सिंहिका नाम की राक्षसी उनकी ओर दौड़ी चली आ रही थी। हनुमान जी ने अविलम्ब अपना शरीर मेघ के समान विशाल कर लिया। सिंहिका अपना विशाल मुँह फैलाकर ग्रसने के लिए आगे बढ़ी। हनुमान जी संकुचित होकर उसके मुख में प्रविष्ट हो गए उसके शरीर के भीतर जाकर उसे मारकर वे बाहर आ गए। सिंहिका बध करने के पश्चात् हनुमान जी समुद्र के ऊपर से उड़ते हुए समुद्र के पार पहुँच गए। समुद्र के दक्षिणी तट पर मलय पर्वत और उसके उपवन दिखाई दिए। वहाँ से उन्होंने लंका नगरी को देखा जो एक श्रेष्ठ पर्वत के शिखर पर बसी हुयी थी।

हनुमान जी उसी पर्वत पर उतर गए। त्रिकूट (लम्ब) नामक पर्वत पर खड़े होकर उन्होंने लंका की शोभा देखी। रात के समय में वे बिल्ली की भांति लघु रूप में लंका में प्रवेश किए। पुरी मे प्रवेश करते ही वहाँ की अधिष्ठात्री देवी लंका ने अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट होकर उन्हें देखा।[30] लंका द्वारा रोके जाने एवं एक थप्पड़ मारे जाने के बाद हनुमान जी ने उसे एक मुक्का मारा और वह प्राण की भीख माँगते हुए हनुमान जी से बताई कि ब्रह्मा जी द्वारा उसे वरदान मिला था कि जब कोई वानर ऐसा करेगा तो समझ लेना कि राक्षसों के विनाश का समय आ गया है। इस प्रकार हनुमान जी लंकापुरी

में प्रवेश कर जाते हैं। सीता का पता लगाने के लिए हनुमान जी रावण के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं और वहाँ सीता को न पाकर दुःखी हो जाते हैं। तत्पश्चात् वे राक्षसों के घरों में भी सीता जी को खोजते हैं। इसी क्रम में वे रावण के घर में भी सीता को खोजते हैं। फिर वे रावण के पुष्पक विमान को देखते हैं। पुनः रावण के अन्तः पुर में प्रवेश करके हनुमान जी रावण की स्त्री मन्दोदरी को सोई हुयी सीता समझ कर क्षण भर के लिए प्रसन्न हो जाते हैं पर वह सीता नहीं है ऐसा अनुभव होने पर पुनः सीता की खोज में जुट जाते हैं। सीता जी के न मिलने पर हनुमान जी सीता मरण की आशंका से व्यथित हो जाते हैं, पुनः उत्साह का आश्रय लेकर खोज में लग जाते हैं। इसी क्रम में वे अशोक वृक्ष पर छिप कर सीता को देख लेते हैं। वह अत्यन्त दयनीय अवस्था में पड़ी हुई हैं। उसी समय रावण अपनी स्त्रियों के साथ वहाँ पहुँचता है। रावण सीता को दो माह का समय देता है। सीता उसे फटकारती हैं फिर रावण उन्हें धमकाकर स्त्रियों के साथ लौट जाता है।

राक्षसियों द्वारा मारने काटने की धमकी और सीता जी का विलाप हनुमान जी वहीं छिपकर देख रहे थे। उसी समय त्रिजटा अपने सपने की बात बताती है। जिसमें रघुनाथ जी के विजय की शुभ सूचना है और राक्षसों के विनाश की बात है। राक्षसियों के चले जाने पर हनुमान जी राम कथा का वर्णन करते हैं। जिसे सीता जी सुनकर तर्क वितर्क करने लगती हैं। सीता जी रोने लगती हैं। हनुमान जी उनके पास पहुँच जाते हैं। सीता जी को विश्वास दिलाने के लिए कि वे नर-वानर मित्रता का पूरा वृत्तान्त बताते हैं फिर मुद्रिका देते हैं। वहाँ से विदा लेते हुए हनुमान जी चूड़ामणि लेकर और सीता जी को वानरों के पराक्रम के विषय में आश्वासन देते हैं। तत्पश्चात् अशोक वाटिका का विध्वंश कर देते हैं और पकड़े जाने पर लंका दहन कर देते हैं। पुनः सीता जी से मिलकर समुद्र पार करके जाम्बवान आदि से मिलकर सीता के बारे में बताते हैं। समाचार के पश्चात् वानरों का मधुबन में उत्पात मचाना और यह सुनकर सुग्रीव का अनुमान करना कि हनुमान जी सीता का पता लगा आये हैं। तत्पश्चात् हनुमान जी श्रीरामचन्द्र जी को सीता का समाचार सुनाते हैं। चूड़ामणि को देखकर भगवान श्रीराम विलाप करने लगते हैं। हनुमान जी सीता जी के संदेह और अपने द्वारा उनके निवारण का वृत्तांत बताते हैं।

'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड की कथा संरचना

जाम्बवान के सुन्दर वचनों को सुनकर हनुमान जी ने कहा कि हे भाइयों। तुम लोग दुःख सहकर कन्दमूल फल खाकर तब तक मेरी राह देखना जब तक मैं सीता जी को देखकर लौट न आऊँ।[31] ऐसा कहकर और श्रीरामचन्द्र जी को हृदय में रखकर हनुमान जी भगवान राम के अमोघ बाण की भांति चल पड़े। समुन्द्र की आज्ञा पाकर मैनाक पर्वत विश्राम देने के लिए हनुमान जी से आग्रह किया पर हनुमान जी ने रामकाज का हवाला देकर उसे हाथ से छू भर दिया और फिर चल पड़े। देवताओं ने हनुमान जी के विशेष बुद्धि एवं बल की परीक्षा लेने के लिए साँपों की माता सुरसा को भेजा। हनुमान जी ने उससे कहा ''हे माता! रामकाज करने के पश्चात् मैं स्वयं तुम्हारे मुँह में पैठ जाऊँगा अभी मुझे जाने दो।'' अपनी बुद्धि चातुर्य से हनुमान जी सुरसा के मुँह में पैठकर फिर बाहर आकर चल दिये। सिंधु में एक निसचरि रहती थी। उसने हनुमान जी की परछाँई को पकड़ लिया, फिर क्या था हनुमान जी उसे मारकर समुद्र के पार पहुँच गए। एक पर्वत पर चढ़कर उन्होंने लंका नगरी को देखा जो बहुत सुन्दर थी जिसकी शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह नगरी रखवालों से घिरी हुई थी। हनुमान जी ने विचार किया कि रात में छोटा रूप धारण कर नगर में प्रवेश करूँगा। वे मच्छर के समान छोटा रूप धारण कर नर रूप से लीला करने वाले भगवान श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करके लंका को चल देते हैं।[32] उसी समय लंका के द्वार पर लंकिनी नाम की एक राक्षसी रहती थी। उसने हनुमान जी को रोका। हनुमान जी ने एक घूंसा मारा जिससे वह खून की उल्टी करती हुई पृथ्वी पर लुढ़क गई।[33] तत्पश्चात् हनुमान जी अति छोटा रूप धारण कर भगवान का स्मरण कर नगर में प्रवेश किए। यहाँ तक की कथा संरचना लगभग वाल्मीकि रामायण की हैं यहाँ से कथा संरचना में कुछ परिवर्तन होता है। सीता की खोज में उन्होंने प्रत्येक महल की खोज की। हनुमान जी ने रावण को सोया हुआ देखा। पर वहां सीता जी नहीं थीं। पुनः वह दूसरे भवन की ओर गए जो भिन्न प्रकार का बना था। तुलसी के पौधे भी वहाँ थे। वह भवन विभीषण का था। उसी समय विभीषण जी जाग गए। बातचीत में सीता जी का हाल हनुमान जी को पता चला। हनुमान जी ने सीता को देखने की इच्छा प्रकट की। विभीषण जी ने युक्तियाँ बताईं और हनुमान जी उनसे विदा लेकर और फिर पहले का (मसक-सरीखा) रूप धर कर वहाँ गए, जहाँ अशोक वन में सीता जी रहती थीं। सीता जी को देखकर मन ही मन हनुमान जी ने प्रणाम किया। जानकी जी को दुःखी देखकर हनुमान जी बहुत दुःखी हो गए। हनुमान जी वृक्षों के पत्तों में छिपकर विचार कर रहे हैं कि क्या करूँ, उसी समय बहुत सी स्त्रियों को साथ लिए सजधज कर रावण वहाँ आया। उसने सीता जी को बहुत प्रकार से समझाया साम, दाम, भय, भेद सब दिखाया पर सीता जी तिनके की आड़ से उसे फटकारती रहीं (तृण धरि ओट कहत वैदेही) मर्यादा की रक्षा के लिए वह सीधे रावण से बात नहीं करती हैं। इस पर रावण मारने के धमकी देकर एक महीने का समय देकर चला जाता है। राक्षसियों द्वारा सीता को परेशान करने पर त्रिजटा ने अपने देखे हुए सपने की बात बताई। इस पर सब डर गईं और सीता जी का पैर छूने लगीं। सीता जी त्रिजटा से चिता सजाने और उसी पर अपने जल जाने की बात कहती हैं। वे अशोक वृक्ष से अंगार माँगती हैं। त्रिजटा और राक्षसियों के चले जाने पर हनुमान जी

ने अँगूठी सीता जी के सामने डाल दी। अशोक ने मानों अंगार दे दिया ऐसा समझकर सीता जी उसे उठा लेती हैं। अँगूठी को पहचान कर सीता जी आश्चर्य में पड़ जाती हैं। उसी समय हनुमान जी रामकथा आदि से अन्त तक कहने लगते हैं। सीता जी के कहने पर हनुमान जी प्रकट होते हैं और अपना परिचय देते हैं। सीता जी को विश्वास दिलाते हैं कि वे रामचन्द्र जी के दूत हैं। हनुमान जी कहते हैं कि माता मन छोटा न करें भगवान राम के मन में आप से दूना प्रेम हैं। श्रीरामचन्द्र जी को यदि आप का समाचार मिला होता तो वे विलम्ब नहीं करते। हनुमान जी ने अपना विशाल शरीर दिखाया तब जाकर सीता जी को विश्वास हुआ कि बानर भी बड़े बलशाली हैं। सीता जी से हनुमान जी कहते हैं कि हे माता मुझे अतिसय भूख लगी है सीता जी से आज्ञा लेकर वे अशोक वन में जाकर फलों को खाने लगते है एवं वृक्षों की डालियों को भी तोड़ने लगते हैं। तत्पश्चात रावण के द्वारा भेजे गए अक्षय कुमार समेत अनेक राक्षसों का बध कर देते हैं। मेघनाथ से भी लड़ाई हुई। ब्रह्मअस्त्र की महिमा रखने के उद्देश्य से हनुमान जी मेघनाद द्वारा बाँध लिए गए और रावण के दरबार में पेश किये गये।

रावण के पूछने पर हनुमान जी ने पूरी बात बताई और यह भी बताया कि वे श्रीराम जी के दूत हैं। हनुमान जी ने रावण को बहुत समझाया पर उसने उन्हें मारने का आदेश दे दिया। विभीषण ने नीति विरूद्ध कार्य न करने की प्रार्थना की इस पर हनुमान जी की पूँछ में आग लगा दी गयी। फिर क्या था उन्होंने उलटि पलटि लंका सब जारी। पुनः सीता जी के सामने प्रस्तुत हो गए और उनसे चिह्न माँगे। चूड़ामणि लेने के बाद वे सीता जी को धीरज रखने को कह कर वापस चल पड़े। उन्होंने समुद्र के इस पार आकर वानरों को हर्ष ध्वनि सुनाया। वानरों को लगा कि उन लोगों ने नया जन्म पाया है। सब लोग मधुबन के भीतर आये, फलों को खाए। रखवालों को मारे पीटे भी। रखवाले जाकर सुग्रीव को बताये कि अंगद बन को उजाड़ रहे हैं। यह सुनकर सुग्रीव हर्षित हुए कि वानर प्रभु का कार्य कर आए हैं। सब वानरों के साथ सुग्रीव स्फटिक की शिला पर बैठे दोनों भाई श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण के पास जाते हैं। हनुमान जी द्वारा समाचार एवं चूड़ामणि को पाकर और सीता जी का दुःख सुनकर श्रीरामचन्द्र के आँखों में जल भर आया। वे हनुमान जी से कहने लगे कि हे पुत्र सुन मैंने मन में खूब विचार करके देख लिया है कि मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता।[34]

भगवान राम ने सुग्रीव को बुलाया और कहा कि चलने की तैयारी करो। इस पर वानर भालुओं में हर्ष का संचार हो गया। युद्ध के लिए सब चल दिए। उधर लंका में रावण की पत्नी मंदोदरी अकेले में हाथ जोड़कर रावण को समझाती रही। इसी क्रम में विभीषण भी समझाने के लिए आए। रावण ने उनकी एक न सुनी वरन् उनको लात मारकर भगा दिया। विभीषण समुद्र के इस पार आकर भगवान राम की शरण स्वीकार करते हैं। तत्पश्चात भगवान राम समुद्र से रास्ता मांगते हैं। और समुद्र नील, नल के रूप में उपाय सुझाता है।

सुन्दरकाण्ड की द्वय कथा संरचनाओं का तुलनात्मक विवेचन

आदि कवि वाल्मीकीय रामायण की कथा को आधार स्वरूप ग्रहण करने के बावजूद महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने युग की आवश्यकतानुसार संग्रह-त्याग का परिचय देते हुए कथा में मौलिक एवं सार्थक परिवर्तन किया है। सुन्दरकाण्ड की कथा को ही यदि हम लेते हैं तो दोनो कवियों की कथा संरचना में अंतर स्पष्ट हो जाता है। आदि कवि ने घटनाओं को जहाँ अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया है वहीं गोस्वामी जी ने संयमित ढंग से घटनाओं का वर्णन किया है। आदि कवि द्वारा कथा में अत्यधिक विस्तार देने से कथा का प्रवाह शिथिल हो गया है। गोस्वामी जी ने कथा का उतना ही विस्तार किया है जितनी आवश्यकता है। इसलिए उनके यहाँ कथा में प्रवाह एवं रोचकता बनी हुई है, जो आज के पाठकों के मनोभाव के अनुकूल है।

सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में ही हनुमान जी के महेन्द्र पर्वत से छलांग लगाने का वर्णन वाल्मीकि जी ने अत्यधिक विस्तार से किया है। पाठक को अत्यधिक विस्तार से अरुचि होने लगती है। विद्वानों के अनुसार रस में बाधा भी आती है। हनुमान जी के लंका में प्रवेश करने, लंका की शोभा एवं भवनों का वर्णन भी वाल्मीकि जी के यहां अत्यधिक विस्तार पा गया है। जब कि गोस्वामी जी ने संक्षेप में उक्त प्रसंगों को वर्णित कर कथा में रोचकता और कौतूहल को बनाए रखा है। सीता को ढूँढने के लिए हनुमान जी द्वारा समस्त लंकापुरी का गहन निरीक्षण एवं प्रत्येक राक्षसों के घरों के भीतर का वर्णन भी वाल्मीकि ने अति विस्तार से किया है। गोस्वामी जी द्वारा संक्षेप में ही बड़ी कुशलता के साथ विभीषण का प्रसंग लाकर उनके द्वारा सीता का पता हनुमान जी को बता देना कवि कौशल एवं उनकी मौलिक सूझ-बूझ का परिचायक है। उसी प्रकार से हनुमान जी का मुद्रिका सीता के सामने डाल देना और उन्हें आश्चर्य चकित कर देना कवि की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। जबकि वाल्मीकि जी के हनुमान पूरी रामकथा कहने एवं सीता से मिलकर अपना परिचय देने के बाद मुद्रिका देते हैं। वाल्मीकि जी के यहाँ हनुमान जी चूड़ामणि को पहले ही ले लेते हैं जबकि मानस में अशोक वन विध्वंस और लंका दहन के उपरान्त सीता से हनुमान जी कहते हैं-'मातु मोहि दीजै कछु चीह्ना। जैसे रघुनायक मोहि दीह्ना।।'– वाल्मीकि जी के हनुमान द्वारा चूड़ामणि को लंका दहन के पहले ही ले लेना औचित्यपूर्ण नहीं लगता। लंका दहन के समय अथवा अशोकवन विध्वंस के समय

चूड़ामणि खोने का भी डर बना रहता, इसलिए तुलसीदास के हनुमान अशोकवन विध्वंस एवं लंका दहन के पश्चात् सीता से चूड़ामणि लेते हैं। रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड में पुष्पक विमान नहीं है, जबकि वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में पुष्पक विमान का विस्तृत वर्णन हुआ है। सुन्दरकाण्ड में पुष्पक विमान के वर्णन का औचित्य नहीं बनता। तुलसीदास जी ने संग्रह त्याग के विवेक का परिचय देते हुए मानस के सुन्दरकाण्ड से पुष्पक विमान प्रकरण को छोड़कर दिया है।

विभीषण प्रकरण,समुद्र प्रसंग वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में वर्णित नहीं है। जबकि मानस के सुन्दरकाण्ड में दोनों प्रकरण उपस्थित हैं। दोनों प्रसंग भगवान राम के भक्तवत्सलरूप को उद्घाटित करते हैं। तुलसीदास भक्त कवि हैं उक्त दोनों प्रसंगों में उनकी भक्ति भावना प्रदर्शित होती है।

लंकाकाण्ड का नाम वाल्मीकि रामायण में युद्धकाण्ड है। वहाँ युद्ध का प्रमुखता से वर्णन है। इसीलिए तुलसीदास जी ने समुद्र प्रकरण और विभीषण प्रकरण को लंकाकाण्ड के अन्तर्गत न लेकर सुन्दरकाण्ड के अन्तर्गत लिया है। दोनों प्रसंग भगवान राम की भक्ति एवं उनके भक्तवत्सल रूप को प्रकट करते हैं।

सुरसा प्रसंग दोनों में है पर मानस के हनुमान जी उसे 'माई' कहकर सम्बोधित करते हैं। (सत्य कहहु मोहि जान दे माई) वाल्मीकि के अनुमान जी उसे देवि कहते हैं। सुरसा को माई कहना हनुमान जी के (प्रकारान्तर से गोस्वामी जी के) नारी मानोविज्ञान को दर्शाता है। कोई भी स्त्री माता कहे जाने पर शीघ्र ही द्रवित हो जाती है। यहाँ पर तुलसीदास की मर्यादावादी दृष्टि भी प्रदर्शित होती है। स्त्री का सबसे मर्यादित रूप 'माता' है। हनुमान जी की बुद्धि का परिचय इस सम्बोधन (माई) से पता चलता है जो देवताओं का अभीष्ट है। मानस का रावण सीता को एक महीने का समय देता है– 'मास दिवस महुँ कहा न माना'– जबकि रामायण का रावण दो मास का समय सीता को देता है। जो कार्य वाल्मीकि के राम दो माह में करते हैं, उसी कार्य को तुलसी के राम एक माह में करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि के राम से तुलसी के राम अधिक समर्थ एवं शक्तिशाली हैं। सीता हनुमान से कहती हैं कि 'मासदिवस महु नाथ न आवा। तौ पुनि मोहिं जियत नहिं पावा।' अर्थात् एक माह के भीतर ही भगवान श्रीराम यदि सीता को लेने लंका नहीं आते हैं तो वे सीता को जीवित नहीं पाएंगे। इस पर हनुमान जी उनको अश्वासन देते हैं। राक्षसियों से घिरी सीता से बात करने के विषय में वाल्मीकि के हनुमान तर्क करते हैं कि-कहीं राक्षसियों ने मुझे मार दिया तो राम के कार्य का क्या होगा और कहीं यदि मैं सीता को देखकर ही; बिना बात किए ही लौट जाऊँ तो भगवान राम को क्या संदेश दूँगा– इस तरह से संशय भरे तर्क तुलसी के हनुमान नहीं करते, वे अधिक आत्मविश्वासी एवं शक्तिशाली हैं।

विभीषण प्रसंग राम की शरणागत की रक्षा करने वाले गुण को प्रकाशित करता है। हनुमान ने विभीषण के मन से संशय/शंका को निकाल कर राम के प्रति दृढ़ भक्ति भाव का संचार किया। हनुमान-विभीषण मिलन के समय दोनों भक्तों के अहं का विलयन देखते बनता है। मुद्रिका प्रसंग सीता की विह्वलता को उत्कट रूप में प्रदर्शित करता है। अंगार माँग कर आत्महत्या करने को उद्यत सीता के प्रति पाठक के मन में अपार करूणा एवं श्रद्धा का संचार होता है।

तुलसीदास द्वारा रचित हनुमान का लघु रूप से विराट रूप में सीता के सामने प्रकट होना संशयग्रस्त सीता को दृढ़ आश्वासन देता है। वाल्मीकि के हनुमान से तुलसी के हनुमान अधिक बुद्धिमान हैं। वे सोयी हुयी मंदोदरी को सीता समझने की भूल नहीं करते हैं। वे भ्रमित नहीं होते हैं।

निष्कर्ष

दोनों ग्रंथों के सुन्दरकाण्ड की कथा का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि मानसकार ने अपने पूर्व लिखे ग्रंथ रामायण की कथा (सुन्दरकाण्ड) में मौलिक एवं सार्थक अंतर किया है। संक्षिप्तता के साथ-साथ नवीन प्रसंगों की कल्पना भी तुलसीदास ने किया है। पाठक की रुचि का ध्यान रखते हुए गोस्वामी जी ने जहां मार्मिक स्थलों को विस्तार दिया वहीं अरूचिपूर्ण प्रसंगों को शीघ्र ही चलता किया, जैसे लंका दहन मात्र तीन चौपाइयों में ही वर्णित है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. गोपाल राय, उपन्यास की संरचना, पृ.सं. 15
2. वही, पृ.सं. 16
3. वही, पृ.सं. 16
4. राम प्यारे मिश्र, रामचरित मानस के कथा स्रोत, पृ.सं. 248
5. गोपाल राय, उपन्यास की संरचना, पृ.सं. 79
6. वही, पृ.सं. 80
7. वही, पृ.सं. 81
8. वही, पृ.सं 62
9. वही, पृ.सं. 66
10. वही, पृ.सं. 74
11. वही, पृ.सं. 74
12. सर्वत्रभिन्न वृत्तान्तैरूपेत लोक रंजनम्। काव्यादर्श 1/19
13. सर्गाभिधानानि चा स्मिन्न प्रकरणानि कुर्वीत-काव्यालंकार 16/19
14. तत्राधिकारकं मुखमगं प्रसांगिकं विदुः, दशरूपक 1/19।
15. सीता राम चतुर्वेदी साहित्यानुशासनम्, पृ.सं. 913
16. डॉ. इन्द्रदेव द्विवेदी, हम्मीर महाकाव्य का तत्वानुशीलन, पृ.सं. 53
17. दशरूपक 1/7

18. वही
19. सानुबंध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक, दशरूपक 1/13
20. साहित्य दर्पण 6.7
21. अवस्थाः पंचकार्यस्यप्रारब्धस्यफलपार्थिभिः आरम्भयत्न-प्राप्याशा-नियतप्ति फला गमाः, दशरूपक 1/19
22. आनन्दवर्धन-ध्वन्वालोक 9/13।
23. भामह-काव्यालंकार 1/20, दण्डी काव्यादर्श 1/18 रूद्रट-काव्यालंकार 16/19, हेमचन्द्र-काव्यानुशासन अध्ययन 1/18
24. बाल्मीकि रामायण-सुन्दरकाण्ड, प्रथम सर्ग श्लोक 11
25. वही, श्लोक, 83
26. वही, 99
27. वही, 103
28. वही, 145।
29. बाल्मीकिरामायण सुन्दरकाण्ड-प्रथम सर्ग-श्लोक, पृ.सं. 165
30. वही, तृतीया सर्ग श्लोक 20
31. रामचरितमानस-सुन्दकाण्ड दो. 1, चौ. 1-2
32. वही, दो. 3, चौ. 1
33. वही, दो. 3, चौ. 1
34. वही, दो. 3, चौ. 4

●

ज्योतिर्विज्ञानस्य विविधपक्षानां वैशिष्ट्यं साम्प्रतिकोपादेयत्वञ्च

मधुसूदनमिश्रः एवं डॉ. रामजीवनमिश्रः***

इह जगति सर्वत्र कश्चन सम्बन्धविशेषो भवति, स च सम्बन्धः जैविकः भौतिकः वैषयिको वा भवति। ग्रहनक्षत्राणां गतिमधिकृत्य प्रवर्तितस्य भगवतो वेदस्य नेत्ररूपेण प्रतिष्ठितस्य ज्योतिषशास्त्रस्य विविधाः पक्षा आगममूलकाः। अतश्शोधपत्रेऽस्मिन् समासेन ग्रहाणामागमत्वं कथं विद्यते, कश्चानयोस्सम्बन्ध किञ्च वैशिष्ट्यमिति प्रतिपाद्यते। भारतीयसंस्कृतौ ज्ञानस्याधारभूतानां वेदानां नेत्रपदारूढं शुभाशुभकालविधायकं ज्योतिषशास्त्रं सर्वतोभावेन स्पष्टग्रहाधीनमित्युक्तौ न काचिद्विप्रतिपत्तिः। द्योतन्ते प्रकाशन्ते ग्रहनक्षत्रादी-नित्यस्मिन्नर्थे '**द्युतेरिषन्नादेश्च जः**' इत्युणादिसूत्रेण निष्पन्नोऽयं शब्दः। अथ च ग्रहनक्षत्रादीनां गतिमधिकृत्य कृतं शास्त्रं ज्योतिषमिति परिभाषया प्रतिपादयितुं शक्यते। इत्थमपरिमिते गगनमण्डले यानि हि तेजोमयानि बिम्बानि संदृश्यन्ते तानि सर्वाणि समष्ट्यैव ज्योतिषशब्देन व्यपदिश्यन्ते। अतः ज्योतिषशास्त्रं खगोलविज्ञानान्तर्गतमिति विनिश्चितम्। तद्यथा-

ज्योतिषशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते
नूनं लग्नबलाश्रितः पुनरयं तत्स्पष्टखेटाश्रयम्।
ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोऽपि न ज्ञायते
तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति[1]॥

ज्योतिर्विज्ञानस्य ग्रहनक्षत्रग्रहोपग्रहाणां भूमण्डले गतिस्थितिप्रभावादीनां निर्धारणमेव ज्योतिषशास्त्रस्य सिद्धान्त-संहिता-होरेति त्रयाणां स्कन्धाना-मुद्देश्यम्। खगोलविज्ञानान्तर्भूतस्य ज्योतिषशास्त्रस्यास्तित्वं सर्वप्रथमतया ग्रहनक्षत्रादीनां ध्रुवागस्त्यसप्तर्ष्यादितारकाणाञ्च देवत्वरूपेण स्तुतिपरकचर्चा सङ्कलनरूपेण वैदिकमन्त्रेषु दरीदृश्यते। ज्योतिषशास्त्रस्य सिद्धान्तस्कन्धमवलम्ब्य खगोलविज्ञानस्य ता एव विविधाः पक्षाः शोधपत्रेऽस्मिन् यथाप्रमाणं प्रस्तूयते। तत्र जानीमो वयं यत् प्रत्येकानां ग्रहनक्षत्राणां प्रतीयमानां स्थितिमवगन्तुं महत्त्वपूर्णमिदं विज्ञानम्। तद्यथोच्यते आचार्यभास्करेण स्वशिरोमणौ–

दृष्टान्त एववनिभग्रहाणां सिद्धान्तमानप्रतिपादनार्थम्।
गोलस्स्मृतः क्षेत्रविशेष एषः प्राज्ञैरतस्स्याद्गणितेन गम्यः[2]॥

अस्माकं वैदिकमहर्षिभिः ज्योतिषशास्त्रस्य परवर्तिभिराचार्यैश्चानुदिनं गगनावलोकनचिन्तनमननेनैव खगोलगर्भात् शास्त्रस्यास्य प्रवर्तनं पल्लवनञ्च कृतम्। तैः खगोलस्य स्वरूपमवस्थितिविस्तृतिमानञ्च विज्ञाय भगोलस्य अंशकलाविकलादीनां विभागो विहितः। वैदिकज्योतिषस्यैतानेव विविधान् पक्षान्नवलमव्य आचार्यलगधेन ग्रहोपग्रहधूमकेतूनीहारिकाकाशगङ्गादीनां गतिस्थितीत्यादीनां वर्णनं सूक्ष्मेक्षिकया वेदाङ्गज्योतिषे विधत्तम्। इदमेवाश्रित्य आचार्यार्यभटब्रह्मगुप्तभास्करकमलाकरादिभिः ज्योतिर्विद्भिः वैज्ञानिकरीत्या वैदिकाश्रितं खगोलविज्ञानं निजकृतौ प्रतिपादितम्। भवतु नाम आलोचकैः ज्योतिर्विद्यायाः खगोलविज्ञानस्य चोत्पत्तिः यूनानग्रीकेष्वाक्षिप्यते परन्त्वैतिहासिकदृष्ट्या नूनमेव प्रतिभाति यत् प्राचीनार्वाचीनानां सर्वेषां विज्ञानानां मूलं भारतीयधरातलमेव। 2800 वर्षेभ्यः प्रागेव आकाशे दैदीप्यमानानां राशिनक्षत्रादीनां नामस्वरूपवर्णेभ्यः परिचितैर्भारतीयैः खगोलविज्ञानस्याविष्कारः कृत इत्यैतिहासिकप्रमाणैरनुमीयते। बेबरमैक्समूलरकाउण्डबार्नसानां मतेन शास्त्रमिदं कलियुगात् पूर्वमेवोद्भूतम्, एतेन न्यूनातिन्यूनं पञ्चसहस्रात्मकं प्राचीनमिदं विज्ञानमिति निर्णये न कश्चन सन्देहावसरः। वस्तुतः इतोऽपि प्राग्पूर्वमेव परम्परया व्यवहारे खगोलविज्ञानमासीत् तद्यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते मयदानवं प्रति सूर्यांशपुरूषेण यत्–

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः[3]॥

ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य वैदिकमनुशीलनम्

अत्रेदमवधेयं यत् ज्योतिर्विज्ञानस्योत्पत्तौ मूलभूतानां वेधयन्त्राणां प्रयोगः वैदिककालेऽप्यासीत्। यजुर्वेदे नक्षत्रदर्शस्य (ज्यौतिषिकस्य) चर्चोपलभ्यते। नक्षत्रस्य प्रेक्षणात् (निरन्तरवेधत्वात्) नक्षत्रदर्शोपाधिः वैदिककाले वेधविद्याविचक्षणानां ज्यौतिषिकाणां कृते जाता। वैदिकयज्ञानां सम्पादनार्थं कुण्डमण्डपादिनिर्माणविधौ दिक्शोधनप्रसङ्गे सूर्यादिबिम्बानां स्पष्टप्रेक्षणं (वर्षायनर्तुदिनमानलग्नादिशुद्धिविचारार्थम्) अनिवार्यत्वेन जनेषु प्रचलति स्म। ज्योतषशास्त्रीयसिद्धान्तग्रन्थेषु त्रिप्रश्नाधिकारे सूक्ष्मतया दिक्साधनोपक्रमे इयमेव वैदिकरीतिमनुश्रिता। यदि वेधयन्त्रप्राप्तपरिणामानां परम्परा प्राचीनकाले नासीत्तर्हि कथं नक्षत्राणां विषये 'न क्षरतीति नक्षत्रं' इति व्युत्पत्तिः व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या जाता। अत्र निष्कर्षोऽयं विद्यते यत् वैदिककाले वेदाठकाले च नक्षत्रदर्शाः निरन्तरं ग्रहनक्षत्राणां वेधयन्त्राणां प्रयोगं कृतवन्तः। अत एव स्वगत्या गमनशीलत्वात् गच्छतीति ग्रहः इति नाम, नक्षत्राणाञ्च स्वगतिशून्यत्वात् नक्षत्रमिति नामकरणमन्वर्थमेव। वैदिकसंहितासु ग्रहशब्दस्य व्यापकप्रयोगं दृष्ट्वा तिलकमहोदयेन स्वीये ओरायन इति नामके ग्रन्थे प्रोक्तं यत् भारते एव ग्रहाणामन्वेषणज्ञातं यतो हि ग्रहाणां नामानि विशेषतया भारतीयानि सन्ति। तैत्तरीयब्राह्मणे उल्लिखितं यत् यदा बृहस्पतिः सर्वप्रथमं प्रकटितो बभूव तदा सः तिष्य 'पुष्य' नक्षत्रपार्श्वे आसीत्। अनेन प्रतीयते यत् यदा गुरुग्रहस्य प्रथमतोऽन्वेषणमभूत्तदा तस्य स्थितिरस्माकं-प्राचीनवेधविद्वद्भिः पुष्यनक्षत्रसन्निकटे प्रेक्षिता। शतपथब्राह्मणे शुक्रस्य व्याख्याने

*शोधच्छात्रः (ज्योतिषविभागः), संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।
**प्रोफेसर (ज्योतिषविभागः), संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

लिखितमस्ति यत् स शुक्र एव, यो हि चमत्कृतौ सर्वाधिकः अत एव सः शुक्रः। तच्चोक्तं विद्यते –**अयं वेनः। चित्रं देवानाम्**[4]। अयं शुक्रः वेनसनामपर्यायः (Venus) बुधश्च मतिसंज्ञकः सूर्यसमीपे शिशु इव प्रतिदिनं वर्द्धते अर्थात् चन्द्र सदृशमेव अनयोरपि क्षयवृद्धिर्जायते परन्तु विप्राय (बृहस्पतये) एष नियमो न। तद्धि ऋग्संहितायातम्–

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रामतिभिरिहन्ति[5]॥

इमौ द्वौ बुधशुक्रौ सूर्यनेत्ररूपौ, इदमप्येकं मतमस्ति यत् योऽयं शुक्रः तपति स चन्द्रतुल्यः, चन्द्रपुरोवर्ती। ब्राह्मणग्रन्थेषु शुक्रः प्रकाशगर्भरूपेण जरायुरिति संज्ञया संकेतितो विद्यते। चन्द्रस्य विषये तु प्रोक्तं यदयं शुक्रस्य पुरोगामी, शुक्रस्य पुरतो अस्यावस्थितिरिति शुक्रसंस्थाननिरूपणप्रसङ्गे वर्णितमस्ति–

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः।
सोमः सोमस्य पुरोगाः[6]।

चन्द्रनिरूपणे प्राप्यते यत् सर्वेषां नक्षत्राणामधिष्ठातृरूपोऽयं ग्रहः–

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति[7]॥

अत एव ज्योतिषे दैनिकनक्षत्राणां प्रवृत्तिः चन्द्रादेव निर्धार्यते। अयं चन्द्र एव औषधाधीशः वैद्यकशास्त्रोक्तनानाविधानामौषधीनां पोषकत्वात्। अयं सूर्येण प्रकाशितो पिण्डः- **सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः**[8]।

एवमेव भौमग्रहस्यापि निरूपणक्रमेऽस्य नामोल्लेखः वर्णोल्लेखे प्रोक्तं विद्यते यदयं ताम्रवर्णः अथवा पिङ्गलवर्णः किञ्चिद्धूमिगुणोपेतः।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमठलः।
ये चैनँ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्त्रशोऽवैषाँ हेड ईमहे [9]।

ब्राह्मणग्रन्थेष्वेभिर्वर्णनप्रसङ्गैर्ज्ञायते यत्तस्मिन् काले वेधयन्त्राणां प्रयोगः ज्यौतिर्विज्ञानवर्द्धनक्रमे निश्चितरूपेण प्रचलित आसीत्। बृहस्पतिस्तु ग्रहेषु बृहत्तमः, संवत्सरवाहकः कालभेदेन क्वचिन्नीलवर्णः, क्वचिच्च रक्तवर्णः। ग्रहोऽयं दीप्तिमान् रमणीयश्च वर्तते। सर्वतो बृहत्तमत्वात् प्रकाशयुक्तत्वाच्च ग्रहोऽयं 'अङ्गिरस' इति संज्ञकः। तच्चोक्तं ऋग्संहितायाम्–

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमठिरसां
विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः[10]।

मन्त्रस्यास्य भाष्ये सायणेन निरुक्तस्य ऐतरेयब्राह्मणस्य च प्रमाणपुरस्सरमुक्तं यत्–

अङ्गाराणां मध्ये ज्येष्ठं ज्वालायुक्तत्वात्।
अङ्गिरा अङ्गारा इति यास्कः[11]।
ये अङ्गारा आसंस्तेङ्गिरसो भवन् [12]।

प्रत्येकानां नक्षत्राणां पृथक्पृथक् लोकविशेषास्सन्ति। ब्रह्मणा सप्तविंशतिलोकाः अश्विनीतः रेवतीनक्षत्रेभ्यो षड्लोकाश्च कृतिनक्षत्राय विरचिताः। वेदे हि प्रमाणवाक्यानि प्राप्यन्ते यथा ह्यथर्ववेदे–

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निमिमीत प्रजापतिः।
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत[13]।

इह नक्षत्रमण्डले सूर्य एव समेषां ज्योतिष्मतां पिण्डानां तेजः। सूर्यस्य सप्त प्रकारकाः रश्मयस्सन्ति, पुराणेषु सूर्यस्य सप्त-अश्वाः रथबद्धाः अरूणनामकश्चास्य सारथिः इत्यादिका या कथा वर्तते सा आलङ्कारिका। तत्राशयोऽयं विद्यते यदेक एव रश्मिः सप्तभिर्वर्णैः नाभित्रययुते सूर्यचक्रे प्राप्यते। तद्धि–

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः[14]॥
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षण[15]॥

वेदेषु राशीनां स्पष्टतया नामोल्लेखः यद्यपि नास्ति तथापि राशिचक्रस्या बृहती चर्चा सङ्केतरूपेण प्राप्यते तत्र अगस्त्यनामकनक्षत्रोदयः प्रायः वर्षतोऽवसानकाले शरदृतोश्चारम्भकाले भवति। अगस्त्यसमीप एव लोपामुद्रानामकं नक्षत्रं विद्यते। द्वयोरपि नक्षत्रचक्रयोरवस्थितिः राशिचक्राद्दक्षिणे वर्तते। एवमेव राशिचक्रं वैश्वानरपदेनाप्यथर्ववेदसंहितासु संज्ञितं वर्तते-

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यान्ति स्तोमा उदितो यान्त्यभिषष्ठमह्नः[16]॥

इत्थं विपुलतया ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानानां बीजानि वेदगर्भे निहितानि येभ्यः सम्प्रति नानाविधाः शाखाप्रभेदाः प्रस्फुटिताः सन्ति।

ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य विविधाः पक्षाः

सिद्धान्तसंहिताहोरेति त्रिषु स्कन्धेषु विभक्तस्य ज्योतिषशास्त्रस्य आदेशशास्त्रत्वादादेशस्य शुभाशुभकालाधीनत्वात् शुभाशुभकालस्य ग्रहनक्षत्राधिष्ठनाच्च ज्योतिषशास्त्रस्य सर्वेऽपि पक्षाः प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण खगोलाश्रिताः। अत एव त्रिषु स्कन्धेषु विशुद्धखगोलशास्त्रपर्यायस्य सिद्धान्तज्योतिषस्य सर्वतोभावेन प्राधान्यमङ्गीक्रियते। गणिताश्रिते स्कन्धेऽस्मिन् त्रुट्यादारभ्य प्रलयान्तं यावत् कालगणना विविधानां कालमानानां सूक्ष्मातिसूक्ष्मविवेचनेन सह खगोलीयग्रहनक्षत्राणां चारप्रतिपादनं व्यक्ताव्यक्तगणितयोर्विश्लेषणं खगोलसम्बन्धिविषयाणाञ्च सङ्कलनं विद्यते। तत्र भूपृष्ठात् विविधैर्यन्त्रैः ग्रहोपग्रहनक्षत्रादीनां संस्थानमाननिरूपणं विधीयते। तदित्थमाचार्यभास्करेण–

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलनामानप्रभेदः क्रमात्
चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।

भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्राादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तस्स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः[17]॥

द्युचरचारवशात् कदा कुत्र च कीदृशी युतिवियुतिसंयुतिश्च खगोले (ग्रहयोः ग्रहनक्षत्रयोः नक्षत्रयोश्च) इति गणितीयगणनया विज्ञायैव

होरासंहितास्कन्धाभ्यां ग्रहाणां प्रभावो निर्णीयते। ज्योतिषशास्त्रीयं खगोलविज्ञानं बहुत्र बहुधा स्फुटतयावलोक्यते। तेषु प्रमुखानां विषयाणां वर्गीकरणं पल्लवनञ्च क्रमश एकैकं विधीयते।

एषु सिद्धान्तज्योतिषं विशुद्धतया खगोलशास्त्रं होरासंहिताज्योतिषञ्च खगोलीयप्रभावशास्त्रम्। अत्र सिद्धान्तज्योतिषस्य ये प्रमुखाः खगोलीयस्तम्भाः सन्ति तेषां यथाशास्त्रं विवेचनं प्रस्तूयते–

खगोलकक्षाविज्ञानम्

ग्रहाणां कक्षाविस्तारेण साकं खगोलस्यापि विस्तृतिः कियन्मिता वर्तते इति ज्योतिषशास्त्रे वैज्ञानिकतया प्रतिपादितं वर्तते,अत्रेदं ध्यातव्यं यत् खगोलशब्दः ज्योतिषे ब्रह्माण्डपर्यायः। तच्च ब्रह्माण्डं कटाहसम्पुटद्वययुतं गोलाकृतिरूपमिति सूर्यसिद्धान्तवचनम्। अनन्ताकाशस्य ब्रह्माण्डस्य वा योजनात्मिका परिधिः रविकिरणप्रसारतुल्यैव यतो हि यावन्मिते खगोलीयक्षेत्रे दिनकरकरप्रकाशो जायते तावत्प्रमाणकं खक्षेत्रम् आकाशकक्षा वा प्रोच्यते। आचार्यभास्करेण खगोलविस्तृतेर्निरूपणोपक्रमे निगदितं यत्–

करतलकलितामलकवदमलं सकलं विदन्ति ये गोलम्।
दिनकरकरनिकरनिहततमसो नभसःस परिधिरूदितस्तैः[18]॥

सौरमतेन खगोलस्य विस्तृतिप्रमाणं 18712080864000000 योजनात्मकम्। तदुक्तं सूर्यसिद्धान्ते भूगोलाध्याये–

खव्योमखत्रयखसागरषट्कनागव्योमाष्टशून्ययमरूपनगाष्टचन्द्राः।
ब्रह्माण्डसम्पुटपरिभ्रमणं समन्तादभ्यन्तरे दिनकरस्य करप्रसारः[19]॥

भास्कराचार्येण 18712069200000000 योजनात्मकं खपरिधिमानं निर्णीतम्–

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्धजठेन्दुभि
र्ज्योतिशास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनैः[20]।

परमत्र विशिष्टैका युक्तियुक्ता पद्धतिराचार्यैः खकक्षाविषये प्रतिपादिता। ग्रहः कल्पेऽस्मिन् स्वकीयया पूर्वगत्या यावन्मितं योजनमाक्रमति तावन्मितमेव खकक्षाविस्तृतिमानम्। तद्यथा–

ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि।
यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः[21]॥

इत्थं व्यत्यासेन खगोलीयानां सर्वेषां ग्रहोपग्रहाणां कक्षामानं साधयितुं शक्यते। खकक्षा यैर्यैः ग्रहभगणैर्ह्रियते तस्य ग्रहस्य कक्षामितिर्लभ्यते। तद्धि–

ग्रहस्य चक्रैर्विहृता खकक्षा भवेत्स्वकक्षानिजकक्षिकायाम्[22]।

वस्तुतः खगोलस्य कक्षाविषयिणी सूक्ष्मेक्षिका गवेषणात्मिका दृष्टिः भारतीयज्यौतिषस्य विलक्षणता। सम्प्रत्यप्यर्वाचीनैः खगोलवैज्ञानिकैः इयमेव पद्धतिमनुसृत्य क्षेत्रेऽस्मिन् शोधकार्यं विधीयते।

(2) ज्योतिषशास्त्रीयं ग्रहविषयकं विज्ञानम्

ग्रहसंस्थाने प्राच्यपाश्चात्ययोर्ममतद्वयं विद्यते। तत्र भूकेन्द्राभिप्रयिका वर्तुलाकारा **भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षेति[23]** क्रमिका ग्रहकक्षेति प्राचीनाः, दार्घवृत्ताकारा नाभिद्वययुता **विच्छुक्रक्षिति-भौमजीवशनयोः दीघेर्षु वृत्तेषु[24]** तदित्यर्वाचीनमतानुसारेण सूर्यकेन्द्रिका ग्रहकक्षा। वस्तुतः उभयोर्न कश्चन तात्विको भेदः यतो हि आधुनिकैः दीर्घवृत्ते एकस्मात् नाभिस्थितात् सूर्यात् स्वकक्षास्थिते ग्रहे लम्बं विधाय सूर्यग्रहयोर्बिम्बान्तरसूत्रवशात् ग्रहावस्थितिं ग्रहगतेश्चानयनं विधीयते तत्र यथा यथा बिम्बान्तरसूत्रं वर्द्धते तथा तथा गतिर्न्यूना जायते सूत्रस्य न्यूनत्वाच्च गतिरधिका भवति। परं केपलरमहोदयस्य सिद्धान्तस्यास्य बीजानि ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञाने निहितानि। ज्योतिषशास्त्रे सर्वेषां ग्रहाणामूर्ध्वाधरत्वं व्यवस्थाप्य कक्षायोजनञ्च विगणय्य कलात्मिकया दृष्ट्या ग्रहगतेर्वैलक्षण्यं प्रतिपादितम्। तच्च प्रोक्तमाचार्येण भास्करेण सिद्धान्तशिरोमणौ–

कक्षाः सर्वा अपि दिविषदां चक्रलिप्ताङ्कितास्ताः,
वृत्ते लघ्व्यो लघुनि महति स्युर्महत्यश्च लिप्ताः।
तस्मादेते शशिजभृगुजादित्यभौमेज्यमन्दा
मन्दाक्रान्ता इव शशधराद्धान्ति यान्तः क्रमेण[25]॥

अत एव भूमेस्सन्निकटत्वाद् चन्द्रः तीव्रतमः शनिः अतिदूरत्वान्मन्दतमश्च। अथ च ग्रहकक्षाक्रममिमाश्रित्यैव वैज्ञानिकरीत्या **मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः[26]** इति शास्त्रानुरोधेन शनितः आरभ्य क्रमशः प्रतिचतुर्थाः रविचन्द्रभौमबुधादयो वासराः भवन्ति। ग्रहाणां संस्थितिवशात् निर्धारितोऽयं वारक्रमः होराशास्त्रदृष्ट्यापि वैज्ञानिकः उपपत्तिमूलकश्च। एकस्मिन् अहोरात्रे चतुर्विंशतिहोरायां सर्वेषां ग्रहाणां होराः समायान्ति, इत्थं 24होराः सप्तभिर्भाजिताः त्रयोऽवशिष्यते तेन तदनन्तरं चतुर्थ एव अग्रिमो वारेश उपपद्यते। इयान्स्त्वत्र विशेषः यत् ग्रहणे ग्रहस्पष्टीकरणे च विपरीतगतिकस्य पातस्य भूमिका महत्त्वपूर्णा, यतो हि यथा मन्दोच्चशीघ्रोच्चवशाद् ग्रहाणां पूर्वापरविक्षेपो जायते तथैव पातवशादुत्तरदक्षिणविक्षेपः संघटते। क्रान्तिवृत्तेन सह ग्रहविमण्डलस्य सम्पात एव पातः ज्योतिषे हि उत्तरो पातः राहुवाचकः दक्षिणश्च केतुसंज्ञकः। इयं राहुकेत्वोः वैदिकपूर्णा सङ्कल्पनापि सर्वप्रथमतया भारतीय-ज्यौतिषखगोलविज्ञाने एव दरीदृश्यते। अर्वाचीनैस्तु राुकेतत्वोः (NODE) इति संज्ञा विधायास्य व्यवहारो विधीयते। इत्थं शीघ्रमन्दोच्चपातवशादेव ग्रहाणां अष्टविधा गतिः ज्योतिषशास्त्रे स्वीक्रियते–

वक्रातिवक्रा विकला मन्दा मन्दतरा समा।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः[27]॥

अत्रापि कुत्र कस्मिन् राशौ ग्रहकेन्द्रे सति का गतिर्भवतीति विपुलतया वर्णितम्। ग्रहगतौ एतादृशी सूक्ष्मव्यवस्था ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य विलक्षणोपलब्धिः।

(3) ग्रहस्पष्टीकरणसिद्धान्तपुरस्सरं ग्रहणविज्ञानं पातसङ्कल्पनौचित्यञ्च

ज्योतिर्विज्ञानस्य मूलभूताः एते विषयाः, ग्रहस्पष्टीकरणे हि विशिष्टरीत्या मन्दशीघ्रयोः नीचोच्चकल्पनया भङ्गिद्वयाभ्यां प्रक्रिया सञ्चालिता। ग्रहाणां

केन्द्रं भूकेन्द्रं न तु भूपृष्ठमिति रहस्यमुद्घाट्य ग्रहाणां भ्रमणं दीर्घवृत्ते भवतीति नवीनमतस्याधारशिला ज्योतिषशास्त्रेनैव स्थापिता वर्तते। तदित्थमाह भास्कराचार्यः–

भूमेर्मध्ये खलु भवलयस्यापि मध्यं यतः स्याद्
यस्मिन् वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्यं कुमध्ये।
भूस्थो द्रष्टा नहि भवलये मध्यतुल्यं प्रपश्ये
त्तस्मातज्ज्ञैः क्रियत इह तद्दोः फलं मध्यखेटे[28]॥

कक्षाभेदस्यास्यैव नियमनार्थं यथा शीघ्रमन्दोच्चयोस्संस्कारो विहितः तथैव कालकृतविक्षेपनिवारणाय बीजसंस्कारो विधीयते। ग्रहाणां दृक्कर्मवशात् दर्शनयोग्यतासम्पादनं विभिन्नशुभाशुभफलानां निरूपणञ्च ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञानस्य परमलक्ष्यम्।

खगोलीयस्य सर्वथाश्चर्यजनकस्य घटनाचक्रस्य ग्रहणस्य यादृशं विज्ञानं ज्योतिषे वर्णितं तादृशमन्यत्र दुर्लभम्। ग्रहणे ग्रहविक्षेपेण पातवशाद् ग्रहणसम्भवासम्भवज्ञानं भूभा-लम्बन-वलन-नतीत्यादीनां खगोलीयविषयाणां खण्डपूर्ण- खग्रासवलयादिचतुर्विधग्रहणानां स्पर्शसम्मीलनमध्योन्मीलनमोक्षाानां पञ्चावयवानां ग्रहणपरिलेखनिर्माणस्य च यथाक्रमं विवेचनं ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञानस्य प्रमाणभूतम् ।

(4) ज्योतिषीयदृग्विज्ञानस्यैतिह्यं वैशिष्ट्यञ्च

वेधप्रक्रियाज्ञानं विनास्य शास्त्रस्योत्पत्तिर्विकासो वा न केवलं कठिनमुतासम्भवतीति कथने नास्ति विप्रतिपत्तिर्परन्तु विचारणीयोऽयं प्रश्नः यत् किं तस्मिन् काले आधुनिकवेधशालावत् विकसिताः वेधशालाः वेधयन्त्राणि चासन् वा ऋषिभिः ग्रहनक्षत्रेषु आधुनिकान्तरिक्षीयोपग्रहसदृशमाध्यमैः तेषामध्ययनमं कृतमथवा केवलं नग्नदृष्ट्यैव योगबलमाध्यमेन सर्वं ज्ञातमुत "यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे" इति तत्वं विज्ञाय योगशक्त्या स्वशरीरस्थसौरमण्डले एव ब्रह्माण्डदर्शनं विधाय ग्रहनक्षत्रादिपिण्डानां रहस्यं विज्ञातम्, यतो हि लिखितसाक्ष्यरूपेण तात्कालिकवेधप्रक्रियायाः वर्णनं वेदेषु, संहितासु, ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्साहित्ये वा स्पष्टरूपेण न प्राप्यते तथा च वेधयन्त्राणां वर्णनन्तु स्पष्टतया कुत्रापि न प्राप्यते, तथापि वैदिकज्योतिषवर्णनमधीत्येदन्तु प्रतीयत एव यत् वेधयन्त्रसिद्धप्रयोगविधिं विना खगोलीयसिद्धान्तानां निर्धारणन्नकेवलं कठिनमुता-सम्भवमपि विद्यते। ज्योतिषशास्त्रस्य खगोलविज्ञाने प्रत्यक्षत्वोपाधौ च वेधप्रक्रियैव मूलभूता। अतः वेधपरम्परास्थितौ नास्ति सन्देहावसरः। अयनबिन्दोश्चलनं निरन्तरप्रेक्षणेनैव ज्ञातुं शक्यते तथा कालाठानां वर्षायनर्तुमासपक्षतिथीनान्निर्धारणे प्रथमतया वेधस्यावश्यकतासीदेव यद्यप्येषु विषयेषु तात्कालिकस्थूलतयेदं सिद्ध्यति यदाधुनिकयन्त्रकृतवेधवत् तात्कालिकवेधपरिणामेषु सूक्ष्मता नासीत्।

ग्रहनक्षत्राणां दर्शनपरम्परा वैवाहिकसाक्ष्यरूपेऽप्यस्माकं देशेऽनादिकालात् प्रचलिता वर्त्तते। विवाहसंस्कारवर्णनेष्वस्याः प्रथायाः उल्लेखोऽस्ति यत् वरवधूभ्यां स्थैर्यप्रतीकरूपे ध्रुवतारायाः दर्शनं विधेयम्, ध्रुवशब्दस्यार्थः स्थिरता। वेधेन ध्रुवतारायाः स्थिरत्वनिर्धारणार्थम्प्रयासोऽवश्यमेव गणितीयध्रुवतारायाः निकटस्थतारार्थे आसीत्, यतो हि 2780 ईस्वीपूर्वं (अनेक- सहस्रवर्षपूर्वमपि) कोऽपि तारकः गणितीयध्रुवतारानिकटे नासीत् यो हि ध्रुवो वक्तुं शक्यते। केवलं तृतीयश्रेण्याः प्रथमकालीयः (एल्फा ड्रेकोनिस) नामकस्ताराविशेषः गणितीयध्रुवेन निकटतमः 2780 ईस्वीपूर्वमासन्नतयासीदतः वैवाहिकध्रुवतारायाः दर्शनप्रथा 2780 ईस्वीपूर्वतःआसीदित्यनुमीयते।

केचन पाश्चात्यविद्वांसः एवं कथयन्ति यद् भारतीयाः पूर्वं वेधज्ञाः नासन् प्रत्युत तेषां वेधपरम्परापि नासीन्न च वेधयन्त्राण्यासन्। परन्तु ऋग्वेदकालेऽस्माकं सप्तविंशतिनक्षत्राणां ज्ञानं महाभारते ग्रहनक्षत्रधूमकेतूनाञ्चोल्लेखः, वाल्मीकिरामायणे ग्रहनक्षत्रादीनां वर्णनं, याज्ञवल्क्यस्मृतौ नक्षत्रवीथीनामुल्लेखः, पुराणेषु ब्रह्माण्डस्वरूपवर्णनमिदं द्योतयति यदस्माकं पूर्वजाः प्राचीनकालत एव न केवलमाकाशवलोकने दत्तचित्ताः आसन्नपित्वस्य ब्रह्माण्डस्यैतादृशानि रहस्यानि ते वर्णितवन्तः येषामाधुनिकयन्त्रोपलक्षितब्रह्माण्डरहस्येन नीहारिकादीनां वर्णनेन चात्यधिकसाम्यता स्पष्टता च प्रतीयते। संहिताग्रन्थेषु ग्रहचाराध्यायाः, नक्षत्रेषु ग्रहाणाम्भ्रमणं वराहकृतानेक-धूमकेतूनां वर्णनं यत् वर्तते तद्विषये वराहमिहिरेण प्रोक्तमस्ति यदहं गर्गपाराशराश्रितदेवलादिऋषिकृतवर्णनानुसारङ्केतुचारं लिखामि। अत्रेदं सुनिश्चितं यदुद्दालकादिऋषिभिरन्वेषितत्वात् केतूनामुद्दालकादिसंज्ञाः जाताः, यथाधुना योरोपियनज्यौतिषिकानाम् नाम्ना एनकी धूमकेतु इत्यादीनां नामानि सञ्जातानि। वेधशालासु वेधयन्त्राणां प्रयोगकर्तृकज्योतिर्वित्सु मूलरूपे शक्तिपुत्रपराशस्य वसिष्ठस्य, गृत्समदस्य तथा रहूगणपुत्रगौतमस्य नामानि उल्लेखनीयानि सन्ति। एभिः यानि प्रेक्षणानि क्रियन्ते स्म, तानि 'स्तृ' शब्देन प्रयुज्यन्ते स्म। शब्दोऽयम् आठ्लभाषायां स्टार Star अथवा Aster रूपे वर्त्तते।

प्राचीनकाले केन विधिना खगोलीयपदार्थानां निरीक्षणमवलोकनं वा क्रियते स्म, विचार्यमाणे प्रश्ने ज्ञायते यत् यष्ट्या नलिकया वा नग्ननेत्रदृष्ट्या दर्शनप्रक्रिया आसीत्। विशेषाध्ययनेननेदमेव प्रतीयते यत् प्राचीनकाले ज्योतिर्विदां यन्त्रकेवलं शङ्कुरेवासीत्। तेनैव शङ्कुना राशिचक्रे ग्रहनक्षत्राणामवस्थितेर्ज्ञानं दिग्ज्ञानञ्च विधीयते स्म। कालक्रमवशात् स्वबुद्धिवैभवेन विविधानां खगोलिकीययन्त्राणां निर्माणमाचार्यैः विहितम्। तेषु प्रथमतया भारतवर्षे धूपघटिकायाः आविष्कारः 2-3 सहस्रवर्षपूर्वमेव भारते आसीदिति शुल्बससूत्रेष्वनेकस्थलेषु **कीली** नामकस्य शङ्कुविशेषस्य साक्ष्येण प्रमाणीक्रियते। एतदनुसृत्यैव बाबुलप्रदेशे **विरोसस** नामकेन ज्योतिर्विदा 300 ईस्वीपूर्ववर्षे धूपघटीयन्त्रं निर्मितम्। एतदनन्तरं रोमनगरेऽपि 164 ईस्वीपूर्ववर्षे अस्य घटीयन्त्रस्य निर्मितिः जाता। कालोपक्रमे लगधार्यभटवराहभास्करप्रभृतिभिः सर्वैराचार्यैः विविधानां खगोलीययन्त्राणां चर्चा निजकृतौ विहिता। सर्वप्राथम्येन खगोलीयावस्थितिमवगन्तुं गोलयन्त्रस्य कल्पना कृता, तत्र याम्योत्तरे द्वयोः ध्रुवयोः कीलकत्वेन निवेशः कृतः तन्गोलमध्ये क्रान्तिनाडीक्षितिजयाम्योत्तरपूर्वापरादीनां महद्वृत्तानां कदम्बाहोरात्रादीनां लघुवृत्तानाञ्चावस्थितिर्विधत्ता। इत्थं सर्वासां खगोलीयप्रक्रियानां प्रातिभासिकमवलोकनं यन्त्रेणानेन कर्तुं पार्यते। बुद्धिरूपपारमार्थिकयन्त्रस्य श्रेष्ठत्वमुद्घोष्य वेधोपयुक्तविविधानां यन्त्राणां वर्णनं कृतमित्थमाचार्य-भास्करद्वितीयेन–

गोलो नाडीवलयं यष्टिः शङ्कुर्घटीचक्रम्।
चापं तुर्यं फलकं धीरेकं पारमार्थिकं यन्त्रम्[29]॥

(5) ज्योतिषशास्त्रस्य खगोलीयवेधप्रक्रियायाः साम्प्रतिकी स्थितिः

वर्तमानकालेऽस्माकं देशे वेधप्रक्रियायां या उन्नतिर्दृष्टिपथं विस्तारयति सा वस्तुतः समग्रविश्वस्य सम्मिलितप्रयासस्य प्रतिफलं वर्त्तते। राज्ञः जयसिंहस्य ज्योतिषविषयकवेधकार्येषु दत्तचित्तत्वादस्माकं देशे वेधपरम्परायां प्रेक्षणार्थं वेधयन्त्राणाम् एको नूतनो पन्था समुद्घाटितोऽभूत्। विशालवेधयन्त्राणान्निर्माणपुरस्सरमस्माकं देशे देहली-जयपुर-वाराणसी-मथुरा-कोलकाता-उज्जैनाख्येषु षड्नगरेषु वेधशालानां स्थापना सवाईजयसिंह-द्वितीयस्यादेशेन जाता। अस्मिन्नेव कालेऽष्टादशशताब्द्याः प्रारम्भिकवर्षेषु यवनदेशेष्वरबमिस्रदेशेषु च जनाः वेधकार्येषु संलग्नाः आसन्। राज्ञः जयसिंहस्य प्रयासात्तद्देशीयाः वेधविद्याविद्वांसोऽत्राहूताः तथात्रत्याः वेधपण्डिताः विदेशेषु प्रेषिताः। इत्थं परस्परं ज्ञानस्यादानप्रदानेनास्यां दिश्युन्नतेः द्वारमुद्घाटितम्। अनन्तरं पाषाणेष्टिका-चूर्णादिभिर्निर्मितानि यन्त्राणि वेधपण्डितैः स्थूलनिर्णयप्रदायकानि एकस्थानान्यत्र नेतुमयोग्यान्याकलय्य लघ्वाकाराणां लौहनिर्मितवेधोपकरणानान्निर्माणदिशि प्रयासः समारब्धः। तथा च स्वयं जयसिंहेन पाश्चात्यदेशेभ्यः दूरदर्शकयन्त्रं समानीय तस्य महत्त्वं दृष्टम् एवम् अत्र भारतीयवेधपरम्परायां दूरदर्शकस्यागमनादेकं परिवर्तनं बभूव। गैलीलियोवैज्ञानिकेन यो हि दूरदर्शकस्य प्रथमाविष्कर्तासीत्, वेधजगति नवीनक्रान्तेः श्रेयः गृहीतः। एवं भारतीयवेधपरम्परापि जयसिंहस्थापित-वेधशालानां मार्गं परित्यज्य दूरदर्शकप्रधानवेधशालायुगे प्रविष्टवती।

इत्थमाङ्गलशासकानाङ्काले व्यापारप्रचारसंवर्धनदृष्ट्या सामुद्रिकमार्गनिर्धारण-प्रसङ्गे नौपरिवहनसौविध्यदृष्ट्या चाकाश-निरीक्षणार्थन्तारकानाम्प्रेक्षणार्थं वा 1792 खीस्ताब्दे मद्रासवेधशालायाः स्थापनाभूत्। शनैश्शनैस्त्र तारकाणामध्ययने वृद्धिः जाता। आकाशीय-ग्रहनक्षत्रादीनां वेधार्थमत्र देशे स्थाने-स्थाने दूरदर्शकयन्त्राणां स्थापनेनपाश्चात्यवेधशालावदाधुनिकवेधोपकरणैस्सुसज्जितानां वेधशालानां स्थापनादिशि प्रयासाः प्रवर्धिताः। तस्मिन्नेव क्रमे कोड़ाईकनालवलूरउट-कमण्डउदयपुरमाउण्टआबूदेवप्रयाग-नैनीतालअहमदाबादादि स्थानेषु वेधाशालाः संस्थापिताः अभवन्। तासु वेधशालासु यद्यपि विशिष्टवेधयन्त्राणि पाश्चात्यदेशेभ्यस्समानीतान्यासन् परन्तु सम्प्रति भारतीय-वेधशालासु प्रयोगशालाः निर्माणशालाश्चापि वर्तन्ते, यत्र दूरदर्शकानां विशिष्टयन्त्राणां वेधोपकरणाणाञ्च निर्माणदिशि प्रयासाः प्रचलन्ति निर्माणञ्च विधीयते।

विश्वस्य पाश्चात्यदेशेषु विषयेऽस्मिन् महत्त्वपूर्णानि परिवर्तनानि सम्प्रति श्रूयन्ते दृश्यन्ते च। भू उपग्रहानामस्मिन् युगे मनुष्योऽन्तरिक्षस्थदूरवीक्षणैः वेधं सम्पादयिष्यति। अमेरिकादेशस्य राष्ट्रियोड्डयनेनान्तरिक्षप्रशासनेन (नासाख्येन) पृथिव्याः परिक्रमण-शीलानामनेकवेधशालानामन्तरिक्षे स्थापनार्थं योजना निर्मीयते। अस्य प्रारम्भः 'हबल' अन्तरिक्षदूरदर्शकेन जातः यस्योपरि 1.4 अर्बुदडालरमितधनव्ययोऽनुमानितः। अस्यान्तरिक्षदूरदर्शकस्य दृष्टिमार्गे कीदृशमपि वातावरणं बाधयितुन्न शक्यते तथा चेदमस्माकन्निकटवर्तीतारकान् पार्श्वस्थितग्रहान् नैकट्येन वेधयितुं शक्ष्यतेऽर्थाद्-ब्रह्माण्डेऽन्यसौरमण्डलानां स्थितिमपि निर्देष्टुं समर्थो भविष्यति। 'हबल' संज्ञकमन्तरिक्षदूरदर्शकमिदं स्वकार्यं सम्यक्तया सम्पादयति। अस्मिन् दूरदर्शके आगता त्रुटिः वैज्ञानिकैः स्पेसशटलमाध्यमेन तत्र गत्वापास्ता। वेधशालयैव ग्रहाणां कालकृत-विक्षेपमवगम्य सम्प्रति ग्रहस्पष्टीकरणे तिथिच्युतिकर्षकिरणवक्रीभवनादीनां पाक्षिकसंस्कारो वाषिकसंस्कारश्च विधीयते।

अन्तरिक्षानुसन्धानसंगठनस्य (इसरो) स्थापनानन्तरं देशे चत्वारि केन्द्राणि संस्थापितान्यभवन्। यत्रान्तरिक्षोपग्रहप्रेषणसम्बन्धिकार्यं दिनानुदिनमेधते। अस्यां दिशि आर्यभटभास्कररोहिणीएप्पलइन्सैटशृङ्गलाया उपग्रहान् सुदूरेऽन्तरिक्षेप्रक्षेपयित्वा-स्माकं देशस्य वेधपरम्पराप्याधुनिकतम-वेधप्रणालीयुक्तदेशपङ्क्त्यामन्तरिक्षीयवेधशाला-युगे स्थानमलङ्कृतवती। यथा विश्वस्य समृद्धदेशानां वेधशालाः (आईन्सटाइन वेधशालावत्) अन्तरिक्षगर्भे भूकक्षायां स्थित्वा वेधदृष्टिमन्तरिक्षीयदूरवीक्षणयन्त्रमाध्यमेन गहनान्तरिक्षे विस्तारयन्ति, तथैव भारतीयोपग्रहा अपि भूमेर्प्राकृतिकस्थलानामनुसन्धानेनास्यां दिशि महत्त्वपूर्णामुन्नतिं प्राप्तुम् प्रयतन्ते।

(6) ज्योतिषशास्त्रीयखगोलस्य विविधाः वैज्ञानिकसिद्धान्ताः गणितीयसिद्धान्ताश्च

आधुनिकखगोलविज्ञानस्य बहूनां सिद्धान्तानां बीजानि भारतीयज्योतिषशास्त्रे निहितानि। **Big-Bang Theory** नाम्ना प्रसिद्धस्य खगोलीयसिद्धान्तस्य मूलं सूर्यसिद्धान्तोक्तं ब्रह्माण्डोत्पत्तिविज्ञानमेव। आकर्षणसिद्धान्तस्य आविष्कतृरूपेण यः श्रेयः न्यूटनमहोदयाय पाश्चात्यैः प्रदीयते, तस्याकर्षणसिद्धान्तस्य मूलं ज्योतिषशास्त्रमेव। सूर्यसिद्धान्ते तद्यथा–

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्रिताः।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्याः ग्रहाणां गतिहेतवः॥
तद्भातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम्[30]॥

इत्यनेन रूपेण खगोलीयपिण्डेषु आकर्षणं प्रतिपाद्य सिद्धान्तस्यास्योद्घाटनं कृतं वर्तते। आचार्यभास्करेण सर्वप्रथमतया एकादशशताब्द्यां स्वकृतौ शिरोमणौ आकर्षणसिद्धान्तः प्रतिपादितः। तद्यथा–

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरूं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे[31]॥

खगोलीया काचन अपि घटना दिग्देशकालभेदेन भूगर्भीयपृष्ठीयभेदेन च भिन्नत्वमुपयातीति कृत्वा अयनचलनसिद्धान्तः,नतिलम्बनयोस्संस्कारः बीजसंस्कारश्च ज्योतिर्विद्भिः प्रतिपादितः। न केवलं ग्रहगणिते प्रत्युत् ज्योतिषशास्त्रीयव्यक्ताव्यक्तविशुद्धगणितेऽपि बहुविधाः खगोलीयनियमाः प्रथमतया वैज्ञानिकरीत्या विवेचिताः। तेषु प्रमुखास्सन्ति–

1. खगोले ग्रहयोर्बिम्बान्तरसूत्रनिष्पादनम्।
2. योजनक्रोशेत्यादीनां खगोलीयमापकानां प्रतिपादनम्।
3. त्रैराशिकादारभ्य सप्तराशिकपर्यन्तस्य व्यक्ताव्यक्तगणितस्य विवेचनम्।
4. ज्योत्पत्तिविधिना स्पष्टग्रहस्य भुजज्ञानम्।
5. चलनकलनरीत्या प्रतिक्षणोत्पन्नस्य गतिवैलक्षण्यस्य ज्ञानम्।

6. ज्यामित्या वेधप्रक्रियायां कोणमापनम्।
7. गोलीयरेखीयत्रैकोणमितिकरीत्या ग्रहगणितविवेचनम्।
एते सर्वेऽपि गणितीयविषयाः ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य स्तम्भरूपाः, सर्वैरप्याचार्यैः स्वकृतौ एतेषां ज्योतिर्गणितीयविषयाणां प्रतिपादनं कृतम्।

(7) ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य साम्प्रतिकोपादेयत्वञ्च

एकविंशीशताब्द्यामस्यां सर्वेषां ज्ञानविज्ञानानां प्रयोजनमूलकत्वेनैव सार्थकता वरीवर्ति। ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्योपादेयत्वं सम्प्रति विविधेषु क्षेत्रेषु वर्तते, तत्रैते प्रमुखाः सन्ति–

1. धर्मशास्त्रप्रधाने भारतदेशे सनातनसंस्कृतौ प्राचीनपरम्परायां सर्वेषां संस्काराणां निर्धारणं ज्योतिषशास्त्राधीनाच्छुभाशुभकालवशादेव क्रियते। अत एव ग्रहस्पष्टीकरणमनिवार्यम्,यतो हि–

यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैःस्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्[32]।

अतः सर्वेषां श्रौतस्मार्तकर्मणां विधिसम्मतं प्रतिपादनमेवास्य परमलक्ष्यम्। ग्रहलाघवकारेण गणेशदैवज्ञेनापि 1442तमे शककाले ग्रहस्पष्टीकरणप्रक्रियया प्रत्यक्षत्वं विधाय केन सिद्धान्तेन केषां ग्रहाणां दृश्यादृश्यत्वं जायते इति प्रतिपादितमित्थं यत्–

सौरोऽर्कोपि विधूच्चमङ्ककलिको नाब्जो गुरूस्त्वार्यजो
ऽसृग्ग्राहू च कुजं ज्ञकेन्द्रकमथार्ये शेषुभागः शनिः।
शौक्रं केन्द्रमजार्यमध्यगमिति मे यान्ति दृक्तुल्यतां
सिद्धैस्तैरिह पर्वधर्मनयसत्कार्यादिकं त्वादिशेत्[33]

2. व्यवहारसम्पादनाय अनिवार्यत्वेन शास्त्रीयविशुद्धपञ्चाङ्गस्यावश्यकता भवति, तस्यापि निर्माणं ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानेनैव सुकरम्।
3. खेचराणां खगोलीयस्थितिवशाद् संहिताहोरास्कन्धाभ्यां भौगोलिकवैयक्तिकप्रभावयोर्निधारणं खगोलविज्ञानस्य शास्त्रीयमुद्देश्यम्।
4. कृषिप्रधाने राष्ट्रे खगोलीयस्थितिवशाद् प्रकृतिकविषयाणां वैज्ञानिकतया पूर्वानुमानेन सह चन्द्रशृङ्गोन्नतिवशात् महर्घसमर्घत्वादीनाञ्च ज्ञानम्।
5. अयनचलनवशादृतुचक्रे जायमानानां विसङ्गतीनामपाकरणम्।
6. ग्रहाणां स्थितिवशादयनांशवशाच्च ऐतिहासिकविषयाणां कालनिर्धारणम्।
7. ग्रहणग्रहयुतिग्रहवक्रत्वादीनां निर्धारणं कृत्वा व्यवहारसम्पादनम्।
8. उपग्रहप्रेक्षणेन दूरदर्शकयन्त्रेषु खगोलीयघटनानां प्रत्यक्षीकरणम्।

इत्थं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेण समेषां जीवनस्य दैनन्दिनी गतिः ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानाश्रितेत्यनुभवामो वयं सम्प्रति वृथाविस्तारभयादुपसंह्रियते।

वस्तुतः अनेकेषां वैज्ञानिकविषयाणां आधारभूतमिदं ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञानम्। शोधपत्रेऽस्मिन् समेषां बीजरूपेण सङ्केतः कृतः वेधशालाविज्ञानविषये च कीदृशी ज्योतिषशास्त्रीया महती परम्परा प्राचीनकालतो सम्प्रत्यपि प्रवहमाना विद्यत इत्यैतिहासिकदृष्ट्या ज्ञातुं शक्यते। भवतु नाम नैकानां सिद्धान्तानां तेषां पल्लवनं यान्त्रिके युगेऽस्मिन् भौतिकरासायनिकविद्यया जातं परं मूलतो सर्वमिदं वैदिकविज्ञानरूपम्। सम्प्रत्यपि क्षेत्रेऽस्मिन् अस्माभिर्गवेषणात्मिका दृष्टिरपेक्षिता वर्तते। नूतनग्रहोपग्रहताराणां प्रेक्षणम्, उल्काधूमकेत्वादीनां परीक्षणम्, कृत्रिमोपग्रहाणां गगने निक्षेपणं सम्प्रत्यपि ज्योतिषशास्त्रीयागोलविज्ञानमाश्रित्यैव विधीयते। सम्पूर्णं शोधपत्रमिदं निष्कर्षरूपमतः सारांशौचित्यं स्वपल्पेनैव शब्देन विधाय विरम्यमते लेखप्रयासेन।

सन्दर्भाः

1. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्य गोलप्रशंसायाम् –श्लो.सं.- 06
2. तत्रैव श्लो.सं. -05
3. सूर्यसिद्धान्तस्य मध्यमाधिकारे श्लो. सं.-09
4. यजुर्वेदसंहिता अ. 33/33
5. ऋग्वेदसंहिता 10/123/1.
6. यजुर्वेदसंहिता अ 8। 49
7. अथर्ववेदसंहिता 19/8/1
8. तैत्तिरीयसंहिता 3/4/7/1.
9. यजुर्वेदसंहिता अ0 16 मं. 6.
10. ऋग्वेदसंहिता 5/43/15.
11. ऐतरेयब्राह्मण 3/34
12. ऋग्वेदसंहिता 5/43/13
13. अथर्ववेदसंहिता 11/3/52, 53.
14. ऋग्वेदसंहिता 1/50/11.
15. सामवेदसंहिता प्र. 6 अ.प्र. 3। द. 14/14.
16. अथर्ववेदसंहिता 8/9/6.
17. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कालमानाध्याये –श्लो.सं.- 06
18. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो.सं.- 01-1/2
19. सूर्यसिद्धान्तस्य भूगोलाध्याये -श्लो.सं.-90
20. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो.सं.- 02
21. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो.सं.- 03
22. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो.सं.- 04
23. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्यभुवनकोशे –श्लो.सं.- 2 पूर्वार्द्धे
24. केतकीग्रहगणिते प्रस्तावाधिकारस्य -श्लो.सं.- 07
25. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते अधिमासनिर्णयाध्याये –श्लो.सं.- 27
26. सूर्यसिद्धान्तस्य भूगोलाध्याये -श्लो.सं.-78
27. सूर्यसिद्धान्तस्य स्पष्टाधिकारे -श्लो.सं.-12
28. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य छेद्यकाधिकारे –श्लो.सं.-0
29. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्य यन्त्राध्याये –श्लो.सं.-02
30. सूर्यसिद्धान्तस्यस्पष्टाधिकारे -श्लो.सं.-01-02
31. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्य भुवनकोशे –श्लो.सं.-06
32. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य स्पष्टाधिकारे –श्लो.सं.-01

'वार्णादाङ्गंबलीयो भवति' इत्यस्याः परिभाषायाः ज्ञापकत्वविचारः

आस्तीक द्विवेदी एवं प्रो. बालशास्त्री***

पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम्।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन॥

इति महर्षिणा व्यासेन उक्तं। शब्दशास्त्रमधिगत्य विवेचनस्य पद्धतिद्वयमक्षिगोचरीभवति। तत्रैका अष्टाध्यायीपद्धतिः अपरा च प्रक्रिया पद्धतिः। पद्धतिद्वयस्यापि पन्थानं परिष्कर्त्तुमनेकैश्शाब्दिकैस्तपः स्वाध्यायनिरतैस्ते ग्रन्था निर्मिताः, महतायासेन देशस्य कोणे कोणे प्रचारिताश्च। तत्र प्रथमायाः पद्धतेः परिष्काराय काशिकाभाषावृत्ति प्रमुखा वृत्तिग्रन्थाः, द्वितीयायायश्च पद्धतेः प्रख्यापनाय प्रक्रियाकौमुदीतट्टीकाप्रभृतयो भूयांसो ग्रन्था ग्रथिताः। शब्दानां साधुत्वसमर्थनम्। एवमेव प्रयोगनिष्पत्तौ स्वस्वविधेयमादाय परस्परं विरुद्धानां सूत्रणां विरोधनाशनाय इष्टप्रयोगप्रतिपादनायानिष्टप्रयोगव्यार्वतनाय च तेषां सूत्राणां समुचितार्थपरिष्काराय वा भगवता पाणिना कानिचित् परिभाषासूत्राण्यपि प्रोक्तानि। एवमेव अनेकासां समस्यानां समाधानाय परवर्त्तिन आचार्याः काशचन परिभाषाः सूत्रतो लोकतश्च गवेषयामासुः। तथा चोक्तं परिभाषालक्षणं-संकेतग्राहकभिन्नत्वे[1] सति शब्दधर्मिकसाधुत्वप्रकारकशास्त्रजन्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधे सहकारित्वेन मुन्यभिप्रेतत्वे सति पाणिन्युच्चरितभिन्नत्वं परिभाषात्वम्। व्याकरणशास्त्रस्य तस्य तस्य सम्प्रदायस्य तैस्तैस्वैयाकरणैस्ते परिभाषाविषयकाः ग्रन्थाः विनिर्मिताः, तथापि परिभाषेन्दुशेखरस्य किमप्यपूर्वमेव महत्वं वर्तते इति स्वीकुर्वन्त्येव तत्तत्परिभाषा ग्रन्थपरिशीलनरता विद्वांसः। परिभाषेन्दुशेखरस्य व्याख्यायामस्यां त्रीणि प्रकरणानि सन्ति। शास्त्रत्वसम्पदाकं प्रथमं प्रकरणम्, बाधबीजकथनं द्वितीयम्, शेषार्थकथञ्च तृतीयम्। तत्रैव बाधबीजनामके प्रकरणे सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण शिवभट्ट सुतेन नागेशेन अन्तरङ्ग परिभाषाबाधकत्वेन वार्णादाङ्गंबलीयः एषा परिभाषा उपन्यस्ता। इयं च परिभाषाज्ञापकसिद्धा। अस्याः परिभाषायाः अभ्यासस्याऽसवर्णे इतिसमग्रं सूत्रं ज्ञापकं। प्राचीनाः अत्र सूत्रे असवर्ण ग्रहणं ज्ञापकमाहुः। अनित्यत्वञ्चस्या 'च्छवोशूठ' इतिसूत्रे सतुक् निर्देशगात् ज्ञाप्यते।

परिभाषास्वरूपविचारः

भगवतानागेशेन एतस्याः परिभाषायाः स्वरूपं 'वार्णादाङ्गंबलीयोभवति'[2] एवं प्रकारेण उल्लिखितं। एतस्याः परिभाषायाः स्वरूपं 'व्याडिसङ्-गृहीतपरिभाषापाठेऽपि' इत्थमेव। 'कातन्त्रपरिभाषासूत्रे'[3] एतस्याः परिभाषायाः स्वरूपं वार्णात् प्राकृतं बालीयः एवं प्रकारेण उल्लिखितम्। तेषां मते प्राकृतं इत्यस्य आङ्गमित्येवार्थः। इयं च परिभाषाअसिद्धंबहिरङ्गमन्तरङ्गे इत्यस्याः परिभाषायाः बाधिका। तेन इयाय, इयेष इत्यादि प्रयोगाणां सिद्धिः जायते। यदि असिद्धबहिङ्गमन्तरङ्गे अस्याः परिभाषायाः अनित्यत्वं स्वीक्रियते तदा नास्ति एतस्याः आवश्यकता इति विदुषामभिप्रायः।

परिभाषार्थः

वर्णादाङ्गबलीयो भवति इत्यत्र वार्णादित्यस्य वर्णत्वव्याप्य-धर्मावच्छिन्नोद्देश्य-कादित्यर्थः। आङ्गामित्यस्य अङ्गत्वावच्छिन्नोद्देश्यकमित्यर्थः। अर्थात् वर्णत्वव्याप्यधर्मा वच्छिन्नोधेश्यकशास्त्रस्य अङ्गत्वावच्छिन्नोद्देश्यक-शास्त्रेण बाधो भवति। यथा 'इयाय' इत्यत्र 'इ इ अ' इत्यवस्थायां वर्णत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोधेश्यकशास्त्रस्य 'अकः सवर्णेदीर्घः' इत्यस्य अन्तरङ्गत्वात् प्राप्तिः एवं अङ्गत्वाच्छिन्नोद्देशताकशास्त्रस्य 'अचोञ्णिति' इतिशास्त्रस्य प्राप्तिः। अत्र अन्तरङ्गेऽपिदीर्घएकादेशस्य बहिरङ्गया बृद्धया बाधोभवति।

परिभाषा ज्ञापकत्वविचारः

'अभ्यासस्याऽसवर्णे'[4] इति सूत्रे यद् असवर्णग्रहणमस्ति तदेव एतस्याः परिभाषायाः ज्ञापकं, तद्धि 'इ इष् अतुस्' इत्यत्र सवर्णाच्चपरकत्वे इयङादेश व्यावृत्यर्थं। एतस्याः परिभाषायाः अभावे तु अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं दीर्घे इयङादेशस्य प्राप्तिरेव नास्ति, तद् व्यावृत्यर्थं कृतमसवर्णग्रहणं व्यर्थीभूय एनां परिभाषां ज्ञापयति। ईषतुः इत्यत्र इयङादेशोबहिरङ्गः एवं ऊखतुः इत्यत्र उवङादेशोऽपि बहिरङ्गः। अत एव मूले उक्तं 'इयङुवङौह्यभ्यास सम्बद्धनिमित्तकत्वादेव बहिरङ्गौ। यदि कोऽपि कथयति यद् संज्ञाकृत् अन्तरङ्गबहिरङ्गत्वस्य अनाश्रयणमस्ति, तर्हि अभ्याससम्बन्धनिमित्तकत्वेन इयङुवङोः बहिरङ्गत्वकथनमनुचितमेव। तदा उच्यते अस्माभिः इयङादेशस्य अभ्याससंज्ञाकृत् बहिरङ्गत्व कथने तात्पर्यं नास्ति इति। अपितु अभ्यासाऽवयव इकारस्य इयङ तथा अभ्यासाऽवयव उकारस्य उवङ विधानेन इदमायाति यद् अभ्याससंज्ञा प्रवृत्यनन्तरं एव इयङादिआदेशस्य प्राप्तिः। किन्तु सवर्णदीर्घस्यपूर्वमेव प्राप्तिः, अतः पश्चादुपस्थितिनिमित्तकत्वेन इयङादि आदेशस्य बहिरङ्गत्वं एवं पूर्वोपस्थितिनिमित्तिकत्वेन सवर्णदीर्घस्य अन्तरङ्गत्वं इदमेव तात्पर्यं मूलकाराणाम्। अत्र कथयन्ति- भूतिकाराः[5]- ''द्वित्वप्रयोज्यसंज्ञावन्निमित्तककार्यविधायके द्वित्वप्रयोजकप्रत्ययनिमित्तकत्व नियमः।'' अयमाशयः द्वित्वप्रयोज्यसंज्ञाअभ्याससंज्ञा अभ्याससंज्ञा-निमित्तककार्यमस्ति अभ्यासस्याऽसवर्णे इत्यनेन सूत्रेण इयङादिकार्यं अतः एतादृशकार्ये कर्त्तव्ये द्वित्वप्रयोजकीभूतो यः प्रत्ययः वर्तते तद् निमित्तकत्वं 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इत्यत्राऽपि अतः इयङादेशे 'इ इ अ' इति

---

*शोधच्छात्रः व्याकरणविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।
**शोधनिर्देशक व्याकरणविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

शब्दसमुदायेनिमित्तत्वं, सवर्णदीर्घे 'इ इ' इति शब्दसमुदाये निमित्तत्वं अतः भूतिकारानुसारेण अन्तर्भूतनिमित्तकत्वं अन्तरङ्गत्वं सवर्णदीर्घे वर्तते, एवं बहिर्भूतनिमित्तकत्त्वं इयङादेशे, अतः इयङादेशस्यबहिरङ्गत्वस्य नास्ति अनापत्तिः। न च 'इ इ अ' इत्यवस्थायां अन्तरङ्गमपिसवर्णदीर्घं बाधित्वा तदऽप्राप्तियोग्यऽचारितार्थ्यरूप अपवादत्वात् पूर्वं इयङादि आदेशे इष्टरूपसिद्धौ परिभाषा इयं व्यर्थैव इति वाच्यम् न च वाच्यम्, जौहोत्यादिक ऋधातोः लटितिपिशपिकृते 'ऋ अति' इत्यत्र 'जुहोत्यादिभ्यः'[6] इति सूत्रेण शपः श्लौ कृते 'श्लौ' इति द्वित्वे 'ऋ ऋ ति' इत्यवस्थायां 'उरत्' इत्यनेन सूत्रेण प्राप्त अत्वं बाधित्वा, अर्तिपिपर्त्योश्च'[7] इत्यनेन शास्त्रेण अभ्यासस्य ऋकारस्य इकारे तथा उरणरपरः इत्यनेन रपरत्वं हलादिशेषे च कृते 'इ ऋ ति' इति स्थितौ अभ्यासोत्तरखण्डस्य ऋकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन सूत्रेण गुणे 'उरण्रपरः' इत्यनेन रपरत्वे च कृते 'इ अर् ति' इत्यवस्थायांदीर्घस्य अप्राप्तियोग्ये इयङादेशस्यचारितार्थ्येन इयङादौ दीर्घाऽपवादत्वाऽभावेन अपि तु यणऽपावदत्पस्यैवसत्वेन अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं 'इयाय' इत्यादौ दीर्घो मा भूत् एतदर्थं परिभाषायाः आवश्यकत्वात्।

उपर्युक्तव्याख्यानेन इदमायाति यत् 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सूत्रथ असवर्णग्रहणमेव 'वार्णादाङ्गं बलीयोभवति' इत्यस्याः परिभाषायाः ज्ञापकमिति प्राचीनमताभिप्रायेण। इदानीं नव्यवैयाकरणानां मतं प्रदर्शयामि कथयन्ति ते 'परे तु' इति प्रतीकमादाय एतत्परिभाषाऽभावे 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सम्पूर्णसूत्रमेव व्यर्थं भविष्यति, अतः सम्पूर्णसूत्रस्यैवज्ञापकता लभ्यते न तु 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सूत्रस्थ असवर्णपदमात्रस्य ज्ञापकता। न च इयाय, इयेष इत्यादौ इयङ्विधानार्थं 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सूत्रं आवश्यकं कथं सम्पूर्ण सूत्रस्य वैयर्थ्यम् इति वाच्यम् न च वाच्यम् यतोहि 'इयाय इयेष' इत्यत्र न सूत्रस्य चारितार्थ्यम् कथमिति चेत् शृणवन्तु यदा 'द्विर्वचनेऽचि इत्यस्मिन् सूत्रे ह्रपातिदेशः इति पक्षः स्वीक्रियते तदा 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यस्याऽर्थो भवति 'द्वित्वनिमित्तेऽचि अजादेशः स्थानिवत् द्वित्वे कर्त्तव्ये एतादृशाऽर्थे सति 'इ अ' तथा 'इष् अ' उभयत्र पूर्वं बुद्धिगुणौ भवतः 'ए अ', 'एष् अ' इत्यवस्थायां जाते द्विर्वचनेऽचि इति शास्त्रेण रूपातिदेशपक्षे उभयत्र 'एकारे' इकारस्थितिः क्रियते तदनन्तरं 'लिटिधातोरनभ्यासस्य'[8] अनेन सूत्रेण द्वित्वे कृते 'इ इ अ', 'इ इष् अ' इत्यवस्थायां जाते पुनः प्राप्त बुद्धिगुणौ बाधित्वा अन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घस्य आपत्तिः स्यात्। यदि अत्र दीर्घः स्यात्, तर्हि सम्पूर्णसूत्रस्य वैयर्थ्यं सुतरामेव आगच्छति। अतः सम्पूर्णसूत्रस्यैव ज्ञापकता लभ्यते। यदि कोऽपि पृच्छति 'इयर्ति' इत्येतदर्थं सूत्रस्य आवश्यकता वर्तते। अतः न लभ्यते सम्पूर्ण सूत्रस्य ज्ञापकता, तदा स्वयमेव कथयन्ति मूलकाराः 'तावन्मात्रप्रयोजनकत्वे' उरित्येव ब्रूयात्।' अर्थात् 'इयर्ति इत्यत्राऽपि नास्ति 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इत्यस्य चारितार्थ्यं 'उः' अनेनैव 'इयङादेशः स्यात्, एवं 'न हि एकमुदाहरणं चरितार्थ्यं 'उः' अनेनैव 'इयङादेशः स्यात्, एवं 'न हि एकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' इति भाष्यवचनादपि सम्पूर्णसूत्रस्य वैयर्थ्यं। न च, ए, ऐ, ओ, औ शब्देभ्यः आचारक्विन्तेभ्यः लिटि तिपिणलि द्वित्वे एवं 'ह्रस्वः' इत्यनेन सूत्रेण ह्रस्वे कृते 'इ ए अ' इत्यत्र असवर्णाच्परकत्वेन सवर्णदीर्घस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यं इति प्रश्ने जाते। सम्पूर्णसूत्रस्थ ज्ञापकतावादिनः वदन्ति 'षाष्ठप्रथमाऋिकान्तस्थ' 'दाश्वान् साह्वान्' इति सूत्रस्थ भाष्यप्रामाण्येन एतादृशप्रयोगाणामऽनभिधानमस्ति। तत्रत्य भाष्याशयः वार्णपरिभाषायाः 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इत्यस्यज्ञापकत्वोपपादनावसरे 'अत्यर्थमेतत्-स्याद्'' इत्यनेनऋधातौ एव चारितार्थ्यमुक्तं न तु 'ए, ऐ, ओ, औ, इत्यादिशब्देषु, त्वदुक्तरीत्या यदि 'ए, ऐ, इत्यत्राऽपि अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सूत्रस्य चारितार्थ्यं स्यात्तर्हि 'अत्यर्थमेतत् स्यात् इति भाष्येण सह असङ्गतिः स्पष्टैव।

अतः सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकता एव ज्यायसी। यद्यपि भाष्ये 'यदयमभ्यासस्याऽसवर्णे इत्यसवर्णग्रहणं करोति'[9] इति ग्रन्थेन असवर्ण ग्रहणस्यैव ज्ञापकता लभ्यते, तथापि 'न ह्यन्तरेण गुणबृद्धी असवर्णपराभ्यासोभवतीति तदुपपादनग्रन्थेन सम्पूर्णसूत्रस्यैव ज्ञापकता लभ्यते। अग्रेऽपि नैतदस्ति ज्ञापकमर्त्यर्थमेतत् स्यात् 'इत्यनेन सूत्र सार्थक्यमेव दर्शितम्। असवर्णग्रहणस्यैव ज्ञापकत्वे तु असवर्ण पदस्यैव सार्थक्यं दर्शितं स्यात्, न तु सूत्रस्य सार्थक्यं स्यात्, अतः भाष्यकारोऽपि सम्पूर्ण सूत्रस्यैव वैयर्थ्यं स्वीकुर्वन्ति, अतः सम्पूर्ण सूत्रस्यैवज्ञापकता भाष्याभिप्रेता इति नवीनाः। अधुना इयं शङ्का उत्पत्स्यति 'इयेष' इत्यत्र 'इ इष् अ' इत्यवस्थायां अन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घस्य प्राप्तिरेव नास्ति, अतः 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सम्पूर्ण सूत्रस्य वैर्यथ्यमपि नास्ति। यदि अत्र अन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घः स्यात् तदैव 'इयेष' इत्यादिप्रयोगाणाम् असिद्धिः स्यात् तदैव सम्पूर्णसूत्रस्य वैर्यथ्यं। किन्तु 'इ इष् अ' इत्यत्र सवर्णदीर्घरूपी अन्तरङ्गस्य 'अकृतव्यूहपरिभाषया'[10] वारणं स्यात्। यतो हि अत्राऽस्ति एका सम्भावना 'यदि अत्र दीर्घो न स्यात तर्हि पुगन्तलपूधस्य च' इत्यनेन गुणः स्यात् इति सम्भावनायाः सत्वेन अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेव दीर्घो न भवति अतः 'इ इष् अ' इत्यत्र इयङादेशार्थं 'अभ्यासस्याऽसवर्णे इति सूत्रस्य आवश्यकता वर्तते कथं सम्पूर्ण सूत्रस्य ज्ञापकत्वं स्वीकुर्वन्ति इति प्रश्नः? तदा कथयन्ति सम्पूर्ण सूत्रस्यज्ञापकतावादिनः 'अकृतव्यूहपरिभाषा' नास्ति, अतः नास्ति एतादृशप्रश्नस्य अवसरः यदि अकृतव्यूहपरिभाषा अस्तीति पक्षः स्वीक्रियते तदा कथयन्ति नवीनाः सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकतापरभाष्यप्रमाण्येन 'यत्रान्तरङ्गकार्यप्रवृत्तियोग्यकलोत्तरमेवतन्निमित्तविनाशकबहिरङ्गविधेः'[11] प्राप्तिस्तत्रैव अकृतव्यूहापरिभाषा प्रवर्तते। यथा 'सेदुषः' इत्यस्मिन् प्रयोगे सद् धातोः लिटि आगते तस्य स्थाने 'लिटःकानज्वाकसुश्च' इत्यनेन क्वसु प्रत्यये कृते अनुबन्धलोपे 'सद् वस्' इत्यवस्थायां एव 'वस्वेकाचाद्धसां'[12] इत्यनेन इट् प्राप्नोति एवं 'सेद् वस्' इति समुदायतः शस् विभक्तिमादाय 'भसंज्ञाऽनन्तरमेव 'वसोः सम्प्रसारणं' इत्यनेन सूत्रेण वस्घटकीभूतवकारस्य सम्प्रसारण भविष्यति। अत्र अन्तरङ्गशास्त्र 'वस्वेकाचाद्धसां' इत्यस्य प्रवृत्ति योग्योकालो वर्तते 'सेद् वस्' इति तद्कालोत्तरं सेद् वस् शस् इत्यत्र बहिरङ्गस्य 'वसोः सम्प्रसारणमित्यस्य प्राप्तिः अतः अकृतव्यूहपरिभाषा प्रवर्तते।

किन्तु 'इयेष' इत्यत्र अन्तरङ्गशास्त्रस्य 'अकःसवर्णे दीर्घः' इत्यस्य प्रवृत्ति योग्यो यः कालः 'इ इष् अ' इति अत्रत्यैव बहिरङ्गशास्त्रस्य

'पुगन्तलघूपधस्य'[13] इत्यस्य प्राप्तिः। अतः अत्र अकृतव्यूहपरिभाषा न प्रवर्तते। यतोहिअत्र अन्तरङ्गशास्त्रसमकालमेव बहिरङ्गशास्त्रस्य प्राप्तिः वर्तते। तस्मात् 'इयेष' इत्याद्यार्थं नास्ति सम्पूर्ण सूत्रस्य आवश्यकता तथा च सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकता सुस्थिरा। न च 'इयाय' इत्यादौ 'इ इ अ' इत्यवस्थायां अन्तरङ्गत्वात् दीर्घे सत्यपि 'ई अ' इत्यत्र 'अन्तादिवच्च'[14] इत्यनेन सूत्रेण दीर्घ ईकारे पूर्वान्तवद्भावेन अभ्यासत्वमादाय असवर्णाच्परकत्वेन इयङविधानार्थं सूत्रं चरितार्थमितिवाच्यम्। 'न च ई अ' इत्यत्र 'अचिश्नुधातुभ्रुवां'[15] इत्यनेनैव इयङ सिद्धि अतः नास्ति सूत्रस्य चरितार्थता इति वाच्यम् न च वाच्यम् 'ई अ' इत्यत्र 'अचिश्नुभ्रुवां' इतिशास्त्रेण इयङ न सम्भवति तस्य 'अचोञ्णिति' इतिशास्त्रेण बाधःस्यात्। अतः 'ई अ' इत्यत्र इयङादेश विधानार्थं आवश्यकमस्ति इति वाच्यम् न च वाच्यम् तदा कथयन्ति मूलकाराः[16]- 'प्रत्यासत्याऽसवर्णपदेन अभ्यसोत्तरखण्डसम्बन्ध्यसवर्णाच एव ग्रहणाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षया परिभाषाज्ञापकत्वस्यैव औचित्याच्चेयाहुः।' प्रत्यासत्या अर्थात् उपस्थितत्वात् अभ्यासोत्तरखण्डसम्बन्ध्यसवर्णाच एव ग्रह्यते। यतो हि 'अभ्यासाऽवयव इकारस्य इयङभवति। अभ्याससंज्ञा च द्वित्वविशिष्टधातोः पूर्वभागस्य भवति। तदुत्तरवर्त्तिः यो हि अच् सैव असवर्णाच् पदेन ग्रह्यते न तु 'ई अ' इतिसमुदायघटकीभूतस्य अकारस्य असवर्णाच् पदेन ग्रहणं स्यात्। अकारे अभ्यासोत्तरखण्डसम्बन्धि असवर्णाच्त्वाऽभावात्। अतः 'ई अ' इत्यत्र नास्ति सूत्रस्य चारितार्थ्यं अतः सम्पूर्णसूत्रस्यैवज्ञापकता वर्तते इत्यवधेयम्। मूले आह[17]- 'सा चेयं धर्मिग्राहकमानादाङगवार्णयोः समानकार्यित्व एव।'' कथं ज्ञायते धर्मिग्राहमानादाङगवर्णयोः समानकार्यित्व एव तदा कथयन्ति जयदेवमिश्राः विजयायां समानकार्यित्वं धर्म्मः, 'वार्णादाठबलीयः' इतिपरिभाषा धर्मी अस्याः ग्राहकं मानं प्रमाणं 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इति सूत्रम्। तस्मात् 'धर्मिग्राहकमानाद्।'

अर्थात् अभ्यासस्याऽसवर्णे इस्यस्य प्रवृत्तिः यथा समानकार्यित्वे भवति तद्वदेव अभ्यासस्याऽसवर्णे इत्यनेन ज्ञापितायाः परिभाषायाः अपि समानकार्यित्वे प्रवृत्तिः भवति। समानकार्यित्वे इत्यस्य समानस्थानिकत्वे इत्यर्थः। समानस्थानिकत्वञ्च[18]- वार्णशास्त्रीयस्थानितावच्छेदकधर्मप्रतियोगिता-कपर्याप्त्यनुयोगिता च्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगिभूतस्थानिकत्वं। अर्थात् वार्णशास्त्रीयस्थानिता-वच्छेदकधर्मप्रतियोगिताक पर्याप्त्यनुयोगिता-वच्छेदकीभूतधर्मः आङगशास्त्रीयस्थानितावच्छेद- कधर्मप्रतियोगित-कपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मश्च एको यत्र, तत्र समानस्थानिकत्वं। यथा 'इयाय' इत्यत्र वार्णशास्त्रम् 'अकःसवर्णेदीर्घः' इति, तदीयास्थानितापूर्वरोभयेति त्रितयनिष्ठा, एतत्शास्त्रीयस्थानिताऽवच्छेदकं यथा पूर्वत्वं, द्वित्वं तथा परत्वमपि तादृशपरत्वप्रतियोगिक पर्याप्तनुयोगितावच्छेकीभूतधर्मः इकारवृत्तिः तद् व्यक्तित्व ह्रपः तद्धर्मावच्छिन्नानुयोगिताक-पर्याप्तिः अचत्वप्रतियोगिताकपर्याप्तिः, तादृशपर्याप्तिप्रतियोगिभूतोधर्मः अच्त्वम्, तद्धर्मावच्छिन्नस्थानिताकत्वम् अचोञ्णिति इति शास्त्रस्य। अतः अकःसवर्णेदीर्घः इति वार्णशास्त्रे तथा अचोञ्णिति इति आङ्गशास्त्रे समानस्थानिकत्वं आगच्छति। एतादृशी स्थितिः यत्र वार्णाङगकार्ये सम्भवति तत्रैव इयं परिभाषा प्रवर्तते। अतः अत्र अन्तरङगमपि वार्णकार्यं बाधित्वा बहिरङ्ग आङ्गकार्यं प्रर्वतते, तेन इयाय इत्यादीनां सिद्धिः भवति। यत्तु समाननिमित्तकत्वरूपसमानाश्रयत्व एवैषेति। तन्न, ज्ञापितेऽपि 'इयायेयेषैत्याद्यसिद्धेः सूत्रवैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वाच्च। यतो हि 'इ इ अ' इत्यत्र अकः सवर्णेदीर्घः इति शास्त्रस्य निमित्तमस्ति पर इकारः एवं अचोञ्णिति शास्त्रय निमित्तंमस्ति अकारः, अतः विभिन्नमित्तकत्वेन अत्र 'वार्णादाङबलीयः' इत्यस्याः परिभाषायाः प्रवृत्ति न स्यात् तदा 'इयाय' इत्यादिप्रयोगाणामऽसिद्धिः स्यात् तर्हि परिभाषा स्वीकारेऽपि सूत्रस्य वैयर्थ्यं स्यात्। अतः धर्मिग्राहकमानादेव समानस्थानिकत्वे एव इयं प्रर्वतते, न तु समाननिमित्तकत्वह्रप-समानाश्रत्वे इत्येव मन्तव्यम्। न च 'इयाय' इत्यादौ अनया परिभाषया सवर्णदीर्घात् पूर्वं वृद्धिकृतेऽपि 'इयाय' इति प्रयोगो दुर्लभैव अत्र 'इ इ अ' इत्यवस्थायां अचोञ्णिति इत्यनेने इकारस्य बृद्धौ 'इ ऐ अ' तदनन्तरम् एचोऽयायवायावः' इति सूत्रेण आयादेशे 'इ आय अ' इत्यवस्थायां जाते असवर्णाच्परकत्वेन अभ्यासस्याऽसवर्णे इत्यनेन इयङादेशोभवति तदा 'इयाय' इत्यस्य सिद्धिः भवति। किन्तु अभ्यासस्याऽसवर्णे इत्स्यस्य प्राप्त्यवस्थायां एव 'अचः परस्मिन्न पूर्व विधौ'[19] इत्यनेन स्थानविद्भावे सति 'आय्' इत्यत्र इकारबुद्धौ कथं असवर्णाच्परकत्वाऽभावेन इयङादेशस्य प्रवृत्तिः।

अतः इयाय इत्यत्र इयङादेशो दुर्लभः एव इति पूर्वपक्षः। अस्मिन्नेव पूर्वपक्षेकोऽपि अवान्तरपूर्वपक्षमुपस्थापयति यत् आयादेशे स्थानिवद्भावेन ऐकारबुद्धिः भविष्यति न तु इकार बुद्धिः कथं 'इयाय' इयङादेशः दुर्लभः इति वाच्यम् न च वाच्यम् 'स्थानिवदित्यत्र स्थानिपदेन'[20] स्थानिस्थानि आपि ग्रह्यते। तथा च आयादेशः स्वस्थानिस्थानिवृत्तिधर्मवान् स्यात् अतः यत्र आय स्थानिभूतः ऐकारः तस्य स्थानिभूतः इकारः तद्वृत्तिधर्मः सवर्णाच्त्वह्रपोधर्मः तद्धर्मवान् आयादेशः अतः 'इयाय' इत्यत्र न इयङादेशस्य प्राप्तिः। स्थानिवद् घटकीभूतेन स्थानिपदेन एतादृशार्थस्वीकारे तु 'धात्वन्तयकोस्तु नित्यम्' इति वार्तिकमेव मानं तद्धि 'सुनयिका' इत्यत्र नित्यमित्वं यथा स्यात् इत्येतदर्थं। 'सुनियका' इत्यत्र णीञ् धातोः पचाद्यच् सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति गुणे अयोदेशे नय शब्दः निष्पन्नः, सु शोभनः नयः यस्याः सा सुनया, ततः स्वार्थे कः, केऽणः इति ह्रस्वः, पुनष्टाप सुनयका शब्दः निष्पन्नो भवति, अत्र नय घटकीभूतेयकारे स्थानिस्थानिवृत्ति धर्मस्य धातुत्वह्रपस्य अतिदेशोभवति तदा एव यकारस्य धात्वन्त यकारंस्वीकृत्य 'धात्वन्तयकोस्तुनित्यम्' इत्यनेन नित्यं इत्वं स्यात् अन्यथा 'उदीचामातःस्थानेयक' इत्यनेन इत्वविकल्पो स्यात्। इत्थञ्च उपर्युक्त व्याख्यानेन इदमायति यत् परिभाषा स्वीकारेऽपि 'इयाय' इत्यत्र इयङादेशो दुर्लभः एव तदा कथयन्ति मूलकाराः- 'सूत्रारम्भसामर्थ्या-देवस्थानिवत्वाऽप्रवृत्तेः।'[21] अर्थात् अभ्यासस्व्याऽसवर्णे इति सूत्रस्थ उदाहरणेषु यदि 'स्वस्थानिस्थानिसदृशोऽपि आदेशः स्यात् तर्हि अस्य सूत्रस्य कुत्राऽपि प्रवृत्तिः न स्यात् तदा सूत्रस्य वैयथ्यं स्यात् व्यर्थं सत् ज्ञापयति यत्-अभ्यासकार्ये तदुत्तरखण्डादेशस्य तत्कार्यप्रतिबन्धकीभूतस्थानिवत्वं नेति। इदं च ज्ञापकं सामान्यापेक्ष ज्ञापकं न तु अभ्यासस्याऽसवर्णे इति सूत्रविषयकं विशेषापेक्षज्ञापकं। एतादृशज्ञापकत्वाश्रयणेन 'इयाय' इत्यत्र

इयङादेशह्रपअभ्यासकार्ये तदुत्तरखण्डादेशस्य आय् आदेशस्य तत्कार्य अर्थात् अभ्यासकार्य प्रतिबन्धकीभूतस्थानिवद्भावस्य निषेधात् 'इ आय् अ इत्यवस्थायां इयङादेशः असवर्णाचपरकत्वाद् स्यादेव, नास्ति इयङादेशस्य अनापत्तिः। अस्यज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वे एव 'आरति' इत्यत्र ऋ धातोः सूचिसूत्रिमूत्र्यटर्त्यशूणोतिभ्योयङ्वाच्यः इत्यनेन वार्तिकेण यङप्रत्यये ऋ यङ् इतिस्थिते यङोऽचि च इत्यनेन यङ् लुकि सनाद्यन्ताः धातवः इत्यनेन धातुत्वे ततः लटो ज्ञे प्रत्ययलक्षणेन द्वित्वे 'ऋ ऋ अति' अभ्यासस्य रूगागमे एवं अभ्यासोत्तरखण्डस्य ऋकारस्य यणिकृते 'अर र अति' इत्यवस्थायां जाते रेफलोपे 'अ र अति' इत्यत्र 'ढ्रेलोपेपूर्वस्यदीर्घोऽणः' इत्यनेन दीर्घे कर्त्तव्ये यणादेशस्य स्थानिवत्वं न भवति। यतो हि यणादेशस्य स्थानित्वं दीर्घरूपीअभ्यासकार्यस्य प्रतिबन्धकं अतः सामान्यपेक्षज्ञापकत्वे उक्तस्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधेन दीर्घ सिद्धिः। प्रतिबन्धकीभूत-निवेशस्य फलमस्ति 'अरिय्रियात्' इत्यस्य सिद्धिः। तत्र हि यङलुगन्त ऋधातोः आशिषि लिङि, धातोः द्वित्वे, अभ्यास्यस्य उरदत्वे हलादिशेषे एवं ऋतश्च इत्यनेन रिगागमे 'अरि ऋ यात्' इत्यवस्थायां जाते असवर्णाच्परकत्वेन इकारस्य इयङादेशो प्राप्तः एव असवर्णाच्भूत ऋकारस्य 'रिङश्यगलिङक्षु' इत्यनेन ऋकारस्य स्थाने रिङादेशो प्राप्तः तत्र परत्वात् रिङादेशे अरिरियात् इत्यवस्थायां जाते रिङादेशो स्थानिवद्भवति तथा च 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' इत्यनेन इयङादेशे 'अरिय्रियात्' इत्यस्य सिद्धिः भवति। अत्र स्थानिवद्भावो न अभ्यासकार्यस्य प्रतिबन्धकः अपितु अभ्यासकार्यस्य सम्पादको वर्तते। अतः स्थानिवद्भावो भवत्येव।

परिभाषायाः अनित्यत्वविचारः

'च्छवोःशूठनुनासिके'[22] इत्यस्मिन सूत्रे सतुग् निर्देशात् कल्प्यते इयं परिभाषा अनित्या। सतुग् निर्देशस्तु तुग्विशिष्टस्य स्थाने शकरार्थं, यदि इयं परिभाषा नित्यास्यात् तर्हि 'प्रछ्ता' इत्यवस्थायामेव आङ्गकार्यंच्छवोशूडनुनासिके' इत्यनेन पूर्वमेव स्यात् तदाछकारस्याऽभावात् तुगागमस्य प्राप्तिः एव नास्ति सतुग् निर्देशो व्यर्थः, व्यर्थंसत् ज्ञापयति इयं परिभाषा अनित्यास्ति। अनित्यत्वे सति 'प्रछ्ता' इत्यत्र अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं तुगादेशः स्यात्। तुगविशिष्टस्य स्थाने यतः शकारादेशः स्यात् एतदर्थं सतुग् निर्देशः स्वांशे चरितार्थः। यदि उच्यते यत् आङ्गवर्णयोः समानस्थानिकत्वे एव इयं प्रवर्तते इति, तर्हि 'प्रछता' इत्यत्र आङ्गकार्यं छकारस्य प्राप्त एवं वार्णकायं तुगागमः ह्रस्वस्याऽवर्णस्य प्राप्तं कथमत्र आङ्गवर्णयोः समानस्यानिकत्वं येन परिभाषा प्रर्वतेत्। तथा च सतुग् निर्देशेन परिभाषायाः कथं अनित्यत्वं कल्पयते। तदाकथयन्ति यत् समानास्थानिकत्वे इयं न तु विभिन्नस्थानिकत्वे इत्यनेनैव गम्यते यत् इयं परिभाषा अनित्या इत्येव तात्पर्यमिति अवधेयम्।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भूति टीका, म0म0 श्रीतात्याशास्त्रिणः, प्रकाशकः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-2001
2. परिभाषेन्दुशेखरः, नागेशभट्टकृतः, प्रकाशकः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2001
3. सर्वमङ्गला टीका, श्रीशेषशर्मसूरिविरचिता, प्रकाशकः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय, प्रकाशन
4. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
5. भूति टीका, म0म0 श्रीतात्याशास्त्रिणः, प्रकाशकः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2001
6. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः, मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
7. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः, मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
8. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः, मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
9. व्याकरणमहाभाष्यम्, पतञ्जलिकृतम्, प्रकाशकः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1996
10. परिभाषेन्दुशेखरः, नागेशभट्टकृतः, प्रकाशकः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2001
11. परिभाषेन्दुशेखरः, नागेशभट्टकृतः, प्रकाशकः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2001
12. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः, मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
13. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः, मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
14. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनिमुनिप्रणीतः, प्रकाशकः, मन्त्रीरामलालक-पूरट्रस्ट, 2001
15. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः- पाणिनिमुनिप्रणीतः- प्रकाशकः- मन्त्रीरामलालकपूरट्रस्ट, 2001
16. परिभाषेन्दुशेखरः- नागेशभट्टकृतः- प्रकाशकः- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-2001
17. परिभाषेन्दुशेखरः- नागेशभट्टकृतः- प्रकाशकः- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-2001
18. तत्वप्रकाशिकाटीका- श्रीमोकटेशस्त्रिणः- प्रकाशकः- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
19. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः- पाणिनिमुनिप्रणीतः- प्रकाशकः- मन्त्रीरामलालकपूरट्रस्ट, 2001
20. विजयाटीक- श्री जदेवशर्मामिश्रः- प्रकाशकः- चौखम्बा विद्याभवन
21. परिभाषेन्दुशेखरः- नागेशभट्टकृतः- प्रकाशकः- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-2001
22. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः- पाणिनिमुनिप्रणीतः- प्रकाशकः- मन्त्रीरामलालकपूरट्रस्ट, 2001

अद्वैतपरम्परायां संक्षेपशारीरकम्

ब्र0 वाचस्पति कुमारः एवं प्रो. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रः***

अनादाविह संसारे सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखञ्चानुभवन्ति सर्वे जीवाः। न वाञ्छन्ति दुःखनुभवम्। अनभीप्सितस्यास्य दुःखस्यानुभवे कारणं नानाजन्मार्जितवृजिनव्यूह एव। वृजिनञ्चागमैर्निषिद्धानां कर्मणामनुष्ठानेन। निषिद्धानुष्ठाने च रागद्वेषौ हेतू भवतः। रागद्वेषयोश्च हेतुः मोहो मिथ्याज्ञानम्।

''अतस्मिँस्तद्बुद्धिरेव''[1] मिथ्याज्ञानम्। शरीरेन्द्रियादिष्वात्मतादात्म्यबुद्ध्युदयो हि सर्वानर्थहेतुः। आत्मा च सच्चिदानन्दस्वरूपोऽप्यनेनाभिमानेन दुःखमनुभवन्ति प्राणिनः। तस्य दुःखस्य परिहार आत्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञाननैव ''ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति''[2] 'तरति शोकमात्मवित्'[3] ''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''[4] इत्यादि श्रुतिबलाद्।

आत्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानं वेदान्तविचारतः सम्भवति, ''तत्र वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च''[5]

अर्थात्तज्ज्ञानमुपनिषद्विचारतो भगवद्बादरायणप्रणीतसूत्रविचारतश्च सम्भवति।

प्रसिद्धमेवाखिलेऽपि भारतवर्षे यत् श्रीबादरायणापराभिधानवेदव्यासमहर्षिप्रणीतं श्रीब्रह्मसूत्रं मुमुक्षपुरुषसर्वस्वमिति। अत एव न्यायरत्नावल्यां श्री गौडब्रह्मानन्देनाप्युक्तम्- ''वेदान्तदर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमम्।''[6]

ब्रह्मसूत्रे अतिसंक्षेपेण परब्रह्मस्वरूपस्य तत्प्राप्तिसाधनस्य तथा तदुपासनायाः ब्रह्मविज्ञानफलस्य च साङ्गोपाङ्गनिरूपणं कृतं वर्तते। तथा च 'सूचनात् सूत्रमित्याहुः' अतः व्यासप्रणीतसूत्रं ब्रह्मसूत्रं कथ्यते। ब्रह्मसूत्रे वेदस्यान्तिमभागस्य मीमांसा (विचारो) भवति, अत उत्तरमीमांसपि कथ्यते।

ब्रह्मसूत्रकारो वेदविभागकरणादिति, बदरिकाश्रमनाम्ना प्रथिते बदरवृक्षप्राचुर्याद् बादरसंज्ञिते तपोवने निवासाद् बादरायण इति च सुप्रसिद्धस्य श्रीमन्नारायणज्ञानशक्त्यवतारभूतस्य भगवतः श्रीकृष्णद्वैपायनमहर्षेः कर्तुः निरूपणपरेण नाम्ना व्याससूत्रमिति बादरायणसूत्रमिति च व्यापदिश्यते।

ब्रह्मसूत्रं, ब्रह्ममीमांसा, शारीरकम्, शारीरकमीमांसेति च प्रतिपाद्यनिरूपणपरैर्नामभिर्निर्दिश्यते भाष्यवृत्त्यादिषु प्राचीनेष्वर्वाचीनेषु च बहुषु ग्रन्थेषु।

''शरीरमेव शारीरकम्। शरीरके भवः शारीरको जीवः। तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकः। तदिह वेदान्तानां जीवस्य तत्त्वमधिकृत्य प्रवृत्तायां ब्रह्मरूपतायां पर्यावसानमिति कथयितुं प्रणीतानां सूत्राणां शारीरकं जीवतत्त्वमधिकृत्य कृतत्वमस्तीति शारीरकाभिधानम्''[7], इति श्रीपद्मपादाचार्यप्रणीतायां पञ्चपादिकायामस्ति। ''शरीरमेव शरीरकं तत्र निवासी शारीरको जीवात्मा, तस्य त्वम्पदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेयपरमात्मरूपतामीमांसा या सा तथोक्ता'', पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः।

परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता।[8] इति श्रीवाचस्पतिमिश्रप्रणीतायां भामत्यां च शारीरकभाष्यटीकायां क्रमेण शारीरकं शारीरकमीमांसेति नामद्वयं कृतनिर्वचनम्।

ब्रह्ममीमांसाया ब्रह्मविषयिण्या एव शारीरकं शारीरकमीमांसेति प्राचीनार्वाचीनसर्वग्रन्थकारसम्प्रतिपन्नं नामद्वयं शारीरकस्य जीवस्यैव शोधितं तत्त्वं ब्रह्मस्वरूपमिति जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यकम्। तस्मिंश्च ब्रह्मसूत्रे अध्यायाश्चत्वारः क्रमेण सन्ति। यथा-समन्वयाध्यायोऽविरोधाध्यायः साधनाध्यायः फलाध्यायश्चेति। तत्र प्रत्यध्यायं पादाश्चत्वारो मिलित्वा षोडशपादाः, तेषु च पञ्चपञ्चाशदधिकपञ्चशतसंख्याकैः सूत्रैरेकनवत्युत्तरशतसंख्याकान्यधिकरणानि रचितानि। अत्राधिकरणव्यवस्था तु पञ्चपादिकारकारेण व्यवस्थापिता। तस्य ब्रह्मसूत्रस्य संक्षेपं मन्दबुद्धिभिर्दुर्ज्ञेयतां नास्तिकप्रवरैर्बौद्धादिभिरन्यथिततां च दृष्ट्वा भगवन्त आचार्यशङ्करपादास्तत्त्वदर्शनेन सकलमुमुक्षुकल्याणकामनया नास्तिकमतखण्डनपुरस्सरं शारीरकमीमांसाभिधं भाष्यं व्यरचयन्।

इह लोके भगवान् शिव एव आचार्यशङ्कररूपेणावतीर्णः। तद् विषये लोकश्रुतप्रमाणमपि वर्तते।

यथा–

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात्कैवल्यनायकः॥[9] इति

तथा च तेषामीश्वरत्वेऽन्यदपि प्रमाणम्।
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।[10]

आचार्येण द्वात्रिंशदवस्थायामेवानुपमं कार्यं कृतम्। यथा श्रूयतेऽपि तद्विषये–

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात॥[11] इति।।

---

*शोधच्छात्रः वैदिकदर्शनविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।
**आचार्य, वैदिकदर्शनविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

सुधीभिः भाष्यलक्षणं कृतम्–

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥[12] इति।

श्रीवाचस्पतिमिश्रेण स्वभामत्यां शाङ्करभाष्यस्य भूरिशः प्रशंसा कृता।

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते॥[13]
आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मादादीनाम्।
रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति॥[14] इत्यादिरूपेण।

तस्यापि शाङ्करभाष्यस्य गाम्भीर्यस्य मन्दधिषणैः दुर्ज्ञेयता क्वचिच्च मुमुक्ष्वजिज्ञास्यसविशेषब्रह्मोपासनावाक्यविचारविक्षिप्ततया दुरवबोधतामाकलय्य तद् विक्षेपपरित्यागेन मुमुक्षुजिज्ञास्यं निर्विशेषं ब्रह्म अनायासेन मुमुक्षुबोधाय 'संक्षेपशारीरकाख्यो' ग्रन्थो वार्तिकरूपः प्राणायि तत्र भवता श्रीसर्वज्ञात्माख्यमुनिना।

ग्रन्थेऽस्मिन् ग्रन्थकर्तुरतिस्पष्टः प्रमेयविचारः तर्ककर्कशबुद्धिमतो मुक्ताभिनिवेशान् विरचयन् सबहुमानमठीकारयति युक्तिपाटवेन स्वप्रतिपाद्यं प्रतिवादिभिः। असाधारणोऽयं ग्रन्थोऽतो बह्वीभिष्टीकाभिरलङ्कृतोऽपि विभाति। स्वयं ग्रन्थकाराः स्वग्रन्थं शाङ्करभाष्यस्य वार्तिकप्रकरणादिरूपेण स्वीकुर्वन्ति-

शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासात्, नारायणस्मरणतश्च निरन्तरायः।
शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानं, संक्षेपतः प्रकरणं करवाणि हृष्यन्॥[15]

आचार्यशङ्करेण प्रचारिताद्वैतवादस्य परिपोषणं परिवर्धनञ्चास्य ग्रन्थस्य परमप्रयोजनमस्ति।।

अस्मिन् ग्रन्थे आद्येषु चतुर्षु श्लोकेषु पूर्णप्रतिपाद्यविषयस्यैकात्मत्वस्य जीवब्रह्मणोरैक्यस्य च निरूपणं कृतं वर्तते। अत्रापि शाङ्करभाष्यानुसार-मेवाध्यायविभाजनमपि कृतं ग्रन्थकारेण।

किञ्च वेदान्तदर्शने (ब्रह्मसूत्रे) यथा प्रथमसूत्रे त्वम्पदार्थरूपोऽधिकारिणः वर्णनमस्ति, द्वितीयसूत्रे ईश्वरस्य जगत्कारणतायाः प्रतिपादनमस्ति तथा च तस्यैव व्याजेन तत्पदार्थस्यापि निरूपणमस्ति, तृतीयसूत्रे प्रमाणस्योपन्यासो वर्तते, एवं च चतुर्थसूत्रे जीवब्रह्मणोरैकान्तिकैकतायाः निरूपणमस्ति। प्रतिपाद्यविषयाणामेतेषां विभाजनं भागद्वयरूपेण भवितुं शक्यते प्रमेयरूपेण प्रमाणरूपेण चेति।

तत्र प्रमेयोऽपि त्रिधा भवति–

1. त्वं पदार्थरूपप्रमेयः
2. तत्पदार्थरूपप्रमेयः
3. अखण्डार्थपदार्थरूपप्रमेयश्चेति।

एतेषामेवाद्वैतदर्शनसम्मतानां विषयाणां प्रतिपादनं संक्षेपशारीर-कस्याद्यैश्चतुर्भिश्लोकैः कृतं ग्रन्थकारेण संक्षेपशारीरककारेण श्रीसर्वज्ञात्ममुनिना। अस्य संक्षेपशारीरकाख्यग्रन्थस्य बहुवैशिष्ट्यमपि दृश्यते। यथात्र संक्षेपशारीरककाराः स्वीकुर्वन्ति। यत्–

केवलं महावाक्यादेवात्मसाक्षात्कारो भवति न तु श्रवणादिना। तेन तु केवलमसम्भावनादिप्रतिबन्धकानामेव निवृत्तिर्जायते। यथा–

पुरुषापराधमलिना धिषणा, निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा–

न फलाय भर्च्छुविषया भवति, श्रुतिसम्भवापि तु तथात्मनिधीः॥
पुरुषापराधविगमे तु पुनः, प्रतिबन्धकव्युदसनात् सफला
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा, सति पावकाद् भवति धूमलता
पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः, सकलो विचार इति वेदविदः
अनपेक्षतामनुपरुध्य गिरः, फलवद्भवेत् प्रकरणं तदतः
पुरुषापराधशतसंकुलता, विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः
स्वमेव वेदशिरसो वचनादथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफला[16]

तथा च जगत उपादानकारणत्वं शुद्धब्रह्मण्येव स्वीकुर्वन्ति संक्षेपशारीरककाराः। यथा–

साभासमेतदुपजीव्य चिद्द्वितीया, संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः
साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे, द्वारं परं भवति कारणता दृश्स्तु॥[17]
निमित्तं च योनिश्च यत्कारेण तत्, परं ब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः।
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः, कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिबाह्यम्॥[18]

एवञ्च जीवेश्वरयोः स्वरूपविचारप्रसंगे कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः इति श्रुत्यनुरूपमेवान्तःकरणरूपकार्ये प्रतिबिम्बितचैतन्यं जीवः तथा चाविद्यारूपकारणे प्रतिबिम्बितचैतन्यमीश्वरो भवति–

मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वं कार्योपाधेर्जीवता च प्रतीचः।
मिथ्यैव स्याद् बन्धुजीवप्रसूनसम्पर्कोत्था रक्ततेवाभ्रकादेः॥[19]

अद्वैतश्रुतिभिः सह प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणानां यद्विरोधो दृश्यते तस्यापि परिहारः संक्षेपशारीरककारैः विशिष्टरीत्या कृतः।

अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः।
न प्रत्यगात्मविषयादपरस्य तच्च मानस्य सम्भवति कस्यचिदत्र युक्त्या॥[20]
अज्ञातमर्थमवबोधयितुं न शक्तं एवं प्रमाणमखिलं जडवस्तुनिष्ठम्
किं त्वप्रबुद्धपुरुषं व्यवहारकाले संश्रित्य सज्जनयति व्यवहारमात्रम्॥[21]

तथा च स्वाप्नपदार्थानामधिष्ठानमनवच्छिन्नचैतन्यमुदहङ्कारावच्छिन्नचैतन्यं वा?

अत्र ग्रन्थकाराः स्वाप्नपदार्थानामधिष्ठानमनवच्छिन्नचैतन्यमेव स्वीकुर्वन्ति। यथा–

अपरोक्षरूपविषयभ्रमधीरपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत्।
मनसः स्वतो नयनतो यदि वा स्वप्नभ्रमादिषु तथा प्रथितेः॥[22]

एवं च तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।।[23]

इयं श्रुतिः विविदिषायां द्वयोर्नित्यानित्ययोर्विनियोगो (उपयोगो) भवतीति प्रतिपादयतीति ग्रन्थकृदभिप्रायः। यथा–

एकाहाहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभाव-

ध्वस्तस्वान्तोपरोधाः कथमपि पुरुषाश्चिद्दिदृक्षां लभन्ते।
यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याम्नानसिद्ध पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति॥[24]

अतोऽद्वैतपरम्परायां श्रीशङ्कराचार्यप्रसारितमद्वैतदर्शनस्यात्यन्तोपकारकमिदं श्रीसर्वज्ञात्ममुनिविरचितं संक्षेपशारीरकाख्यग्रन्थरत्नमित्यवगम्यते।

सन्दर्भाः

1. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्येऽध्यासभाष्यम्
2. छान्दोग्योपनिषद्, 2-23-1
3. छान्दोग्योपनिषद्, 7-1-3
4. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 6-15
5. वेदान्तसारः, प्रकाशकः, खेमराज श्रीकृष्णदास, पृ. 7
6. न्यायरत्नावली टीका (सिद्धान्तबिन्दुः), सम्पादकः, त्रयम्बकराम-शास्त्रीभट्टः, पृ. 2
7. पञ्चपादिका, सम्पादकः, डॉ. किशोरदासस्वामी, पृ. 216
8. भामती टीका (ब्रह्मसूत्रम्), सम्पादकः, वासुदेवशर्मा, कृष्णदास संस्कृत अकादमी, वाराणसी. पृ. 45-46
9. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-आमुखम्, टीकाकारः, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, पृ. 7
10. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-टीकाकारकृतमठलाचरणम्, टीकाकारः, स्वामीसत्यानन्दसरस्वती, पृ. 1
11. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-आमुखम्, टीकाकारः-स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, पृ. 8
12. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (प्रस्ताविकं वक्तव्यम्), टीकाकारः-स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, पृ. 12
13. भामती टीका-मंगलाचरणम्, श्लोक-6
14. भामती टीका-मंगलाचरणम्, श्लोक-7
15. संक्षेपशारीरकम्, 1-10
16. संक्षेपशारीरकम्, 1-14, 15, 16, 17
17. संक्षेपशारीरकम्, 1-323
18. संक्षेपशारीरकम्, 1-532
19. संक्षेपशारीरकम्, 3-148
20. संक्षेपशारीरकम्, 2-8
21. संक्षेपशारीरकम्, 2-21
22. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1-41
23. संक्षेपशारीरकम्, 4-4-22
24. संक्षेपशारीरकम्, 1-64

●

व्याकरणमते एकार्थीभावविचारः

संदीपकुमारदुबे एवं प्रो. बालशास्त्री***

व्याकरणसम्प्रदाये समासस्य 'समसनं समासः' इति लक्षणं श्रूयते, एवं च वैयाकरणभूषणसारस्य व्याख्यानभूतायां प्रभाटीकायां समासशक्तिनिर्णयस्य निरूपणावसरे ''समासत्वं च - पाणिन्यादिसङ्केतसम्बन्धेन समासपदवत्त्वरूपम्, एकार्थीभावापन्नपदसमुदायविशेषत्वं वा'' इत्युपलभ्यते। दर्पणव्याख्यायामपि ''समासत्वं च शक्तिसम्बन्धेन समासपदवत्वम्, एकार्थीभावापन्नपद-समुदायविशेषो वा'' इत्यपि लभ्यते।

समासस्य षड्विधत्वमुच्यते भूषणकारैः, यथा–

सुपां सुपा तिङ्गा नाम्ना धातुनाऽथ तिङ्गां तिङ्गा।
सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥ (वै.भू.,28)

प्रभाकारास्तु ''तथा च सुबन्तप्रतियोगिकसाहित्यविशिष्ट-सुबन्तनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टः समास एकः। तिङन्त-प्रतियोगिक-साहित्यविशिष्टसुबन्तनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टो द्वितीयः। नामप्रतियोगिकसाहित्य-विशिष्टसुबन्तनिरूपितवृत्तित्व-विशिष्टस्तृतीयः। धातुप्रतियोगिकसाहित्य-विशिष्टसुबन्तनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टश्चतुर्थः। तिङन्तप्रतियोगिकसाहित्यविशिष्ट-तिङन्तनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टः पञ्चमः। सुबन्तप्रतियोगिकसाहित्यविशिष्ट-तिङन्तनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टः षष्ठः। अत्र साहित्यञ्च सङ्केतसम्बन्धेन समासशब्दवत्त्वरूपगुणकृतम्, अपर्याप्त्या उभयमपि समासपदवद्'' इति वदन्ति।

ते हि सुपां सुपा – राजपुरुष इति, राज्ञः पुरुषः इत्यत्र षष्ठी (तत्पुरुषः) समासः। सुपां तिङ्गा-पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत् इति, अत्र 'कुगतिप्रादयः' (2-2-18) इति सूत्रस्थ 'गतिमतोदात्तवतातिङ्गाऽपि समासः' इति भाष्यवार्तिकेन समासो भवति। वार्तिकमिदन्तु सिद्धान्तकौमुद्यान्नोपलभ्यते। सुपां नाम्ना - कुम्भकारः इति अत्र 'उपपदमतिङ्ग' (2-2-19) इत्यनेन समासो भवति। सुपां धातुना- कटप्रू इति, अत्र गत्यर्थक 'प्रुङ्' धातोः कर्तरि क्विपि प्रत्ययः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (3-2-178) इति सूत्रस्थ ''क्विब्वचिप्रच्छयायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घश्च'' इति भाष्यवार्तिकात् समासो दीर्घश्च भवति। तिङ्गां तिङ्गा - पिबतखादता इति, पिबत खादत इति व्यवहारो यस्यां क्रीडायां सा 'पिबतखादता' इति। अत्र मयूरव्यंसकादिगणस्थ 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' इत्यनेन समासो भवति। तिङ्गां सुपा-जहिस्तम्भः इति, अत्र मयूरव्यंसकादिगणस्थ 'जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति' इत्यनेन समासो भवति।

समासस्य प्रकारः नास्ति सार्वत्रिकोऽयम्, अस्योपरि भूषणे एव विस्तृतो विचारः भाष्यादि मतानुसारेण कृतो वर्तते। मञ्जूषायामपि अस्य विषयस्योपरि सिद्धान्तस्य स्फोरणं विद्यते परन्तु विस्तरभिया प्रभाकारैर्यदुक्तं वर्तते, तस्य संक्षेप इह प्रस्तूयते– ''नेदं षड्विधत्वं केनापि स्वीकृतम्। अत एव मंजूषाकाराः समासो द्विधा– विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः– सुप्सुपेति विहितः। तद् (विशेषसंज्ञा) युक्तश्च। अन्त्यश्चतुर्धा, अव्ययीभाव – तत्पुरुष-बहुव्रीहिं - द्वन्दभेदात्। अव्ययीभावत्वादि च पाणिन्यादिसङ्केतसम्बन्धेना-व्ययीभावादिपदवत्वमेवेति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती'' इति। समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः। अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्दाधिकारवहिर्भूतानामपि ''सह सुपा'' (2-1-4) इति समासविधानात्'' इति सर्वसमासशेषप्रकरणे सिद्धान्तकौमुद्यां मूले वर्तते। तथा चोक्तं भूषणे–

समासस्तु चतुर्द्धेति प्रायोवादस्तथा परः।
योऽयं पूर्वपदार्थादिप्राधान्यविषयः स च॥29॥
भौतपूर्व्यात् सोऽपि रेखगवयादिवदास्थितः॥29॥

चतुर्था अव्ययीभाव-तत्पुरुष-द्वन्द-बहुव्रीहिभेदात्। अयं प्रायोवादः, 'भूतपूर्वः', 'दृन्भूः' (कराभूः), 'आयतस्तूः', 'वागर्थाविव', इत्याद्यसङ्ग्रहात्'' इति।

एकार्थीभावविचारः

भगवान् पाणिनिना निर्मिताऽष्टाध्यायाम् अनेकविधानि सूत्राणि सन्ति।

तेषु यथा–

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

इति वचनानुसारं संज्ञादिरूपाणि षड्विधानि। तत्र अतिविशिष्टं समासोपकारं परिभाषासूत्रं 'समर्थः पदविधिः' इति। अस्मिन् सूत्रे पदद्वयं वर्तते 'समर्थः' इति प्रथमान्तं पदम् एवं च 'पदविधिः' इत्यपि प्रथमान्तं पदम्। 'पदविधिः' इति समस्तं पदं तत्र पदस्य विधिः 'पदविधिः', विधीयते इति 'विधिः' कर्मणि कि प्रत्ययः। पदस्य विधिः इत्यत्र षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः स च स्वोद्देश्यकत्वरूपः सम्बन्धः, स्व इत्यनेन पदम्, अर्थात् पदोद्देश्यकत्वरूपः सम्बन्धः। विधिः इत्यस्यार्थः कार्यम् एवं कृते सति 'पदोद्देश्यकत्वरूपं कार्यम्', इति 'पदविधेः' अर्थः सञ्जातः। अनन्तरम् 'पदविधेः' इत्यस्य अन्वयः कुत्र क्रियते? इति जिज्ञास्यत चेद् तर्हि प्रत्यासत्तिन्यायेन 'समर्थः' इत्यत्रैववक्तुमुचितम्। अत्र समर्थः इति प्रथमान्तं पदं तथा च पदविधिः इत्यपि प्रथमान्तं पदं, तदा समानविभक्तिकयोः अभेदान्वयः इति नियमाद्द्वयोरभेदान्वये कृते अस्यार्थः भवति- ''यः समर्थः

*शोधच्छात्रः व्याकरणविभागः संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।
**आचार्य, व्याकरणविभागः संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

स पदविधिः- यः पदविधिः स समर्थः इति वा, अर्थात् समर्थाऽभिन्नः पदविधिः।'' परन्तु एतादृशोऽन्वयः कुत्रापि न भवति अनभिधानात्। अतः उपायान्तरं क्रियते स च लक्षणाद्वारैव सम्भवति, सा च लक्षणा 'समर्थः' इति पदस्य 'समर्थाश्रिते स्वीक्रियते। लक्षणाद्वारैव वृत्तिकारेण अस्यार्थः परिष्क्रयते यत्- 'पदसंबन्धिः यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः' इति सञ्जातः। अन्यथा 'यच्च सूत्रे तदेव वृत्तौ, यच्च वृत्तौ तदेव सूत्रे' इति नियमात् वृत्तौ 'आश्रित' इति पदस्य लाभो न सम्भवति।

अत्र सामर्थ्यञ्च द्विविधं - व्यपेक्षा एकार्थीभावश्च।

अत्र भाष्ये प्रदीपकाराः वदन्ति- ''यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्राधानार्थोपादानाद्वयर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः। परस्पराकाङ्क्षारूपा व्यपेक्षा'' इति।

विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षा। स्वार्थपर्यवसायिपदानाम् अकांक्षादिवशाद् यः परस्परान्वयः सा व्यपेक्षा। यथा राज्ञः पुरुषः इत्यत्र राजन् इति राजत्वावच्छिन्ने शक्तः एवं पुरुष इति पुरुषत्वावछिन्ने शक्तः, आकांक्षादिवशाद् अन्वयाद् राजसम्बन्धिपुरुषः इति बोधो भवति। एकैकस्य शब्दस्य यो यः सन्निहितो योग्यश्च तेन तेनान्वयः भवति। यथा राज्ञः पुरुषः, न कि राज्ञः पुरुषः अश्वश्च इत्यादौ अत्र वृत्तौ सन्निहितो योग्यश्च इत्यपि आवश्यकः।

अत एव तत्वबोधिनीकारः ''सामर्थ्यं च द्विविधं व्यपेक्षालक्षणमेकार्थीभावलक्षणं चेति। तत्र स्वार्थपर्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशाद्यः परस्परसंबन्धः सा व्यपेक्षा। सैव वाक्ये राज्ञः पुरुष इत्यादौ। तत्र ह्यपेक्षायां सत्यां यो यः संनिहितो योग्यश्च तेन तेन संबन्धोऽभ्युपेयते। यथा राज्ञः पुरुषोऽश्वश्च। राज्ञो देवदत्तस्य च पुरुष इति। एकार्थीभावस्तु राजपुरुष इत्यादिवृत्तावेव। स च प्रक्रियादशायां पृथगर्थत्वेन प्रथमगृहीतस्य विशिष्टैकार्थत्वरूपः। अत एव राजपुरुष इत्यत्र राज्ञि ऋद्धस्येति विशेषणं नान्वेति, पदार्थैकदेशत्वात्'' इति वदति।

एकार्थीभावस्तु 'प्रक्रियादशायां प्रत्येकमर्थवत्वेन पृथग्गृहीतपदानां समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादकतारूपः'। अर्थात् प्राधानार्थावबोधनाय पदानि प्रत्येकं स्वार्थान्निवृत्तानि इष्टार्थं बोधयन्ति एकार्थीभावे। अत्र एकार्थत्वं पृथगर्थत्वञ्च परिभाषयते दर्पणकारैः - 'तत्रैकार्थत्वमेकोपस्थितिविषयार्थकत्वम्, नानोपस्थितिविषयार्थकत्वं पृथगर्थकत्वम् इति।' प्रभाटीकायामेकार्थत्वविषये यत्तु इति प्रतीकमादाय पञ्चोलीमाहाभागैः उक्तं वर्तते तं प्रभाकारैः प्रतिपादयन्ति– ''यत्तु एकार्थत्वमेकोपस्थितिजनकत्वमिति दर्पणकारः। तच्चासङ्गतम्, घटशब्देऽपि तथात्वापत्तेः। नचेष्टापत्तिः, समासे पुनरेकार्थानीति भाष्याविरोधापत्तेरिति पञ्चोलिनः'' इति।

उपरोक्त स्वमतं प्रतिपादयन्ति प्रभाकारैः ''एकार्थीभावत्वञ्च– यत्किञ्चिदपदजन्यपृथगुपस्थितिविषयार्थकत्वेन दृष्टानां शब्दानां विशिष्टविषयकैकशक्त्योपस्थितिजनकत्वम्। घटपदेऽतिप्रसङ्गवारणाय दृष्टानामित्यन्तनिवेशः। औपगवादौ प्रत्ययानां तथादृष्टत्वाभावेनाव्याप्तिवारणाय यत्किञ्चित्पदेति। तथा च उपगोरपत्यमित्यादौ अपत्यपदजन्योपस्थितिविषयार्थकपदघटितत्वेन तत्त्वं सिद्धम्'' इति। पृथक्-पृथक् अर्थानाम् उपस्थापनपूर्वकं समस्तावस्थायां विशिष्टार्थस्य बोधनात् एवं ऋद्धस्य राजपुरुष इत्यादौ राज्ञि ऋद्धस्य अन्वयो न भवितुमर्हति, कथमिति चेद् पदार्थैकदेशत्वात्।

ननु यदि पदार्थैकदेशे विशेषणस्य अन्वयो न भवति तर्हि देवदत्तस्य गुरुकुलम् इत्यादि प्रयोगानापत्तिः। विशेषणरूपस्य देवदत्तस्य सत्वात्। अत एव तत्त्वबोधिनीकारैरुच्यते ''न चैवं देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादावनन्वयापत्तिः, तत्रापि देवदत्तोत्तरषष्ठ्यर्थस्य गुरुणान्वयादिति वाच्यम्, देवदत्तस्य प्रधानभूतकुलेनैवान्वयात्। संबन्धस्तूपस्थितगुरुद्वारक एव षष्ठ्यर्थः, न तु तदितरः'' इति। देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यत्र देवदत्तपदोत्तर या षष्ठी सा सम्बन्धद्योतिका, स च सम्बन्धः निह्नप्यनिरूपकभावरूपः सम्बन्धः एतेन सम्बन्धेन देवतस्य गुरौ अन्वयः। एवं गुरुकुलम् इत्यत्र गुरोः कुलं गुरुकुलम् अत्र गुरुपदोत्तरं या षष्ठी सा स्वनिरूपितोत्पाद्यसम्बन्धद्योतिका, एतेन सम्बन्धेन देवदत्तस्य कुले अन्वयेन नास्ति कुत्रापि दोषः।

उक्तं च भर्तृहरिणा–

समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना।
संस्पृश्यावयवास्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह॥ (वृ.स., 48)

देवदत्तस्य गुरुकुलम् इत्यस्य दोषस्य तु उपायान्तरेणापि वारणं कर्तुं शक्यते, 'ससंबन्धिकपदार्थस्यैक-देशत्वेऽपि भवत्येव विशेषणान्वयः'–

अतेव भर्तृहरिणा उक्तम्–

सम्बन्धिः शब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते।
वाक्यवत्सा व्यपेक्षा हि वृतौ अपि न हीयते॥ (वृ.स., 47)

अत्र 'देवदत्त' इति सम्बन्धिसापेक्षः अतेव कुले अन्वय। तत्र तु राज्ञः इत्यपि संबन्धिसापेक्षः परन्तु कं प्रति? ईशितुः तथा ईशितत्वं प्रति अत एव तत्र नान्वयः।

अस्यां कारिकायां स्वोपज्ञवृत्तावुच्यते हरिणा– ''इह केचिच्छब्दाः स्वार्थमितरापेक्षं नान्तरीयकमभिदधानाः संबन्धिशब्दाः कथ्यन्ते। तद्यथा- गुरुशिष्यपितृपुत्रभ्रात्रादयः। अतश्च ते वृतावपि स्वार्थमर्थान्तरापेक्षायोगिनमेव प्रतिपादयन्तीति गमकत्वात् तत्र सविशेषणानामपि वृत्तिर्भवतीति सविशेषणानां वृतिर्न'' इत्यत्र ''अगुरुपुत्रादीनाम्' इत्यपि न वक्तव्यम्। 'देवदत्तस्य गुरुकुलं' देवदत्तस्य गुरुपुत्र इत्यादि।

अत्र हि प्रातिपदिकमात्रेणापेक्षितं विशेषणं नोद्भूतव्यतिरेकेणेत्येकार्थीभावाद् व्यतिरेकस्यान्तर्भावेऽप्युपसर्जनेन संबध्यते। गुर्वादेर्हि वाच्यं शिष्याद्यपेक्षमित्येकार्थीभावेऽपि तदाकाङ्क्षा न निवर्तते स्वार्थस्य निवृत्त्यभावात्'' इति।

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्। (वै.भू., 31)

इति स्वीकारात् पङ्कजशब्दवदिति प्रतीकमादाय दर्पणकारैरुच्यते ''सप्तम्यन्ताद्वतिः, उपमेये सप्तमीदर्शनात्। पङ्कजशब्दे यथाऽवयवशक्त्यतिरिक्तशक्तिस्तद्वत्समासेऽपीत्यर्थः। न च पङ्कजपदे रूढिस्वीकारे

मानाभावः, समुदायात् पद्मत्वविशिष्टप्रतीतेरेव मानत्वात्, पदान्नियतोपस्थिते रूढ्येकसाध्यत्वात् पङ्कजपदाद् योगेन कुमुदस्यापि बोधप्रसङ्गाच्च। रूढिस्वीकारेप्युद्भित्यदेन वृक्षादेरिव योगेन पङ्कजपदेन कुमुदमपि बोध्यत इति तु न, यत्र योग-रूढिभ्यामेकार्थबोधस्तत्र केवलयौगिकार्थबोधे रूढ़ेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्।

अथवा रूढ्या नियमतः स्मृतं पद्ममेव कर्तृव्यक्तिशक्तडप्रत्यनेन पङ्कजनिकर्तृतया बोध्यते। 'बाधकं विना व्यक्तिवचनानां सन्निहितव्यक्ति-विशेषपरत्वम्' इति नियमाद्, व्यक्तिवचनानां यत्किञ्चिद्व्यक्तितात्पर्य्यकाणां सन्निहितो यो व्यक्तिविशेषस्तत्परतवमिति तदर्थः। 'घटेन जलमाहर' इत्यत्र सन्निहितसच्छिद्रव्यक्तिवोधवारणाय तत्र 'वाधकं विना' इति।

तथा च पद्मे तात्पर्यसत्वेन तदेव योगेनापि प्रतीयते न कुमुदम्। प्रथमकल्पस्तु रूढिज्ञानस्य ग्राह्याभावानवगाहित्वात्, जनकज्ञानाविघटकत्वाच्च प्रतिबन्धकत्वासम्भवान्न क्षोदक्षमः, सिद्धेरनायत्या 'मणिमन्त्रादि'न्यायेन प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमेऽप्यन्यत्र तथाकल्पने मानाभावात्। इत्थञ्च पद्मानुभवसामग्रीसत्वात् तस्यैव बोधः, न कुमुदस्य। सत्यां हि सामग्र्यां फलानुत्पादे प्रतिबन्धकत्वापेक्षणादिति तार्किकाः। तद्दृष्टान्तेन वृत्तिसामान्ये समुदाये शक्तिरावश्यकीति कथने पूर्वोक्तार्थ एव पर्य्यवस्यतीति।'' यथा पङ्कजशब्दस्य पद्मत्वे अतिरिक्तशक्तिः स्वीक्रियते तथैव समासेऽपि स्वीकर्तव्यम् अन्यथा पङ्कात् जायते इति पंकजः अत्र मीनत्वशैवाल-त्वपद्मत्वादीनां नानाधर्माणाम् उपस्थितिः योगमर्यादया भवति। तथा च उपस्थितौ अनियमः भवति, परन्तु पंकजशब्दस्य पद्मत्वे शक्तिः स्वीकारे नास्ति कश्चन दोषः।

भाष्ये तु 'सविशेषणानां वृतिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न। सविशेषणां वृतिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते इति वक्तव्यम्। यदि सविशेषणानां वृत्तिर्न वृतस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत इत्युच्यते, देवदत्तस्य गुरुकुलम्', 'देवदत्तस्य गुरुपुत्रो', 'देवदत्तस्य दासभार्येत्यत्र वृतिर्न प्राप्नोति। अगरुकुलपुत्रादीनाम्। अगुरुकुलपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्। तत्तर्हि वक्तव्यं 'सविशेषणानां वृतिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यतेऽगुरुकुलपुत्रादीनामिति? न वक्तव्यम्। वृतिस्तर्हि कस्मान्न भवति?। अगमकत्वात्। इह समानार्थेन वाक्येन भवितव्यं, समासेन च। इत्यादि दृश्यते। अत्र तु नानाधर्माणां (यस्य-येन-यस्मात्-च-इव इत्यादि) व्यावृत्यर्थम् ''सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न'' इति वचनं स्वीकर्त्तव्यम् तेन गौरवं स्याद्, अतः समुदाये एकार्थीभावः स्वीकर्त्तव्यः।

उक्तं च भूषणे–

बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनेरैव साधने।

स्वान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः॥ (वै.भू., 32)

अत एव भूषणसारस्य मूले 'तथा धवखदिरौ', निष्कौशाम्बिः, गोरथः, घृतघटः, गुडधानाः, केशचूडः, सुवर्णालङ्कारः, द्विदशाः, सप्तपर्णा, इत्यादावितरेतरयोग-निष्क्रान्त-युक्त-पूर्ण-मिश्र-सङ्घात-विकार सुच्प्रत्ययलोप-वीप्साद्यर्थो वाचनिको वाच्य इत्यतिगौरवं स्यादिति'' इति। अर्थात् यदि व्यपेक्षा पक्षमेव आश्रीयते तदा 'समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोर-भेदान्वयातिरिक्तसम्बन्धोऽव्युत्पन्नः'' इत्यादि त्युत्पत्तेः भङ्गापतेश्च।

यदा तु एकार्थीभावः नाश्रीयते तदा माता च पिता च मातापितरौ, इत्यत्र चकारस्य, चित्रगावो यस्य इत्यत्र यस्यादेः निवृत्यर्थं वचनं स्वीकर्तव्यम् अन्यथा चकारादेः श्रवणापत्तिः।

उक्तं च भूषणे–

चकारादि विषेधोऽथ बहुव्युत्पत्ति भञ्जनम्।
कर्त्तव्यं ते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः॥ (वै.भू.,33)

अत एव एकार्थीभावः न्यायसिद्धः, तस्य च स्वीकरणमेव न्यायः।

संदर्भग्रन्थसूचीः

1. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, द्वितीयखण्ड, पृ.सं. 1-3
2. तत्त्वबोधिनी (वै.सि.कौ.), द्वितीयखण्ड, पृ.सं. 1-2
3. बालमनोरमा (वै.सि.कौ.), द्वितीयखण्ड, पृ.सं. 1-2-3
4. वैयाकरणभूषणसारः, का.सं. 20,31,32, पृ.सं. 263-277
5. प्रभाटीका (वैयाकरणभूषणसार), पृ.सं. 263, 277
6. दर्पणव्याख्या (वैयाकरणभूषणसार), पृ.सं. 263, 278
7. वाक्यपदीयम्, सं.सं.वि.वि. प्रकाशनस्य वृतिसमुद्देश्ये का.सं. 48-47
8. महाभाष्यम, गुरुप्रसादशास्त्रिणा सम्पादितम्, सूत्र सं. 2-1-1
9. स्वोपज्ञवृत्तिः (वाक्यपदीयम्), पूर्ववद्, द्रष्टव्यम् नं. 7
10. प्रदीपव्याख्या (महाभाष्यम्), पूर्ववद्, द्रष्टव्यम् नं. 8

SOCIAL CONSTRUCTION OF ENVIRONMENTAL ISSUES AS SOCIAL PROBLEM: A SOCIOLOGICAL ANALYSIS

DR. DINESH KUMAR SINGH*

The social construction of environment issues as a social problem is not the new idea. It is always rise and fall in various criteria according to time and space. Environment issues are similar in many ways to social problem. Due to human interaction, there are a number of ideas, things got social acceptance in this regard. It means human interactions made specific circumstances, conditions or situations to fulfill their needs in any way, but they generally forgot the limits of any resources. In our society any resources has their own limit but human being access the resources in a heavy way, which is not fruitful for any society. In this paper it is analysed by me that how environment problems are distributed and sociology can help us to understand the environment issues as a social problem. In this context there are three major view points to analyze the environment issues. First sociology helps us to understand that how environment problems are distributed? Although the tsunami in Asia killed people from all over the globe, most of those who died were native to the coastal regions around the Indian Ocean. If it had occurred in the richer countries of the Pacific Ocean, the Pacific Tsunami Warning System, based in the American state of Hawaii, would quickly have alerted the energy authorities in the endangered countries where the infrastructure should be in place to move people away from the coast before a wave strikes. In 2005, the United Nations began to plan for an early warning system for the Indian Ocean, with money from Western donors. The distribution of risks from the environment varies with other types of environmental issues too. For example, although global warning – the increase in average temperature across the globe- will affect everyone on the planet, it will do so in different ways. Flooding kills many more people in low-lying, poor countries, such as Bangladesh, where housing and emergency infrastructure are less able to cope with severe weather than in Europe For instance. In richer countries, such as the USA, the Issue raised by global warning for policymakers are likely to concern indirect effects, such as rising levels of immigration as people try to enter the country from areas more directly affected[1].

Second, sociologists can provide an account of how patterns of human behavior create pressure on the natural environment.[2] Although the 2004 tsunami was not a direct result of human action, many of the environmental challenges discussed in this chapter are. For example, the levels of pollution produced by industrialized countries would cause catastrophe if repeated in the world's poorer, non-industrial nation. If the impoverished regions of the world are to catch up with the richer ones, then citizens of the rich world are going to have to revise their expectations about constant economic growth. Sociological theories of capitalist expansion, globalization can all help us to understand how human societies are transforming the environment.

Third, sociology can help us to evaluate policies and proposals aimed at providing solutions to environmental problems. For example, some environmental activists and 'green' writer argue that people in the rich countries must turn away from consumerism and return to simpler ways of life living close to the land if global ecological disaster is to be avoided.[3] They argue that rescuing the global environment will thus mean radical social as well as technological change. However, given the enormous global inequalities that currently exist, there is little chance that the poor countries of the developing world will sacrifices their own economic growth because of environmental problems created largely by the rich countries. For instance, some government in developing countries have argued that in relation to global warming there is no parallel between the 'luxury emissions' produced by the developed world and their own 'survival emission', In this way, sociological accounts of international relations and global inequality can clarify some of the underlying causes of the environmental problems we face today. Our

*Assistant Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi

founding fathers of sociology also make a connection between social conditions and the reality which is created in the social context. Marx, Weber and Durkheim paid attention on the social circumstances, which are now called environment issues. Marx analyzed the capitalism and its exploitative nature in the context of class relation. Durkheim sees the problems as a product of the society, which is known as social facts and Weber explore the relationship between religion, rationality and capitalism. The relationship between human societies and the natural environment was not seen as especially problematic by a majority of people in the societies of the time; nor, therefore, was it a central problem for social scientists. Instead, the important social issues occupying scholars were social inequality, poverty and its alleviation, transforming unhealthy urban living conditions and assessing the future direction of industrial development. The natural environment was very much taken for granted, simply as the backdrop to the much more pressing and urgent social problems generated by industrial capitalism. Although there are ideas within the work of the classical founders of sociology that have been pursued in an environmental direction by later sociologists, the environment was not a central problem of classical sociology. This situation became increasingly difficult once sociologists began to explore the problems identified by environmental campaigners. Could the classical theories provide any insights into human environment relations? Do we need to abandon them altogether to understand how environmental problems have come about and how they might be solved? Some sociologists have turned to classical sociology, reinterpreting the classics in the light of environmental issues [4]. However, most have not. Rather, sociological studies of the environment have been characterized by a dispute amongst social constructionist and critical realist approaches over just how environmental issues should be studied sociologically.

- Why environmental issues become the major concern in Sociology?

In the nineteenth century, the effect of the geographical environment on the human condition was a topic of considerable scholarly interest. Perhaps the leading geographical determinist was the British historian, Henry Thomas Buckle, author of The History of Civilization in England. Buckle was greatly influenced by the writing of the seventeenth century French philosopher, Montesquieu, and by several German geographers, notably Karl Ritter. His central thesis was that human society is a product of natural forces, and is therefore susceptible to a natural explanation[5]. Buckle believed that the influence of the geographical environment is most direct and therefore strongest upon 'primitive' people but declines with the advance of modern culture. He ascribed particular sociological significance to the visual aspect of nature; if the natural environment is awe inspiring in its beauty or terrifying in its power of destruction, it overdevelops the imagination; if it is less formidable, a more rational intelligent prevails. England, with its gently rolling hills and domesticates farm animals, represented a prime example of the latter.

Buckle's geographical theory of social change was widely read and quite influential in intellectual circles in the nineteenth century[6]. For example, the economist Thomas Nixon Carver used The History of Civilization in England in his sociology course at Harvard long before that university had a formal department of sociology. While William Graham Sumner widely regarded as the first American sociologist, became interested in Buckle's work while studying theology at Oxford[7].

A second leading geographical determinist was Ellsworth Huntington. In his principle sociological works, Civilization and Climate, World Power and Evolution and the Character of Races, Huntington attempted to establish a series of correlations between climate and health, energy, and mental processes such as intelligence, genius and willpower. Having divined the parameter of an 'optimal climate' he then attempted to prove that the rise and fall of entire civilizations such as that of ancient Rome follow the shift of the climatic zones in historical periods.

In assessing the worth of this 'geographical school', Sorokin[8] refers to it fallacious theories, its fictitious correlations and its overestimation of the role of the geographical environment, but at the same time he cautions that 'any analysis of social phenomena which does not take into consideration geographical factors is incomplete'.

The natural world also entered into early sociological discourse through the Darwinian concepts of 'evolution', 'natural selection' and the 'survival of the fittest'. In Darwin's theory, those plants and animals which are best suited to adapt to their environment survive, while those which are less well equipped perish. The survivors pass on their advantages genetically to subsequent generations. Darwinism was seized upon by many of the early conservative sociological thinkers who applied its principles (not always accurately) to human context[9]. The most prominent social Darwinist was the English social philosopher, Herbert Spencer, who proposed an evolutionary doctrine which extended the principle of natural selection to the human realm. Spencer bitterly opposed any suggestion that society could be transformed through educational or social reform; rather, he believed that, if left alone, progress would evolve in a gradual fashion.

Sumner was Spencer's great academic disciple in America, introducing his own concept of the 'competition of life' whereby humans struggle not just with other species for survival in the natural universe but also with each other in a social universe. Applying his theory to the laisser-faire capitalism of the day, Sumner legitimated the triumph of the 'robber barons', millionaire industrialists who made their money in banking, railroads and utilities through sharp and ruthless dealing. They were, Sumner claimed, a product of natural selection' who would move society forward on the road to progress.

Both these 'single factor theories of social change'[10] were rejected by mainstream sociology for largely the same reasons. By the 1920s the evolutionary laisser-faire doctrines of the nineteenth century had given way to a new emphasis on social planning and social reform. 'Meliorism'- the deliberate attempt to improve the well being of members of society – flew in the face of these social theories which viewed social causation as unalterable, whether due to geography or biology.

Furthermore, by this time the foundation of sociological theory had shifted. Many sociologists had come to accept psychology as the foundation of sociology in place of physics or biology [11]. This was especially evident in the social psychological tradition established by Mead, Colley, Thomas and other American 'symbolic interactionists' who emphasized that the reality of situation lies entirely in the definition attached to it by participating social actors. This definition, in turn, was socially shaped, as in Cooley's concept of the 'looking glass self'. Physical (and environmental) properties became relevant only if they were perceived and defined as relevant by the actors.[12]

Increasingly, the failure of Social Darwinism, and to a lesser extent the inability of geographic determinism to ever get off the ground, led to a strong aversion to explanations which used biological-environmental explanations. This opposition to biological currents was similarly evident in sociology's sibling discipline, anthropology after his move to the United States in 1886. Franz Boas, widely recognized as the founder of American cultural anthropology, responded to the rising tide of eugenics, 'scientific' racism and other manifestations of biological determinism by elevating culture to a primary role in individual and societal development, dwarfing both the physical environment and biological inheritance.

This emphasis on cultural processes was carried on in the twentieth century by such well known anthropologists as Margaret Mead and Ruth Benedict[13]. Culture, in fact, came to be valued as the key influence on all aspects on human society. Ironically, while sociology rid itself of biological explanation, it hung on to a distinctly biological terminology. Functionalism, the leading sociological theory of the 1950s in America, carried forward Durkheim's idea that society constituted a social 'organism' which was constantly having to adapt to the outside social and physical environment. Its equilibrium or steady state could be knocked out of kilter by various disruptive events but, ultimately, it would return to normal just as the human body recovers from a fever. Dickens (1992) has noted that functionalist theorists, especially their dean, Talcott Parsons, might have gone further and actually developed a theory of social evolution in an environmental context which stressed how biological inheritance permitted humans both to adapt to the natural world and to change it. This potential, however, was never developed, leaving environmental factors as marginal elements in sociological explanation.

On the basis of above content it can be say that environmental issues are become major concern for the

sociologist, the basic reason behind this view is the 'failure the theory of geographical determinism and the rise of social and cultural perspective toward environmental issues'.

- What are environmental issues?

In the age of globalization a number of issues can be covered in the environmental issues. Some of these issues are local or regional in their nature, while other have impacts on the human society. However, what they all share and what makes them specifically environmental issues is that they involve both social relationships and interactions and non-human, natural phenomena. In this sense, they are hybrid issues of society and the environment. In a broader way it can be classified into three categories.

1. Pollution and waste
2. Resource Depletion
3. Global Warning

Pollution and Waste

Air Pollution, Water Pollution, Noise Pollution, radioactive pollution can be considered in the environmental issues. Air pollution, causes by the toxic emission into the atmosphere, is thought to claim more than 2.7 million per year. It is possible to make difference two type of air pollution 'out door pollution' produced mainly by the industrial pollutant and indoor pollution, which is caused by the burning fuel in the home for heating and cooking Traditionally, air pollution has been seen as a problem that afflict industrialized countries, with their greater numbers of factories and motorized vehicles. In recent years, however, attention has been drawn to the dangers of 'indoor pollution' in the developing world. It is suggested that more than 90 percent of deaths linked to air pollution occur in the developing world. This is because many of the fuels that are burned by people in developing countries, such as wood and dung, are not as clean as modern fuels such as kerosene and propane. Until the middle of the twentieth century, air pollution in many countries was caused primarily by the widespread burning of coal – a fossil fuel – which emits sulphur dioxide and thick black smoke into the atmosphere. In many Eastern European countries and the developing world, the practice remains widespread. Coal was used extensively to heat homes and as power in factories.

Air pollution has been linked to a number of health problems among humans, including respiratory difficulties, cancers and lung disease. Although outdoor pollution has long been associated with industrialized countries, it is growing rapidly in the developing world. As countries undergo rapid processes industrialization, factory emissions increase and the number of vehicles on the roads also grows. In many developing countries, leaded petrol is still in use, although it has been phased out in much of developed world. Levels of air pollution were particularly high in many areas of Western Europe and the (former) Soviet Union, thought economic restructuring and the collapse of industrial manufacturing in these areas has reduced this somewhat since the 1990s.

Air pollution does not only affect the health of human and animal pollutions; it also has a damaging impact on other elements of the ecosystem. One harmful consequence is the acid rain. Acid rain is harmful for the crops and animals. It is also environmental issue.

Though the ages it is observe that human being fulfill their house needs though the water for example cooking, irrigation, fishing, cleaning etc. but now in these days water pollution is increased in this planets. Nation countries want to establish their hegemony for the resources of the water. This is also an issue which attracts the social scientist to pay attention on these issues also. As well air and water pollution also another form of pollution is exist in our society, which is known as noise and radioactive pollution. In broader perspective pollution is considered as an environmental issue.

Resource Depletion

Human societies depend on resource from the natural world – for example water, wood , fish ,animals and planet life. These elements are often termed 'renewable resource' because in a healthy eco system they replaced themselves automatically with the passing of time. Yet if the consumption of renewable resource gets out of balance or is too extreme, there is danger that they will be depleted altogether. Some evidence suggests that such a process may be occurring .The deterioration of renewable resources is of great to many environmentalists.

Water

You may not think of water as a delectable resource – after all , it constantly replenishes itself thought rainfall. If u live in Europe or North America, You probably do not give much thought to your water supply at all; expect occasionally when restrictions are put on it use in the summer months. Yet for people in many part of the world, access to a constant water supply is a more chronic and severe problem. In some densely populated regions, the high demand for water cannot be met by available water resources.

In the arid climates of North Africa and the Middle East, for example, the pressures on water supply are acute and shortages have become common place. This trend is almost sure to intensify in the years to come. These are several reasons why this is so. The first is that much of projected world population growth over the next quarter century is likely to be concerned in areas that are already experiencing problems with water shortage. Furthermore, much of this growth will occur in urban areas, where the infrastructure will struggle to accommodate the water and Sanitation need for this expended population. Climate changes also have potential impact depletion of water supply. As temperatures rise, more water will be needed for drinking and irrigation. Yet it is also likely that grounded water may not replenish itself as rapidly as before and that rates of evaporation may also increase soil degradation and desertification.

Human society of the world is depending on the land for the food. The changing climates also put impact on the soil. It is not the cause of climate change but human activities are responsible for it. Soil degradation is the process by which the quality of the earth is worsened and it valuable elements are stripped away through over utilization and drought and fertilization increase. Soil degradation is a serious problem for the human society because it put impact on the production of agricultural materials. Which is become harmful for the maintaining the social ecological balance. People migrate due to this reason and after the migration they face the problem of shelter, clothing living adjustment in new environmental conditions.

Deforestation

Forest is the essential element on this planet which helps us in various ways. It helps in the making balance in the eco system thought the process of regulation the water supply by rain oxygen for the living organism. Now the forests are disappeared from the earth. After the prow the of population the consumption of the resources are increased, so far the fulfilling their need the people cut the tree for wood and another kind of uses in a huge of amount .Deforestation describes the destruction of forested land, usually tough commercial logging.

Although many type of forest are involved in the process of deforestation, the fate tropical rain forest has attracted the greatest attention. Tropical rainforests, which some 7 percent of the earth's surface, are home to great number of plant and animal species that contribute to the earth's biodiversity of species of life forms. They are also home to many of the plants and oils from which medicines are developed. Tropical rainforest are currently shrinking at a rate of approximately one percent a year, and will disappear altogether by the end of this century if current trends are not health.

Global Warming

Global warming is an issue for the social scientist. It is not only physical or natural problem but also a social problem in many ways. Global warming is regarded by many people to be the most serious environmental challenge of our time. If scientists' for cast are correct, than it has the potential to alter irreversibly the functioning of the earth's climate and to produce a serious of devastating environmental consequences which will be felt worldwide. Global warming refer to the gradual rise in the earth's average temperature due to changes in the chemical compositions of the atmosphere. The current scientific consensus is that this is cause in large part by humans, because the gases that have built up and altered the earth's atmosphere are ones that are produced in great quantities by human activities.

Social Construction of the Problem

Social constructionism is an approach to study the social problem, including environmental problems. Social constructionist have investigated how some environmental issue come to be seen as significant while other are seen as less important are largely ignored[14].

Constructionist asks serious of important question about environmental problems. What is the history of the problem and how has it developed? Who is making the claim that it is problem; do they have any vested interest and stand to benefit from doing so? What do they say about it and does the evidence support this? How do they say it? Do they use scientific, emotional, political or moral arguments and why do they do so? Who oppose the claim and on what grounds? Do opponents stand to lose if the claim is successful and could that, rather than the evidence, explain their opposition? Such question gives sociologists a clearly defined role in the study of environmental issue, which on other discipline performs. They also add something new to our understanding of environmental issue and problems. Social constructionists remind us that all environmental problem are, in part socially created or 'constructed 'by group of people. Nature never does 'speak for itself', but people do speak on its behalf. This process of construction can be examined, understood and explained. And in doing so, the public should be in a better position to assess whether an environmental problem really is a serious as the Claims makers say it is, for some sociologists though, constructionism is a problematic, particularly when studying environmental issue. Social constructionism tend to be 'agnostic' about the central problem at issue[15]. For example, a constructionist study of the depletion of the ozone layer would tell us a lot about how this problem come to be seen as important, what argument were made about it and who opposed the claim. But on the central question is the ozone layer really becoming dangerously depleted? Social constructionism remains agnostic. For environmental activist and those committed to solving environmental problems, this is just not helpful. In short, constructionism tells us a lot of people and social interactions, but nothing about society - environment relations.

Best has noted that constructionism is not only helpful as theoretical stance but also that it can be useful as an analytic tool. In this regard, has suggests three primary foci for studying social problem from a social constructionist perspective: the claim themselves; the claims-makers; and the claims-making process[16].

Nature of claims

As initially conceptualized by Spector and Kitsuse, claim were complaints about social condition which members of a group perceived to be offensive and undesirable. According to Best , there are several key questions to be considered when analyzing the contain of claim: what is being said about the problem? How is the problem being typified? What is the rhetoric of claim-making? How are claim presented so as to persuade their audiences? Of these, it is the third question that has generated the most interest among contemporary social problems analysts. Using of the 'missing children', e.g. runaways, child-snatched abductions by strangers, Best(1987) analyses the content of social problems claim by focusing on the 'rhetoric'of claim-making. Rhetoric involves the deliberate use of language in order to persuade. Rhetoric statement contains three principle components or categories of statements, warrant and conclusion[17].

Grounds or data furnish the basic facts that shape the ensuing policy-making discourse. There are three main types of ground statements: definition, examples and numeric estimates. Definition set the boundaries or domain of the problem and gives it an orientation, that is, a guide to how we interpret it. Example makes it easier for public bodies to identify with the people affected by the problem, especially where they are seen as helpless victims. Atrocity tales are one especially effective type of example. By estimating the magnitude of the problem, claim-making establish its importance, its potential for growth and its range (often of epidemic proportions).

Warrants are justifications demanding that action be taken. These include presenting the victim as blameless or innocent, emphasizing links with the historical past or linking the claim to basic right and freedoms. For example, in analyzing the professional literature on 'elder abuse' , Baumann (1989) identified six primary warrants: (1) the elderly are dependent; (2) the elderly are vulnerable; (3) abuse is life-threatening; (4) the elderly are incompetent; (5) aging stresses families; (6) elder abuse often indicates other family problems.

Conclusions spell out the action that is needed to alleviate or eradicate a social problem. This frequently entails the formulation of new social control policies by existing bureaucratic institutions or the creation of new agencies to carry out these policies. Best further

proposes two rhetorical themes or tactics which vary according to the nature of the target audience. The rhetoric of rectitude (values or morality require that a problem receive attention) is most effective early on in a claim-making campaign when audiences are more polarized, activists are less experienced and the primary demand is for a problem to be viewed in a new way. By contrast, the rhetoric of rationality (ratifying a claim will earn the audience some type of concrete benefits) works best at the later stages of social problems construction when claims-makers are more sophisticated, the primary demand is for detailed policy agendas and audiences are more persuadable. Rafter has added another rhetorical tactic to Best's list: that of archetype formation. Archetypes are the templates from which stereotypes are minted and therefore possess considerable persuasive power as part of a claims-making campaign[18].

A further set of rhetorical strategies in claims-making has been proposed by Ibarra and Kitsuse (1993) who outline a variety of rhetorical idioms, motifs and claims-making styles.

Rhetorical idioms are image clusters that endow claims with moral significance. They include a 'rhetoric of loss' (of innocence, nature, culture, etc.); 'rhetoric of unreason' that invokes images of manipulation and conspiracy; a 'rhetoric of calamity' (in a world full of deteriorating conditions, epidemic proportions are claimed for a few; for example, AIDS or the greenhouse effect); a 'rhetoric of entitlement' (justice and fair play demand that the condition, or as Ibarra and Kitsue term it, the 'condition-category', be redressed), and the 'rhetoric of endangerment' (condition-categories pose intolerable risks to one's health or safety).

Rhetorical motifs are recurrent metaphors and other figures of speech (AIDS as a 'plague', the depletion of the ozone layer as a 'ticking time bomb') that highlight some aspect of a social problem and imbue it with a moral significance. Some motifs refer to moral agents, others to practices and still others to magnitudes[19].

Claims-making styles refer to the fashioning of a claim so that it is synchronous with the intended audience (public bodies, bureaucrats, etc.). Examples of claims-making styles include a scientific style, a comic style, a theatrical style, a civic style, a legislatic style and a sub cultural style. Claims-makers must match the right style to the situation and audience.

Claims-makers

In looking at the identity of claims-makers, Best advises that we pose a number of questions. Are claims-makers affiliated to specific organizations, social movements, profession or interest group? Do they represent their own interests or those of third parties? Are they experienced or novices? (As we have seen, this can influence the choice of rhetorical tactics.)[20].

Many studies that have been undertaken in the social constructionist mode have pointed to the important role played by medical professionals and scientists in constructing social problems claims. Others have noted the importance of policy or issue entrepreneurs – politicians, public interest law firms, civil servants – whose careers are depend upon creating new opportunities, programmes and sources of funding. Claims-makers may also reside in the mass media, especially since the manufacture of news depends upon journalists, editors and producers constantly finding new trends, fashions and issues.

The cast of claims-makers who combine to promote a social problem can be quite diverse. For example, Kitsuse et al.[21] (1984) identify three main categories of claims-makers in the identification of the kikokushijio problem in Japan, that is, the educational disadvantage of Japanese schoolchildren whose parents have taken them abroad as part of a corporate or diplomatic posting: officials in prestigious and influential government agencies; informally organized groups of diplomatic and corporate wives; and the 'meta' – a support group of young adults who have been victims of the kikosushijo experience.

It is also important to keep in mind that not all claims-makers are to be found among the grassroots or civil society. For example, it has been suggested that the contemporary 'obesity crisis' has been captained by 'a relatively small group of scientists and doctors, many directly funded by the weigh-loss industry, [who] have created an arbitrary and unscientific definition of overweight and obesity'[22].

Claims-making process

Wiener (1981) has depicted the collective

definition of social problems as a continually ricocheting interaction among three sub-processes: animating the problem (establishing turf rights, developing constituencies, funneling advice and imparting skills and information); legitimating the problem (borrowing expertise and prestige, redefining its scope, e.g. from a moral to a legal question, building respectability, maintaining a separate identity); and demonstrating the problem (competing for attention, combing for strength, i.e. forging alliances with other claims-makers, selecting supportive data, convincing opposing ideologists, enlarging the bounds of responsibility). These are overlapping rather than sequential processes which together result in a public arena being built around a social problem[23].

Hilgartner and Bosk (1988) have identified these arenas of public discourse as the prime location for the evaluation of social problem definitions. However, rather than examining the stages of problem development, they propose a model which stresses the competition among potential social problems for attention, legitimacy and societal resources. Claims makers or 'operatives' are said to deliberately adapt their social problem claims to fit their target environments; for instance, by packaging their claims in a novel, dramatic and succinct form or by framing claims in politically acceptable rhetoric[24].

Best poses a number of useful questions about the claims-making process. Whom did the claims-makers address? Were other claims-makers presenting rival claims? What concerns and interests did the claims-makers' audience bring to the issue, and how did these come to shape the audience's responses to the claims? How did the nature of the claims or the identity of the claims-makers affect the audience's response?

Hennigans has been describing the Key task in the constructing environmental problems. In the considering the social construction of environmental problems assembling, presenting and consisting claims are the elaboration of an incipient problem. At this stage, it from other similar or more encompassing problems, determining the scientific, technical, moral or legal basis of the claim, and gauging who is responsible for asking ameliorative action.

The second task is presenting the claims which are related to environment in this process we have to need the command attention and legitimate the claims. This is conducted by the mass media and mass media play the role of communicator. In Strategies for the success it is needed to presenting the linkage to popular issues and causes use the dramatic verbal and visual imagery.

Table 1. Task in constructing environmental problems

Task			
	Assembling	Presenting	Contesting
Primary activity	Discovering the problem Naming the problem Determining the basis of the claim Established parameters	Commanding attention Legitimating the claims	Invoking action Mobilizing support Defending ownership
Central forum	Science	Mass media	Politics
Predominant Layer of the proof	Scientific	Moral	Legal
Predominant Scientific roles	Trend spotter	Communicator	Applied policy analyst
Potential pitfalls	Lack of clarity Ambiguity Conflicting scientific Evidence	Low visibility Declining novelty	Co-oparation Issue fatigue Countervailing claims
Strategies for success	Creating an experiential focus Streaming knowledge claims Scientific division of labour	Linkage of popular Issues and causes Use of dramatic verbal and visual imagery Rhetorical tactics and strategies	Networking Developing technical expertise Opening policy window

The above table shows how we can construct the problem in the problem in the context of environment and how environmental problem a sociaol problem for the society.

Third task of the contesting in this process need the invoking action, mobilizing support, defending ownership in primary activity and central forum is politics. For the successful strategies need the networking and developing the technical expertise for this task.

Conclusion

It is very difficult task to drive a conclusion but I am trying to hypothesize the conclusion that how our problems are become social and how it is constructed. The environmental problem is not physical in their nature it is also a social problem because humankind made interaction with the nature. There is also cultural meaning of the nature for the human beings. The process of construction in social context is passed in the three stages claim themselves, claims-makers and claim making process and Assembling, presenting and contesting is also related process. In the concluding some are necessary factors for the successful construction of environmental problems. In this process scientific authority and validation of claim is necessary, media attention is also needed for the describing the environmental issues as social problem. It is a debate able discourse for every scholar that which perspective is suitable for the constructing the environmental issues as social problem. The limitation of the constructionist is that they only focus on the interaction pattern of society and denial the natural or evolutionary process of the nature. So there is needed to make broader perspective in this context.

REFERENCES

1. Baumann, E.A. (1989) 'Research rhetoric and the social construction of elder abuse', in J. Best (ed.) Images of Issues: Typifying Contemporary Social Problems, New York: Aldine de Gruyter.
2. Benton, T. (1991) 'Biology and social science: why the return of the repressed should be given (cautious) welcome', Sociology, 25(1): 1-29.
3. Best, J. (1989) 'Afterword: extending the constructionist perspective: a conclusion- and an introduction', in J. Best (ed.) Image Issues: Typifying Contemporary Social Problems, New York: Aldinede Gruyter.
4. Bierstedt, R. (1981) American Sociological Theory: A Critical History, New York:Academic Press. Bierstedt, R. (1981) American Sociological Theory A Critical History, New York:Academic Press.
5. Braun, B. and Castree, N. (1998) Remarking Reality: Nature at the Millennium, London: Routledge.
6. Devall, B. (1990) Simple in Means, Rich in Ends: Practising Deep Ecology (London: Green Print).
7. Dickens, P. (1992) Society and Nature: Towards a Greener Social Theory, Hemel Hempstead: Harvester Wheatsheaf.
8. Dickens, P. (1992) Society and Nature: Changing Nature, Changing Ourselves (Cambridge;Policy).
9. Dunlap, R.E. and Catton, W.R.Jr. (1992/3) 'towards an ecological sociology: the development, current status and probable future of environmental sociology', The Annals of the International Institute of Sociology, 3 (New Series): 263-84.
10. Dunlap, R. E., Buttel, E H., Dickens, P. and Gijswijit, a (eds) (2002) Sociological Theory and the Environment: Classical Foundations, Contemporary Insights (Lanham, MD and Oxford: Rowman &Littlefield Publishers Inc).
11. Gibbs, W.W. (2005) 'Obesity: an overblown epidemic?' Scientific American, 292(6): 70-77.
12. Giddens, A (2009) Sociology, Polity Press, Cambridge, London
13. Hennigan J.A. (2006) Environmental Sociology: A Social Constructionist Perspective. 2nd edn (London: Routledge).
14. Hilgartner, S. and Bosk, C.L. (1988) 'The rise and fall of social problems: a public arenas model', American Journal of Sociology, 94(1): 53-78.
15. Hofstadter, R. (1959) Social Darwinism in American Thought, New York: George Braziller.
16. Ibarra, P.R. and Kitsue, J.I. (1993) 'Vernacular constituents of moral discourse: an interactionists proposal for the study of social problems', in J. A. Holstein and G. Miller (eds) Reconsidering Social Constructionism: Debates in Social Problems Theory, New York: Aldine de Gruyter.
17. Irwin, A. (2001) Sociology and the Environment, Cambridge: Polity Press.
18. Kituse, J. I., Murause, A. E. and Yamamura, Y (1984) 'The emergence and institutionalization of an educated problem in Japan', in J. w. Schneider and J. I. Kituse

(eds) Studies in the Sociology of Social Problems, Norwood, NJ: Ablex.

19. Rafter, N. (1992) 'Claims-making and socio-cultural context in the first U.S. eugenics campaign', Social Problems, 35: 17-34.
20. Schumacher, E. F (1977) Small is Beautiful: A Study of Economics As If People Matterred (London: Abacus).
21. Sorokin, P.A. (1964) [1928] Contemporary Sociological Theories: Through the First Quarter of the Twentieth Century, New York: Harper & Row.
22. Stead, W. E. and Stead, J G. (1996) Management foe a Small Planet: Strategic Decision Making and the Environment (Thiusand Oaks, CA, and London:Sage).
23. Timasheff, N. S. and Theodorson, G. A (1976) Sociological Theory: Its Natutres and Growth, New York: Random House.
24. Weiner, C. L. (1981) The Politics of Alcoholism: Building an Arena around a Social Problem, New Brunswick, NJ: Transaction Books.

RUTTENBAI JINNAH – A NATIONALIST TO THE CORE

DR. DIVYA KUMAR*

Much has been written about the nationalism of Mohammad Ali Jinnah, at least till 1930. But, unfortunately, not much information is available regarding the nationalist Ruttie Jinnah. The brief marriage from 1918 to 1929 was tragically cut short due to Ruttie's untimely death. However, as long as she was alive, Jinnah's contemporaries are unanimously of the opinion that she continued to inspire and influence him towards nationalism. After her death, his loneliness and subsequent isolation spelt his gradual drift towards communalism and separatism. Kanji Dwarkadas, a great friend of the Jinnahs , writes – "After his marriage with Ruttie in the spring of 1918, he had no separate existence away from his wife …." His personal, political and social life was always with Ruttie.[1] Another friend of Jinnah, M.C. Chagla too holds similar views: he feels that as long as she remained alive, Ruttie kept Jinnah on the 'right track'. Also, that she was a real nationalist.[2]

Also, A.A. Ravoof compliments Ruttie as 'a tower of strength to Mr. Jinnah and the valiant wife of a valiant husband' while referring to the famous Town Hall incident.[3] Since Jinnah spoke or wrote little of his personal life, such accounts become immensely valuable. On their part, Pakistani sources find themselves in a dilemma. Jinnah had married a 'non-believer' and so had his daughter Dina, who married a Parsi turned Christian.

Though Ruttie and Jinnah hailed from different backgrounds, destiny brought them together. Mid-nineteenth century onwards, Bombay had become the nerve-centre of socio-economic growth and freedom movement. In this, the Parsi community, from which Ruttie hailed, had a vital role to play. Not only men but its women too contributed to the community's cosmopolitan outlook in education. In other spheres, also they made noteworthy inroads. Bhikhaiji Cama made history by unfurling India's first national flag on foreign soil. Dadabhai Naoroji's grand-daughters namely, Perin D.S. Captain (1888-1958), Goshi and Nergesh Captain participated in the freedom struggle, *Swadeshi* movement and worked for the unity of Indian women. Other outstanding female nationalists were Serene Dastur and Naju Dastur. When the Indian Women's Association was formed in 1917 by Annie Besant, a Parsi lady Hirabai A. Tata (1889-1941) was its Honorary Secretary. This was the first politically conscious organization of Indian women. The All India Women's Conference evolved out of it and also led by Sarojini Naidu with Hirabai as one of its members. They met Lords Montagu and Chelmsford regarding female franchise. Hirabai's daughter Mithan Jamshed Lam became the first woman Barrister-at-Law from the Inns of Court. This goes on to show the consciousness of the Parsis and their great contribution towards the growth of modern India.[4] Thus, Ruttie inherited these elements from her co-religionists.

Otherwise too, her own Petit family was a rich and influential one of Bombay. Ruttie's great grand-father Nusserwanji Manockji migrated from Surat to Bombay to work as a shipping clerk and dubash (two –language interpreter) for the British East India Company and made the new city his home. His son Manockjee Petit became a textile magnate. The first baronet Sir Dinshaw (1823-1901) donated land and buildings for charitable purposes and was much inclined towards nationalism and philanthropy. In 1884, he set up the Bombay Association along with Dadabhai Naoroji and provided economic support to the Bombay Presidency Association of 1885. His son, Dinshaw Petit (1873-1933), Ruttie's father and a rich businessman was also a staunch nationalist. In the famous 'caucus case' of 1907, he played an active role along with Pherozeshah Mehta[5] and showed independent bent of mind, not to be cowed down by the British. This case had brought him closer to Jinnah. Ruttie's paternal aunts- Mamabai,

*Department of History, Patna University, Patna (Bihar) (C/o Shri Gireesh Sharma, B 12/112 J-1 (Opposite to Hotel Diamond), Bhelupur, Varanasi)

Mithuben and Humabai often participated in political meetings of Bombay. Ruttie insisted on attending every public meeting of Bombay during 1916 along with Mamabai.[6] She attended the Lucknow Session of Congress in December that year with her aunt Humabai as Kanji Dwarkadas reports. Incidentally, it was Humabai who had dissuaded Ruttie from marrying Jinnah due to his busy life schedule and also, because of the pronounced age difference between them.[7] Born on 20th February 1900 Ruttie, the first child and the only daughter of Dinshaw and Dina Petit, was an attractive and intelligent girl who often preferred participating in political discussions at the 'Petit' bungalow at Pedar Road. As a barely ten year old, she could comprehend Shakespeare and was fond of poetry of Toru Dutt and Sarojini Naidu. Secular and liberal thoughts brought her in close contact with Jinnah and her admiration for him grew immensely.

On the other hand, Mohammad Ali Jinnah, born in 1876, went to England to study law and returned before he was 20. Having settled in Bombay, soon he made a name for himself as a barrister. Ironically, Parsis played a very important role in his life: he greatly admired Dadabhai Naoroji and Pherozeshah Mehta, and also his life long friend Dinshaw Eduljee Wacha (1844-1936). Wacha was the Secretary of the Indian National Congress for eighteen years (1894-1912) and its President in the 1901 session, Jinnah married a Parsi girl and in later years, he had a Parsi-Christian son-in-law despite dislike and opposition. Jinnah, an ardent follower of Gokhale and Tilak, was both a member of the Indian National Congress and the Muslim League. A man of socio-political standing, Jinnah often visited the Petits and the Parsi club which did not encourage non-Parsis much.[8] In April 1916, both Ruttie and Jinnah decided to marry – Ruttie was 16 and Jinnah about 40 years old. Kanji Dwarkadas found Jinnah quite cheerful in June 1916, the 'reason being Ruttie's entry in his forlorn life.'[9] The Petits could not approve of a Muslim son-in-law, just about three years younger than Dinshaw. The latter filed an injunction to prevent the marriage before she attained the age to do so, based on Parsi Marriage Act. But, as Wolpert rightly says "….he was pitted against a barrister who rarely lost any case and would gladly have died before surrendering in this matter."[10] Ruttie left her parents' house on the day she turned eighteen. Finally, much against their wish, she converted to Islam and married Jinnah as Mariam on April 19, 1918. This, however, was Jinnah's second marriage, his child-bride Emibai had died while Jinnah was in England.

Both Jinnah and Ruttie, despite different religious backgrounds and considerable difference in age, had many things in common. Ruttie's community was in minority. Jinnah's Khoja or Ismaili community was also in minority amongst Muslims. Also, whereas Ruttie's ancestor Nusserwanji had migrated from Surat to Bombay, Jinnah's family came to Karachi from Kathiawar. Nusserwanji was given the title "Le Petit Parsi" due to his slight frame by his French employers. On the other hand, 'Jinnah' in Gujarati means 'light-weighted'. Coming to their personal similarities, both Jinnah and Ruttie were fearless, liberal and secular in temperament. Both held an inclination towards expensive and stylish Western lifestyle. And, above all, they loved each other and formed an attractive couple.

Coming to Ruttie now, her nationalist fervour was already evident prior to her marriage but as Mrs. Jinnah, she came more in the hub of national events. There, her personal courage and boldness were amply demonstrated. Soon after her marriage in 1918, as both Kanji Dwarkadas and A.A. Ravoof mention, Ruttie had accompanied Jinnah to Simla where the latter had to attend the session of the Indian Legislative Assembly. When introduced to Lord Chelmsford at dinner at the Viceregal Lodge, instead of the norm prescribed by way of courtesy, she greeted him in the traditional Indian way – with folded hands. Chelmsford took it as a personal insult and conveyed to Ruttie- "*Mrs. Jinnah, your husband has a great political future and you must not spoil it. In Rome, you must do what the Romans do."* Pat came Ruttie's reply that this was exactly what she was doing! After that, she never met Lord Chelmsford.

The repercussions of strained relations between Chelmsford and Jinnah were very much evident when the Governor of Bombay, Lord Freeman Thomas

Willingdon (1866-1941), indirectly attacked Jinnah in his speeches. Jinnah's insult was Ruttie's. Hector Bolitho has given an account of Jinnah and Ruttie being invited to Willingdon's place for dinner where Ruttie's highly Westernised, low-cut gown did not appeal to Lady Willingdon who asked the ADC to get a wrap for Mrs. Jinnah. Jinnah respectfully but coldly walked off with Ruttie saying that the latter would herself ask for a wrap if she needed it. Never again did the Jinnahs visit the Willingdons. These incidents are reminiscent of Jinnah never visiting or talking to senior counsel Strangman after the latter insulted him.[11]

Bolitho and also S.S. Pirzada (in his work 'Some Aspects of Quaid-i-Azam's Life', Islamabad, 1978) make note of the Town Hall meeting of December 11, 1918. Willingdon's farewell was protested by many including Jinnah. Both he and Ruttie motivated the disenchanted and angry Bombay public. Bolitho writes – "Outside the hall stood Mrs. Jinnah-a pretty young rebel- marshalling her husband's followers as they pressed forward into the hall."[12] Jinnah was assaulted but Ruttie all along remained by his side. The former regarded it as a triumph of democracy. Ruttie's nationalist fervour was, for the first time, evident before the Bombay citizens. Also, Jinnah Hall constructed to commemorate this event, and Jinnah's patriotism, remains a silent witness to this day.

Ruttie's unflinching nationalist zeal came to the forefront during her encounters with Lord Reading in 1921 and again at the end of his tenure. According to Kanji Dwarkadas when Reading once moaned to Ruttie that though he very much wanted to go to Germany (having studied there), he could not as the Britons were very much unwelcome there, he was shell-shocked when Ruttie asked – "How then did you come to India ? "[13] On other occasion , Reading tried to tempt Jinnah at first with a Judgeship of the High Court and then with the offer of being a Law Member in the Viceroy's Cabinet Jinnah refused. Reading then, at a social function, asked Ruttie whether she would not like to be addressed as *"Lady Jinnah"*. To this her reply was that if Jinnah accepted knighthood, she would take separation from him.

The period from 1918 to 1928 is termed as the 'decade of devotion' of Ruttie by S.S. Pirzada.[14] He adds that she was always present in the sessions of Congress, Muslim League, Assembly and Courts – whenever and wherever Jinnah was in action – he adds.

In 1918, the annual sessions of both the Congress and the League were held at Delhi under the presidentship of Madan Mohan Malviya and A.K. Fazlul Haq respectively. The Jinnahs participated in them.

Ruttie Jinnah made a public speech, her maiden one, on the deportation (on April 26, 1919) of B. G. Horniman, the editor of 'The Bombay Chronicle' and author of two books on Jallianwallah Bagh tragedy entitled "*Amritsar and Our Duty to India"* and the other in collaboration with H. Norments called "Agony of Amritsar".[15] At the All India Trade Union Congress held at Empire Theatre in the presence of Lala Lajpat Rai, Jawaharlal Nehru, B.P. Wadia and Kanji Dwarkadas, Ruttie moved a resolution, in a fluent speech of five minutes sitting in the side box.[16]

In May 1919, Ruttie accompanied Jinnah to England who had three important missions before him – arousing British opinion for self-government, appearance before the Joint Select Committee of Parliament and presenting a memorial to British Prime Minister on the Turkish question. This was Jinnah's longest visit to England and the happiest one. Chaman Lal states that Jinnah who came with Ruttie, won everyone's heart. One the night of 14th and 15th August 1919, their daughter Dina was born in England. 14th and 15th August became historic days for Pakistan and India 28 years later.

Both returned to India in November 1919. In September 1920, Ruttie accompanied Jinnah at parallel sessions of League and Congress at Calcutta. Discussions were held on Non-Co-operation and *Khilafat*. A great commotion ensued in the Congress *pandal*. An animated Ruttie had requested Kanji Dwarkadas to let her see what was going on outside.[17]

Jinnah was dejected in 1920 at the Nagpur Congress but two months later, he spoke of continuing respect and admiration for Gandhi. Ruttie too held

Gandhi in high esteem and such a feeling was very much present even before she got married to Jinnah. The Gurjar Sabha organized after Gandhi's return from South Africa in 1915 took place at the lawns of Petit Mansion. Jinnah had presided over it.[18] Ruttie took note of it. She donated generously for building a memorial for innocents who had died at Jallianwallah Bagh. In 'Young India', Gandhi makes a note of Ruttie's statement that the memorial would, at least, give the Indians a cause to live. While Jinnah and Ruttie were in England, Gandhi wrote two letters to Jinnah dated 28th June 1919 and 30th April 1920. In the former, he hoped that Ruttie would join hand-spinning classes and hoped that Jinnah would learn Hindustani and Gujarati soon. In the second letter, he hoped that Ruttie too would learn these languages.

Though Ruttie revered Gandhi deeply, she disfavoured all kinds of boycott – whether of institutions, schools, colleges or of foreign goods. [19] But, in a letter written to Chaganlal Gandhi dated July 14, 1919, Gandhi wrote that Lady Tata, Lady Petit (Ruttie's mother) and Mrs. Jehangir Petit came over to learn spinning.[20]

The years 1924 to 1926 saw increased Hindu-Muslim distrust despite the concerted efforts of Gandhi and Jinnah towards unity. In 1924, it was a coincidence that Liaquat Ali 's connection with Jinnah first began when the former had hosted a dinner party for Ruttie at Simla in 1924.[21] Ruttie's fervour towards patriotism would definitely have had a positive impact on Jinnah, for he in 1925 said in the Imperial Legislative Assembly – *"... I am a nationalist first, a nationalist second and a nationalist last" and appealed for not bringing communal matters in the House and degrade the Assembly".*[22]

Early in 1926, both Ruttie and Jinnah left for England to participate in the Sandhurst Committee meeting. Back home, Jinnah's popularity was very high among his Hindu friends. They helped him by sending at least 100 cars with drivers to carry Muslim voters to the polling booth when Jinnah stood as a candidate for the Central Legislative Assembly from Muslim Constituency in Bombay. Ruttie's political consciousness is very well evident in her interest in the election.[23] On his part, Jinnah, having great hold over Hindus of Bombay, succeeded in ensuring Jayakar's victory from the non-Muslim constituency.

In August 1927, Ruttie attended the session of Legislative Assembly at Simla. She also accompanied him to the Muslim League session at Calcutta. When Jinnah boycotted the Simon Commission, the Jinnah manifesto was signed by father of Ruttie too among others.

Ruttie's nationalism was coupled with her sense of philanthropy. It ran in her community and family. The first veterinary hospital in the country was built in 1874 by Lady Sakarbai, wife of the first Sir Dinshaw Petit when the society for the Prevention of Cruelty to animals was founded that year. Sir Dinshaw built the first Hospital for Women and Children in 1892. In 1898, he provided land to Mahratta Plague Hospital and in 1912; donations of the Petits resulted in building of B.D. Petit General Hospital. [24] Both Jinnah and Ruttie showed keen interest in social work. Ruttie had met Dorothy Graham and her husband C. Jinaraja Das due to her interest in theosophy. With them, she associated herself to improve the lot of women particularly of brothels. Ruttie worked to improve the condition of children too. The Bombay Children's Act suggested by Kanji Dwarkadas was passed in 1924 and put in force in 1927. Jinnah supported her fully in her endeavours. Along with Sarojini Naidu, she showed concern for stray animals also.

G. Allana has given an account of one of Ruttenbai's schoolmate H. Mesiah who told the former about Ruttie admonishing a high-handed police officer who had oppressed a poor woman.[25]

January 1928 onwards, Jinnah's busy life, Ruttie's bend towards mysticism and her ill-health accounted for their strained relations. Both possessed strong personalities and a noticeable age difference separated them. 1928 was in direct contrast to 1927: Jinnah bounced back in Indian politics as *'Muslim Gokhale'* in 1927 but 1928 began on a negative note when Ruttie left him and fell ill. Troubled Jinnah found himself dejected on political front too. The Nehru Report, the All-Parties Conference showed changes in him which

aroused Ruttie's anxiety. Jinnah too showed great concern for her ill-health. Finally, when she died on her birthday on 20th February 1929, something died within him too as his friends say. According to Stanley Wolpert, Jinnah's parting speech of 28th December 1928 was his swan song to Indian nationalists. By the beginning of 1931, he had decided to settle in England. However, one cannot say that by 1929 all was over. On 12th and 14th September 1929, in the Central Assembly, Jinnah made a long speech in context of Bhagat Singh's hunger strike and British designs to hang him and other comrades. Due to circumstances, he turned towards separatism in 1930s. Among these, the death of Ruttie and daughter Dina's marriage, as Peer Tajuddin says, left a scar on Jinnah's mind. The melancholy and aloofness dominated his life. Even Margaret Bourke – White (Half-Way to Freedom, New York, 1949) feels that the removal of Ruttie's influence, who was a great nationalist may well have twisted his course….." [26]

In the latter half of Jinnah's life, from time to time, four phases are of considerable importance: each of them spanning three years. In all these, his wife Ruttie and daughter Dina made major impact. In the first, extending from 1918 to 1920, he married Ruttie, daughter Dina was born, Tilak passed away. Also, non-co-operation and Khilafat movements gained momentum. 'The second phase, 1928 to 1930, saw his separation from Ruttie and her subsequent death. Jinnah became more isolated politically and a recluse, and finally opted to move to England with Dina. In the third phase, that is 1938 to 1940, despite Jinnah's dislike, Dina married outside the community, Allama Iqbal passed away, the Congress Ministries of 1937 resigned in 1939 and a very categorical Lahore Resolution of the Muslim League of 1940 saw the day. In the fourth and final phase – 1946 to 1948, Jinnah met Dina and her children for the last time in 1946 and the day of holocaust in Calcutta had major communal impact. 1947 was the year of Independence for India and Pakistan and the date significantly coincided with Dina's birthday. In 1948, Fathers of brother Nations, albeit estranged, passed away. On the day of Independence in 1947, Dina hoisted flags of India and Pakistan jointly on her house at Bombay. She was in Karachi on September 12, 1948 for funeral of her father.

It is a matter of speculative research, even if combined with hypothesis and conjectures, as to the fate of the subcontinent had Ruttenbai lived longer. Would she be able to 'bring back' or 'restore' Jinnah to the nationalist mould which he had proudly proclaimed in 1925, or would she separate and stay in Bombay, hoisting the flags of the two nations with Dina in mid August 1947 ? There is also a speculation that she would accompany Jinnah and become the First Lady of Pakistan. Such futuribilia would still fascinate the passionate readers in the subcontinent but with her staunch nationalist credentials and strong willed assertions, this possibility, prima facie, appears least likely!

References

1 Dwarkadas, Kanji, India's Fight for Freedom 1913-1937, An Eyewitness Story, Popular Prakashan, Bombay, 1966, p.350.

2. Chagla, M.C. – 'Roses in December' An Autobiography, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, 2012, p.119

3. Ravoof, A.A. – 'Meet Mr. Jinnah', Muhammad Ashraf, Lahore, 1947, pp.230-31.

4. Nanavutty, Piloo – 'The Parsis', NBT, New Delhi, 1980, pp.81-84.

5. Karanjia, B.K. – R.P.Masani, Portrait of a Citizen, Popular Prakashan, Bombay, 1970, p.55.

6. Wolpert, S. – Jinnah of Pakistan, OUP, Delhi, 1988, p.44.

7. Yasmeen, Shagufta – Ruttie Jinnah Life & Love, Royal Book Company, Karachi, 2011, p.34.

8. Allana, G. – Quaid-i-Azam Jinnah, The Story of a Nation, Ferozsons Ltd., Lahore, p.166.

9. Dwarkadas Kanji, India's Fight for Freedom 1913-1937, An Eyewitness Story, Popular Prakashan, Bombay, 1966, pp.60-61.

10. Wolpert, S. - Jinnah of Pakistan, OUP, Delhi, 1988, p.50.

11. Dwarkadas, Kanji, India's Fight for Freedom 1913-1937, An Eyewitness Story, Popular Prakashan, Bombay, 1966 (quote from C. Setalvad's 'Recollections and Reflections'), pp.62-63.

12. Bolitho Hector, Jinnah Creator of Pakistan, John Murray (Publishers) Ltd., London, 1954, p.77.

13. Dwarkadas, Kanji – India's Fight for Freedom 1913-1937, An Eyewitness Story, Popular Prakashan,

Bombay, 1966, p.67.
14. Pirzada S. S. – Some Aspects of Quaid-i-Azam's, Life National Commission on Historical and Cultural Research, Islamabad, 1978, p.53.
15. Roy Chaudhury, P.C.– Gandhi and his Contemporaries, Sterling Publishers (P) Ltd., New Delhi, 1972, p.29.
16. Dwarkadas, Kanji, - India's Fight for Freedom 1913-1937, An Eyewitness Story, Popular Prakashan, Bombay, 1966, p.112.
17. Ibid., p.152.
18. Baranwal, Virendra Kumar – Jinnah Ek Punardrishti, Rajkamal Prakashan, Delhi, 2006, p.169.
19. Gandhi Rajmohan, - 'Understanding the Muslim Mind, Penguin Books, India Pvt. Ltd., New Delhi, 2000, p.133.
20. Haider, Khwaja Razi – Ruttie Jinnah: The Story, Told and Untold, Pakistan Study Centre, University of Karachi, 2004, notes and references, p.88.
21. 'Dear Mr. Jinnah' Selected Correspondence and Speeches of Liaquat Ali Khan, 1937-47,ed. Roger D. Long, OUP, Karachi, 2004, Introduction XIX.
22. Ravoof, A.A. – 'Meet Mr. Jinnah', Muhammad Ashraf, Lahore, 1947, p.35.
23. Dwarkadas, Kanji, India's Fight for Freedom 1913-1937, An Eyewitness Story, Popular Prakashan, Bombay, 1966, p.323.
24. Nanavutty, Piloo – 'The Parsis', NBT, New Delhi, 1980 pp.137-38.
25. Allana, G. – Quaid-i-Azam Jinnah The Story of a Nation, Ferozsons Ltd., Lahore, pp.172-73.
26. Zaman-Waheed-uz—Quaid-i-Azam Muhammad Ali Jinnah: Myth and Reality, National Book Foundation, Karachi, quote of 'Margaret Bourke-White', p.97.

●

A ROCK-CUT TEMPLE ON GWALIOR FORT

DR. SUJATA GAUTAM*

The temple is one of the prominent and enduring symbols of Indian Culture. The Temple has always been a centre of the intellectual and artistic life of the community, functioning not only as a place of worship, but also as a nucleus around which all artistic activity is concentrated. So many temples were built in the region once known as *Gopakshetra*. This region is now part of the modern state of Madhya Pradesh. The leading city of *Gopakshetra* is Gwalior, known in ancient time as *Gopagiri* and *Gopadri*. Ancient inscriptions of Gwalior refer to construction here of several temples. The temple building activity covers a total span of 458 years starting from c.525 A.D. and concluding in 1093 A.D. of the different work accomplished during span.

A monolithic rock-cut temple of *Vishnu* situated on one of the eastern scarp of the Gwalior Fort. This is an unpretentious but significant monument situated almost half way up the ascent to the *Man-Mandir* from *Alamgiri* gate. This temple is placed by the side of the road which leads up to the fort, on a flat topped isolated sand stone out crop, from the Gwalior gate, at a point where it rises steeply on a sharp turn, just near the *Lakshamana-Paur* is one of the example showing the glorious existence of the *Pratihara* in this area.

This monolithic model of *Pratihara* period is dedicated to *Vishnu* and presently known as the *Chaturbhuja* temple (Fig.1), since it contains four armed *Vishnu* in its Sanctum. It is a *Vishnu* temple built by *Alla*, the *Kottapala* (the royal fort–keeper) of *Gopagiri*, (V.S. 932) in A.D. 875 during the reign of the *Pratihara* king *Adivaraha Bhoja*. He built the temple in the honor of his father Late *Vayilla Bhatta*, who occupied the same position in the previous reign. The whole temple is carved in to the living rock imitating all the structural parts of a temple from inside as well as from outside.

There are two inscriptions in the temple. One engraved above the doorway and the other inside the sanctum. Both the inscriptions are written in old *Nagari* script in *Sanskrit* language. The first inscription offers prayer to *Trivikram* form of *Vishnu*. These inscriptions also describe it as a *Vishnu* temple built by *Alla*, the son of *Vayilla-Bhatta*, appointed by *Shrimad Adivaraha* (*Bhojadeva*). This inscription is dated in (V.S. 932) 875 A.D. and indicates that the temple here was built by chisel and marked by syllable of (*Vishnu*) name. The temple is described as a single piece of rock and a great ship for crossing the ocean of existence. The inscriptions further inform us that the temple was known as *Vaillabhattasvamin*.

The monolithic and Rock-cut nature of this temple is clearly proved as the words *Ekasila* (consisting of a single piece of rock) and *Tankotkirna* (cut by the chisel) are mentioned in the inscription of the Chaturbhuja temple. The construction of the temple took place in the month of *Vaisakha* in 875 A.D. with the installation of a statue of *Vishnu* cut out of single piece of rock and placed reverently in the sanctum. On the basis of the details given in this inscription, it can be confirmed that the temple was hewn out of rock somewhat in the manner of the *Mala Devi* temple of *Gyaraspur* (Dist. *Vidisha*)[1] .

Architecturally the temple is facing east and consists of a rectangular *garbha-griha* measuring 3.55 meters x 3.55 meters internally. In this temple no *antarala* is provided inside the doorway as is commonly found in the other central Indian Temples. But the narrow space in front of the doorway serves the purpose of an *antarala*. This shows a deviation from the usual practice of having *antarala* attached with *Mulaprasada*.

It is *Pancharatha* in plan (Fig.2), but having irregular and asymmetrical plan. Apparently, proper planning and designing of the temple, which had to be conceived in the rock could not be achieved by the architects, as they were not so familiar with the carving of the monolithic models.

*Assistant Professor, Department of A.I.H.C. & Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi

The outer plan of this temple is inconspicuous contrast to rectangular *garbha-griha* cell inside. A small passage has been cut on all the three sides except in front in order to facilitate an open circumlocution around the temple. The passage is not uniform and its breadth varies from 0.4m to 1.00m.

The small pilasters niches surmounted by pointed *udgamas* covering the whole *adhisthana* from the *khura* to the *kapotika* are noticed on the *bhadra, pratiratha* and *karna* parts of the *adhisthana*. The *bhadra*, *pratiratha* and *karna* are well articulated. The temple rises from a curved *bhitta* ornamented with lotus petals, as at *Madkheda*. The *pratiratha* and *karna* niches of the *adhisthana* are carved with some of the incarnations of *Vishnu* like *Krisna*, *Balarama* and *Vamana* and *Sursundari*. The incarnation of *Vishnu* are exhibited only in the *karna* niches of the *adhisthana*.

The *vedibandha* (Plinth) comprise a tall *jadyakumbha*, *kalasa* and *kapotapali* (Fig.3). The early phase of the *pratihara* temple in *Madhya Bharat* are characterised by a single *adhisthana* consisting of *khura*, *kumbha*, *kalasa* and *kapota* mouldings. This is one of the ninth-century temples that display sculptured *rathikas* on all projections of the *vedibandha* and *jangha*, including the *pratiratha* pilasters.

The *bhadra* niches in the *adhisthana* portion of the *Chaturbhuja* temple contain four armed dancing *Ganesa* on the Southern side, two armed *Kartikeya* on the western side, and four armed *Parvati* on the northern side are displayed on the projection of shrine. Depicting the *Ganesa*, *Karttikeya* and the *Parvati* sculptures respectively on the south, west and north side *bhadra* niches of either the *jangha* or *adhisthana* portion of the *Siva* temple is common in the *Pratihara* period. The same formula was also adopted in some of the non *Siva* temple in the *Chaturbhuja* temple at *Gwalior*, *Vaishnav* temple at *Varahavali* and the Sun temple at *Markhera*.

The *jangha* has the *bhadras* and *karnas* with niches topped by *khura* and *chhadya* surmounted by *udgamas*. *Pratirathas* shows ornate pilasters with small adorned *rathikas* and *pratibhadras* are treated as *ghatapallava*, pilasters adorned at the base with minor niches. *Bhadra* niches contain *Nrivaraha* (south), four armed *Vishnu* (west) and *Trivikram* (north). Besides these three forms of incarnations in the *bhadra* niches, some of the other incarnations of *Vishnu* are represented on the *pratirathas*, such as *Narsinha* on the South, *Rama* on the west and *Kalki* and *Bhddha* on the north side. It is interesting to note that except *Matsya* and *Kurma* all other incarnations of *Vishnu* are depicted in the niches on the *adhisthana* and the *jangha* of the temple.

The *karna* niches of the *jangha* harbour the six out of *Asta-Dikpalas* including *Agni*, *Yama*, *Niriti*, *Varuna*, *Vayu* and *Kubera*. *Salilantaras* of the *jangha* show *patravalli*. All the *Dikpalas* are shown with their *vahanas* (mount) in the background. The representation of the *Asta-Dikpalas* and their pattern of distribution in the early temples revealed that it was introductory stage of depicting these sculptures in the temple Art.

Above the *jangha*, the *varandika* is showing ornate square bosses between a pair of *kapotalis*. It is composed of a *tulasangraha* between two *kapotapalis*. Of course adding of more mouldings to the set of the three usual mouldings with the intension of enhancing the beauty of the temple is also noticed in many of the temple[2]. The *kapotikas* are plain except few *chaitya* decorations. The *tula* are decorated with *kirtimukha*, half *kirtimukha*, bird's foliage, floral pattern and other motifs.

The *sikhara* of the temple follows the *pancharatha* alignment. Two types of *sikharas* are encountered during early medieval period in central India. These are the Latin (*Nagara Sikhara*) and *Valabhi* (Wagon-Vault). The *Chaturbhuja* temple has a curvilinear *sikhara* (Latin) of *Nagar* style.

The Latin *Nagar-Sikhara* has well – integrated *jalaka* of *chandrasalas* on the *prati* and *madhyalatas*, flanked by *balapunjaras* on either side, carved with an intricate *chaityamesh* design. Its *karna* portion has the *amalaka* and *bhumis* with *kapotika* and pediments in between. The *sikhara* of the *Chaturbhuja* temple has the usual ornamentation and preserves only three stories marked by *bhumi- amalakas*. The total number of *bhumis* of this temple is not known as the original upper portion of the *sikhara* is not available at present.

The *sikharas* of *Pratihara* period are usually five *bhumis*, however in some case it has been increased up to nine *bhumis* particularly in the later period. Three *bhumis* of shapely *Venukosa* survive; each *khand* is composed of three *kapotas.* All the *Pratihara* temples almost have *sukanasika* on the front side of the *sikhara*. But in many cases it is either damaged or restored. In the Chaturbhuja temple *sukanasika* is not found in the original form.

On the eastern side, the *sikhara* has a *sukanasika* carved in three receding tiers, the two lower tiers carrying an *udgama* in the centre flanked by pilasters and other decorative patterns. The top one has a *chaitya* niches with four armed seated image of Vishnu[3]. In another view the *suknasa* has a three tiered gable with two ascending *surasenakas* topped by medallion containing a worn figure perhaps of Surya[4].

For instance, one may notice development of particular type of stambha–sakhas in the temples of *Mahua, Naresar, Batesar, Gwalior* and *Indor*, similarly, the decorative scheme of the *rupasakhas*[5] showing *gana* and *mithuna* alternatively (at *Gwalior, Amrol, Batesar, Naresar* and *Indor*) presents a development which it might be impossible to understand in segments. Even in the evolution of *sikhara* experiments were being made by artisans who tried with different combinations of *balapanjara*, i.e. *lata* flanking *madhya-lata* on the *sikhara* at some of the early site. Thus we can say that, the *Chaturbhuja* temple is a definite link in the chain of such developments and records the elements as they found expressions at Gwalior Fort in 9th century A.D.

The *mukhamandapa* has four quadripartite pillars that stand on similar *kumbhakas*. The pillars are decorated with *ghatapallavas* in the lower and upper sections, *rathikas*, *bharaputrakas* supporting cushion-shaped *bharanas* and *taranga* shaped brackets. The brackets carry lintel. The *mukhamandapa* has a *samatala vitana* adorned with large lotus. The four corners of the ceiling are decorated with *kirtimukha* designs. The lintel is carved with *Krishna-lila* scenes on the inner face and mythological scenes on the outer face, these episodes are the killing of *Putana*, breaking of cart (*Sakata-bhanga*), *Yamalarjuna*-vadh, stealing of butter, lifting of *Govardhana* and subjugation of *Kaliya etc*.

The doorway of the temple is remarkable for its multiple *dvarasakhas*, profuse ornamentation and exquisitely carved lintels. The Sanctum door frame has a 'T' shaped format with four *sakha*, as at *Naresar*. The *sakha* are decorated with *patravalli*, *naga*, ornate stambha and beveled *padmapatra*. The *stambha-sakha* is carved with a beautiful *ghatapallava*, *ghantamala* design on the shift issuing from a *kirtimukha* and a foliage bracket topped with a miniature *sikhara* at the lintel.

A thin *naga* body is inserted between the first and second *sakhas*, tail ends held by the *Garuda* on the *lalata*. Just above the *lalata-bimba*, the central niches of the upper lintel contain a four-armed seated *Vishnu* figures whose hands are mutilated. The door way is carved with river goddesses *Ganga* and *Yamuna* with *dvarapals*. The *dvarpalas* depicted comparatively larger in size, being attached of *Vishnu*. Above the river goddesses there is a pair of *bhara-putrakas* and *hansa-mithuna* holding a garland.

This temple is not an isolated example of its type in the *Gopadri* style of temple architecture. One of the inscriptions of this temple narrates the arrangements made for the *puja-sanskar.* The oil for lamps and flowers and garlands for worship were made constantly available to this temple. Arrangements for perpetual maintenance of this temple were also made from the other revenues granted to it[6].

The *Chaturbhuja* temple inscriptions indicate that this temple was an extremely important building in its days. And the inscription inside the temple affords information about its construction in 875 A.D. much of its original grandeur has been lost due to the crumbling down of its original *sikhara* but even in its present form the temple is significant as it is a securely dated monument which helps in tracing the evolution of temple architecture in *Gwalior* region during the *Gurjara-Pratihara* including its earlier links.

When we compare the *Chaturbhuja* temple to the *Teli-ka-mandir*, built on the same hill a century earlier, we find this structure is very crude in its sculptural and architectural embellishment; perhaps due to the poor quality of the local stone. In architectural design, however the structure marks a development over previous *Pratihara* temple and is important for being securely dated 875 A.D.

Figure-1 : General View, *Chaturbuja* Temple, Gwalior Fort

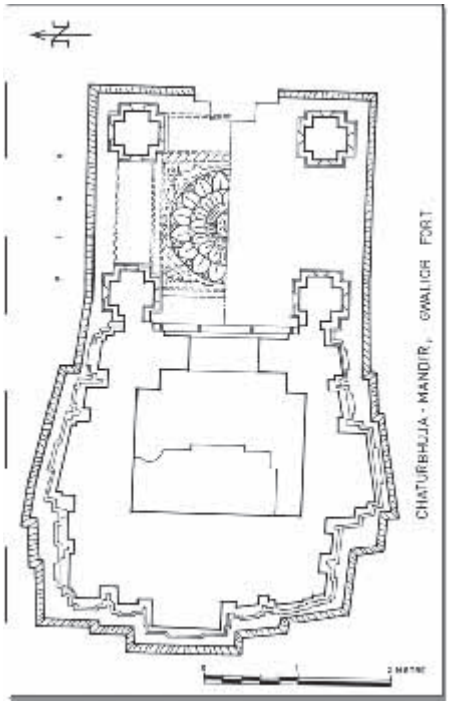

Figure-2 : Ground-Plan of *Chaturbhuja* Temple, Gwalior Fort

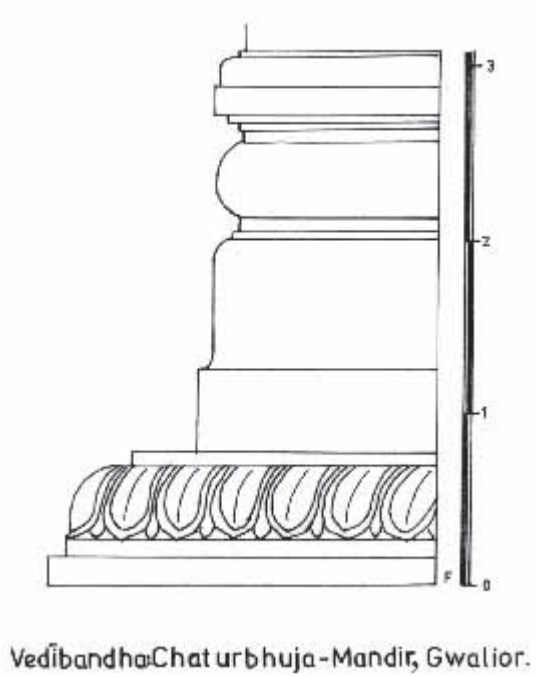

Figure-3 : Plinth of *Chaturbhuja* Temple, Gwalior Fort

The *Pratihara's* were great patrons of temple architecture as is revealed from a number of inscriptions but unfortunately most of the inscribed temples of their time are no more extant due to ravages of time and human vandalism. Majority of temple datable to the *Pratihara* period on stylistic ground bear no dedicatory inscription. This temple also marks inauguration of art activity at *Gopadri* under the *Gurjara–Pratiharas* and in that situation its significance cannot be minimized.

The *Pratihara* kings valued the fortress of *Gwalior* because it guarded the territory between *Kalinjar* and *Chittaur* and was integral to their campaigns against the *Rastrakutas*. The warden of *Gwalior* fort was therefore a key officer and a temple built by such a person was the product of a respected and powerful individual. Subsequent members of *Alla's* family apparently continued in the imperial service at *Gwalior*, for one of them died facing a *Rastrakuta* raid. This is evidenced by a hero-stone from *Terahi* which records the death of one *Allajiyapa*, son of *Allabhatta*[7].

The *Chaturbhuja* temple inscription provides a long information eulogy of the *Pratihara* dynasty. The temple seems to have undergone several renovations; Keith and Cole (1981-82) carried out some conservation work in the temple on the fort, but even before that some pillars of the *mandap* seem to have been repute and therefore, do not conform to the original format and design in their decorative details.

References

1. Misra, B.D., 1993, The Forts and Fortresses of Gwalior and its Hinterland, Manohar Publisher, New Delhi, p. 64.
2. Dayalan, D., 1995, "*Chaturbhuja* temple, Gwalior Fort", Monolithic Temples of Madhya Pradesh, Agam Kala, Delhi, p. 44.
3. Misra, B.D., 1993,The Forts and Fortresses of Gwalior and its Hinterland, Manohar Publisher, New Delhi, p. 65.
4. Meister, M.W. and Dhaky, M.A., 1998, Encyclopaedia of North Indian Temple Architecture, American Institute of Indian Studies, Delhi, p. 55.
5. Misra, R.N., 1987, "Ancient temples of Gwalior Revisited", *Vajapeya*: Essay on evolution of Indian Art and Culture, Agam Kala, Delhi Vol.-II, p. 222.
6. Ibid. p. 222
7. Willis, M.D., 1997, Temples of *Gopaksetra* (A Regional History of Architecture and sculpture in central India, A.D. 600-900), British Museum Press, London, p. 2.

FEMALE FETICEDE IN INDIA

DR. REENA SHARMA AND DR. DINESH KUMAR SINGH***

Prabhuji mein teri binti karoon
Paiyan paroon bar bar
Agle Janam Mohe Bitiya Na Dije
Narak Dije Chahe Dar...
Oh, God, I beg of you,
I touch your feet time and again
Next birth don't give me a daughter,
Give me HELL instead...

-An old folk song

The united Nations children's Fund states that systematic gender discrimination has resulted in up to 50 million girls and women "going missing" from India's population(1). These findings are endorsed by the abnormal sex ratio figures found in the Census 2001(2). An analysis of the fertility and mortality survey of 1998 estimates that about 0.5 million female birth go missing yearly. These translate into approximately 10 million female fetuses getting aborted over the past two decades (3).

Ancient Indian Vedic texts gave importance to the worship of goddesses. A woman was referred to as "saamraajini", the queen or mistress of the home, who was to have an equal share in the performance of religious rites. Manu, the law giver said, "The gods are satisfied wherever women are honored, but where they are not respected, rites and prayers are ineffectual "(Mansmriti 3.62)(4). Although the preference for bearing sons has been prevalent in Indian households from time immemorial, Vedic society then did not disturb that part of the society that gave prominence to female supremacy under its fold. However, slowly, other customs, rituals and beliefs found their way into the Indian households. A newly-wed bride is usually blessed to be 'a mother of hundred sons'. When a woman becomes pregnant, other women in the family chant mantras exhorting the female fetus to be transformed into a male fetus. In India, female infanticide has been practiced for centuries with the earliest evidence being provided by Sir Jonathan Duncan in 1789(5). With the availability of new technology, the bias suffered by females from birth to the grave is being extended from womb to tomb. The present article aims to reflect upon the issue of female feticide and its determining factors and the concern regarding adverse child sex ratio and its consequences.

Sex Ratio and Child Sex Ratio in India

Given the traditional preference for a male child, it is not surprising that right from the first census of 1871, India has consistently shown an abnormal sex ratio (940 women for every 1000 men). The abnormal sex ratio runs counter to the greater longevity expected of female species who are supposed to be more resilient. Its must be remembered that this is possible only if females get equivalent nutrition and access to healthcare (6) (7). Pregnancy-related morbidity and mortality account for 136,000 maternal deaths annually (8) and tend to further distort sex ratios. A steep decline in the sex ratio in recent years has coincided with an increased availability of ultrasound machines (9) (10). About 70% of all abortions performed in Delhi are terminations due to the fetus being female (11).

The child sex ratio is calculated as number of girls per 1000 boys in the 0-6 year's age group and has consistently declined from 976 girls per 1000 boys in the 1961 to 945 in 1991 and 927 in 2001 Pakistan (938), Bangladesh (953) and Nigeria (1016) (12). The natural sex ratio is determined by factors such as parental age, duration of birth interval and environmental factors which in turn are influenced by socio-cultural and racial factors (13).

Even in India, the child sex ratio is not uniform across states, in the state of Haryana, Punjab, Delhi,

*Sr. Lecturer , Department of Sociology, Shambhu Dayal College, Ghaziabad
**Assistant Professor, Department of Sociology, Faculty of Social Sciences, Banaraas Hindu University, Varanasi-221005

Himachal Pradesh and Gujarat and union territory of Chandigarh, this ratio has declined to less than 900 girls per 1000 boys. In India's capital Delhi, the sex ratio has declined from 915 in 1991 to 865 in 2001. The lowest ratio of 845 has been recorded in the southwest district of Delhi.

In contrast, the north-eastern states report a higher sex ratio of above 950. The sex ratio is different in urban and rural areas and is also influenced by religion. For, example, the sex ratio is 906 in urban areas while it is 934 in rural areas. The highest sex ratio is reported amongst Christians (964), while the lowest sex ratio are reported in Sikh (786) and Jain(870) communities. The sex ratio in Hindu is reported to be 925 and in Muslims to be 950.

Factors Responsible for Female Feticide

Increased availability of advanced technologies, especially ultrasonography (USG), has been the single most important factor responsible for decrease in sex ratio and increase in female feticides. In India over 25000 prenatal units have been registered (14). Facilities of sex determination through "clinic next door" are now conveniently available with families willing to dish out any amount that is demanded of them. The easy availability of mobile scanning machines has translated into brisk business for doctors. Sex selection techniques became popular in the western and north western states in the late 70s and early 80s whilst they are becoming popular in the South now (15). The sex of a fetus can be determined at 13-14 weeks of pregnancy by trans-vaginal sonography and by 14-16 weeks through abdominal ultrasound. These methods have rendered early sex determination inexpensive, feasible and easily accessible. Although various preconception techniques that help in choosing the fetal sex have been described, their use is not widespread due to higher costs (16). There are several other factors that have a bearing upon the child sex ratio.

Status of women: The most importance factors responsible for decreasing child sex ratio is the low status of Indian women coupled with traditional gender bias. The needs with regards to health, nutrition and education of a girl child have been neglected. As mentioned above, in the Vedic Age (1500-1000 BC), they were worshipped as goddesses. However, with the passage of time, their status underwent significant and sharp decline and they were looked down upon as 'slaves of slaves' (17). Studies report that women in southern India enjoy a better status irrespective of their literacy in comparison to their north Indian counterparts (18) (19).

It has long been argued that improvement in literacy rates and socioeconomic development amongst women could change the adverse sex ratio for the better. However, it has been observed that educated mothers in Punjab are more prone to discriminate against their daughters than the uneducated ones (20). Also the prevalence of prenatal sex determination is more widespread among the economically well-off because availing of such services is determined by one's ability to pay.

Thus, the rich agriculturalists living in the rural areas of Punjab, Haryana and Gujarat and the urban elite living in the metropolis of Delhi tend to avail of sex-selective abortive (21). Similarly, transition from a rural agrarian economy to urban economy has not prevented Jat couples from using prenatal sex determination and sex-selective to achieve smaller family size through reduction in the number of daughters in the family (22). On the other hand, in matriarchal societies in the north-eastern states of India, women control land holding and have a better say in matters related to family, economy and society (23). This has resulted in a slight preference for daughters in states like Meghalaya (24).

Gender discrimination: The bias against females in India is grounded in cultural, economic and religious roots. Sons are expected to work in the fields, provide greater income and look after parents in old age. In this way, sons are looked upon as a type of insurance. In addition, in a patriarchal society, son is responsible for "preservation" of salvation of the spirit (25). This strong preference for sons which results in a life-endangering deprivation of daughters is not considered abhorrent culturally and socially (26). In north India, girls currently constitute about 60% of the unwanted births and the elimination of unwanted fertility in this manner has the

potential to raise the sex ratio at birth to 130 boys per 100 girls (27).

Gender discrimination manifests itself in the form of delay in seeking medical care, seeking care from less qualified doctors and spending lesser money on medicines when a daughter is sick (28). The extreme disappointment of a mother as a result of a daughter's birth can adversely affect her ability to breast feed the girl child, which leads to poor nutritional status. It is no wonder that the prevalence of malnutrition and stunting is higher in girls than boys (29).

Dowry: The evil practice of dowry is widely prevalent in India. As a result, daughters are considered to be an economic liability. The dowry system is more rigid in the northern states of India which is likely to contribute to the lesser child sex ratio. Women have little control over economic resources and the best way for a young north Indian bride to gain domestic power mainly comes from her ability to produce children, in particular, sons (30). Most often in south Indian communities, marriages are not exogamous (but often consanguineous), and married daughters usually stay close socially and geographically to their original family. Until recently, dowries were unheard of and benefits of inheritance for the daughters were not ruled out (31). In the Muslim community, paying of high dowry is not a prevalent practice (32). Also consanguineous marriages are highly prevalent and women are entitled to a portion of parental inheritance.

Strategies to Curb Female Feticide

Female feticide is a symptom of an underlying malady. Its incidence is increasing as families perceive that bearing daughters does not make economic sense and does not provide any social advantages. Added to that is generations of bias that favours bearing a male child. Hence, efforts directed selectively towards curbing the practice of prenatal sex determination are unlikely to provide rich dividends. However, measures aimed at improving the status of women in the society are likely to show beneficial effects only after several years. This situation calls for a two-pronged strategy: one to take steps to improve the status of women in the society and the other to ensure effective implementation of the Prenatal Diagnostic Techniques (PNDT) Act so that families find it difficult to undertake sex determination and selective abortion.

The successive Indian governments have taken several steps to improve the status of women in the society. The steps primarily intend to provide them with greater opportunities for education, employment and greater say in the matters of governance. They have undertaken steps to correct the bias in terms of inheritance rights. The PNST Act is a law made with good intentions. It bans sex selection before and after conception, and further regulates the use of prenatal diagnostic techniques for strictly medical purposes. In particular, the law restricts the use of diagnostic techniques for registered institutions and operators, which have to maintain detailed records.

Violations of the PNDT Act carry a three-year jail term and a fine of about Rs 10000 (US $250) for the first offence and five-year jail term and a fine of Rs 50000 (US $1250) for the second offence. So far, there have been only two successful convictions under the law: a, fine of Rs 300 (US $ 7) and another fine of Rs 4000 (US $98) from over 400 cases lodged under the PNDT Act. The reason why the law has proved ineffective is because it is difficult to regulate all clinics that use ultrasound for sex determination as well as for host of other purposes including detection of genetic abnormalities in the fetus (33). Its implementation needs to be improved upon.

There is a need to plug the loopholes. Registration procedures should also be curbed through greater use of run by technicians and unqualified personnel should be registered and better regulated. Use of ingenious ways to convey the sex of the fetus should be also curbed through greater use of surprise checks and dummy patients. The PNDT Act is rendered ineffective because of the liberal MTP (Medical Termination of Pregnancy) Act which allows abortion on several grounds including mental trauma and failure of contraceptives. Even though the use of blatant hoarding and advertisements of sex determination seems to have disappeared, spread of information about clinic services is now done by "word of mouth".

MTP providers need to be more vigilant when performing second-trimester abortions. While the feminist discourse on abortion advocates that abortion is a right over one's body, sex selective abortion in itself is a form of female violence.

Intensive Information, Education and Communication (IEC) campaigns for raising awareness: The Government has recently launched a "Save the Girl Child Campaign". One of its main objectives is to lessen the preference for a son by highlighting the achievement of young girls. To achieve the long-term vision, efforts are afloat to create an environment where sons and daughters are equally valued. Boys need to be educated at an early level with regard to giving respect and equal regard to girls. The mass media must be involved in promoting a positive image of women. School and college girls should be the target audience. However, this should be combined with highlighting the issue and daughters of female feticide and skewed gender ratio. Analysis of content of information provided regarding abortion and sex determination showed that the message emphasized upon the illegality of sex-selective abortion instead of describing the difference between sex-selective abortion and other abortions (34). Various Non-Governmental Organizations (NGOs) are already taking an active lead in this area. It must be emphasized that involvement of community leaders as well as influential persons would go a long way in assuring success in such campaigns. However, the root causes of gender bias need to be tackled first and steps toward women empowerment must be strengthened.

Women empowerment: Education of women is a powerful tool for improving nutrition levels, rising the age at marriage, acceptance of family planning, improvement in self-image, and their empowerment. NGOs may be encouraged to promote formation of self-help groups, organize non-formal education for adult females and school dropouts, create employment opportunities for women as well as provide counselling support service to newly married and pregnant women to discourage them from undergoing sex-selective abortion.

Role of medical colleges and professional bodies: While many medical practitioners have joined campaigns against the misuse of these technologies with the support of professional associations, some have been strong supports of sex-selective abortion emphasizing the family's personal decision to determine the sex of their children. Hence the role of medical college and professional bodies such as Indian Medical Association (IMA), Federation of Obstetric and Gynaecological Societies of Indian (FOGSI) and association of radiologist, in countering this burning issue needs to be given due importance. This may include.

- Sensitizing medical students regarding the adverse sex ratio while stressing upon the ethical issue involved in female feticide.
- Conduct regular workshops/ Continuing Medical Education session which would greatly help to reiterate the importance of this problem in the country. Private practitioners should also be encouraged to participate in such programs.
- Organize awareness campaigns in field practice areas.

India has yet a long way to go in her fight against pre-birth elimination of females. Time is quickly ticking away. A shortage of girls would lead to a shortage of eligible brides thus making the girl a "scarce commodity". According to UNFPA projection, by the year 2025 a significant share of men above 30 would still be single and that many will never be able to marry at all. Men in the states of Haryana and Punjab are already experiencing nearly 20% deficit of marriageable women (35). A concerted effort by the medical fraternity, the law, political leaders, NGOs, media, teachers and the community itself is the need of the hour.

Reference

1. Female Foeticide in India. C2007. Available from http://org/india/media_3258.html. [cited on 2008 Jun 26].
2. Census Figures of 2001. Office of the Registrar General and Census Commissioner, New Delhi, India.
3. Jha P, kumar R, Vasa P, Dhingra N, Thiruchelvam D, Moineddin R. Low female [corrected]-to-lancet 2006; 367: 211-8.
4. Swami Harshananda. An Introduction to Hindu Culture. 1st Edition. Bangalore (India): Ramakrishna Math; 2008.
5. Pakrasi KB, Haldar A. Sex ratios and sex sequemces of

births in India. J Biosoc Sci 1971; 3:327-37.
6. Ghosh S. The female child in India: A struggle for survival. Bull Nutr Found India1987; 8:4.
7. khanna R, kumar A,Vaghela JF, SreenivasV, Puliyel JM.Community based retrospective study of sex in infant mortality in India. BMJ 2003; 327:126-30. [PUBMED] [FILL TEXT]
8. Central Bureau of Health Intelligence, Health Information of DGHS, Government of India, New Delhi: 2003.
9. Bardia A, Paul E,Kapoor SK, Anand K. Declining sex ratio: Role of society, technology and government regulation in Faridabad district, Haryanana. Natl Med J India. 2004; 17:207-11.
10. Sahni M, Verma N, Narula D, Varghese RM, Sreenivas V, Puliyel JM. Missing girls in India: infanticide, feticide and made-to-order pregnancies? Insights from hospital-based sex-ratio-at-birth over the last century. PLos ONE 2008; 3:e2224.c2008.
11. Imam Z. India bans female feticede. BMJ 1994;309:428 [PUBMED] [FILL TEXT]
12. United Nations Population Division, World Population Prospects: The 1998 Revision: Volume III: Analytical Report. ESA/P/WP.156, revised 18 November 1999. United Nations, New York: 199.
13. James WH. Time of fertilisation and sex of infants. Lancet 1980; 1:1124-6. [PUBMED]
14. Genocide of India's daughters. Mail Online. c2006. Available from:www.dailymail.co.uk/news/article-393896/Genocide-Indias-daughters.htm. [Cited on 2008 Jun 19].
15. George SM. Sex selection/determination in India: Contemporary developments. Reprod Health Matters 2002; 10:184-97.
16. Gurung, M. Female Foeticide. c1999. [cited on 2008 May 26] Available from: www.hsph.harvad.edu/organizations/healthnet/SAsia/forums/foeicide/articles/foeticide.html.
17. Sachdeva DD. Social welfare Administration in India. Allahabad; Kitab Mahal; 1998.
18. Bose S, Trent K. Socio-demographic determinants of abortion in India:A north-south comparison. J Biosoc Sci 2006; 38:261-82. [PUBMED] [FILL TEXT]
19. Bhat Pn, Zavier AJ. Fertility decline and gender bias in northern India. Demography 2003; 40:637-57. [PUBMED]
20. Das Gupta M. Selective Discrimination against Female Children in Rural Punjab, India, Popul Dev Rev 1987;13:77-100.
21. Visaria L. The declining sex ratio in India. Natl Med J India 2004; 17:181-3. [PUBMED]
22. Khanna SK. Traditions and reproductive technology in an urbanizing north India. Soc Sci Med 1997; 44171-80. [PUBMED] [FILL TEXT]
23. Fernandes W. The Indigenous issue and women's statue in North East India. Paper submitted at Indigenous rights in the commonwealth project, South and South-east Asia Regional Expert meeting. India International Centre, New Delhi: 11th-13th March, 2002.
24. International Institute for Population Sciences (IIPS) and Macro International. National Family Health Survey (NFHS-2), 2005-06, India: key Findings. Mumbai: IIPS; 2007.
25. Bandyopadhyay S, Singh A. History of son preference and sex selective in India and in the west. Bull Indian Inst Hist Med Hyderabad 2003; 33:149-67. [PUBMED]
26. Miller B. The endangered sex: Neglect of female children in rural North India. Ithaca, New York and London: Cornell Univ. Press; 1981.
27. International Institute for Population Sciences (IIPS) and Macro International. National Family Health Survey (NFHS-2), 1998-99, India: key Findings. Mumbai: IIPS; 2000.
28. Chatterjee M. A report on Indian women from birth to twenty. New Delhi: National Institute of Public Cooperation and Child development; 1990.
29. Jatrana S. explaining Gender Disparity in Child Health in Haryana State of India. Asian Metacentre Research paper Series No. 16. Asian Meta centre for Population and Sustainable Development Analysis. Singapore; 2003.
30. Dyson T, Moore M. On kinship structure, female autonomy, and demographic Behavior in India, Popul. Dev Rev 1983; 9:35-60.
31. Guilmoto CZ. Characteristics of sex ratio imbalance in India, and future scenarios. Paper for the 4th Asia Pacific Conference on Reproductive and Sexual Health and Rights. Hyderabad, India: October 29-31, 2007.
32. Nassir R, Kalla AK. Kinship system, fertility and son preference among Muslims: A review. Anthropologist 2006; 8:275-81.
33. George SM. Millions of missing girls: From fetal sexing to high technology sex selective in India. Prenat Diagn 2006; 26:604-9.
34. Nidadavolu V, Bracken H. Abortion and sex determination: Conflicting messages in information materials in a District of Rajasthan, India. Reprod Health Matters 2006; 14: 160
35. Haryana boys heading South in search of brides. Hindustan Times. [updated on 2007 Jun 25]

THE ASTRONOMICAL TEMPER OF THE VEDIC SUN GOD

ABHINEET KUMAR SRIVASTAVA AND PROF. ANAND KUMAR SRIVASTAVA***

God is not some person sitting somewhere at some place. It is a field of energy which is present at everywhere and all times and in all forms. Just as white light is composed of many colours, god is considered as the collective sum of all energies that exist. In ancient India during Vedic age and even afterwards Sûrya has played a very significant role in Hindu mythology and amongst Hindu gods. Sûrya is the Sun god or the solar deity. He is also the god of illumination and liberation. According to Indian mythology, Sûrya wears a golden robe, and His chariot is drawn either by one steed or by seven mares. The Sun is the most visible representation of the deity, the veritable "Face of the God" as the ancient Vedas eloquently state [6]. The Sun is no mere luminous material globe or light in the outer sense, but the source of life, intelligence, love, and consciousness. Throughout the ancient world, continuing in some areas down to present day, we find a worship of the Sun as part of a greater religion or spiritual path of light, enlightenment and Self-realization. This solar religion or solar dharma generally occurs along with a cult of the sacred fire. Sûrya or the Sun god is extremely important and significant in our spiritual life. Although there are very few hymns dedicated to Him yet He is the supreme god. Only ten hymns are offered to the Sun god in the Vedas, as compared to over two hundred fifty hymns offered to the Indra.

The physical Sun that we actually see is said to be the eye of the gods Agni, Varuna and Mitra. Dawn is the harbinger of Sûrya . In Sanskrit the dawn is called Uœha. Uœha is the goddess of dawn. She invokes in the presence of the Sun god and when Sûrya appears, He seems to be following Her. The Sun god has boundless divine love for goddess Uœha. He wants to offer all His inner divinity to Her and She receives it joyfully from Him.The Sun is far, very far from our planet Earth. When we observe the Sun from here, we see a tiny disc, but we know how bright and vast it really is [3].

The Sun is the source of energy for our planet. Plants prepare food with the help of Sunlight. It is responsible for the water cycle on Earth. The solar system exists due to the Sun. In short, life exists due to the Sun. Like the Sun, water, fire, air were also considered as different manifestations of god.

Composition and Movements of the Sun

Sûrya is worshiped as a chief solar deity. Sûrya is the major god of the Navagraha (nine planets). Sun is the center of small system which includes nine planets including Earth. Sun holds more than 98% mass of this small system in this giant universe which contains millions of Suns [5].

The Sun contains 99.5% of all the matter in our solar system. The planets condensed out of the same disk of material that formed the Sun, contain only 0.135% of the mass of the solar system.

- Sun: 99.85%
- Planets: 0.135%
- Comets: 0.01%
- Satellites: 0.00005
- Meteoroids: 0.0000001%
- Interplanetary Medium: 0.0000001%

The Sun who is the soul of the entire world, is situated in outer space between the upper and lower portions of the universe. Passing through twelve months on the wheel of time, the Sun comes in touch with twelve different signs of the zodiac and assumes twelve

*Junior Research Fellow, Department of Sanskrit, Faculty of Arts, B.H.U Varanasi
**Professor, Department of Sanskrit, Department Faculty of Arts, B.H.U Varanasi

different names according to those signs. The aggregate of those twelve months is called a Samvatsara, or an entire year. When the Sun travels for two months, a season passes, and therefore the seasonal changes are considered parts of the body of the year.

Residing in outer space, which is in the middle of the universe, between Bhuloka and Bhuvarloka, the Sun rotates through the time circle of the zodiac, represented by twelve rasis, or signs, and assumes different names according to the sign He is in. For the moon, every month is divided into two fortnights. Similarly, according to solar calculations, a month is equal to the time the Sun spends in one constellation; two months constitute one season, and there are twelve months in a year.

Sûrya is the god of light as per the Vedic texts. Sûrya is the literal source of life. According to the scientific fact, the whole universe is based on the process of photosynthesis which takes place due to the presence of Sûrya (the Sun).

The deluded interpretation regarding the Sun and Savita too has been clarified by the Vedas. Savita is present uniformly in all the Suns of the cosmos. It inspires, it is the lord and god in the form of divine energy. According to great Rishis every Sun is none other than Savita. Savita is the source of all inspiration. According to Shatpatha Brâhman, Savita nourishes all demigods too [7].

Å/oa dsr lforkjksgk vJsTt ;kfrfo'oLeS Hkkouk; Ñ.ouA
vkiklkoklifFkoh vUrfj{k fo lw;k jf'esfHk'pfdrkuuAA

"Savita god has scattered his light upwardly and has thus lit up the entire cosmos. The Sun that shines brilliantly along with its rays fill up Earth, heaven and outer space".

It means that the Sun is the chief of the material solar system whereas Savita is the descriptive form of the manifested spiritual inspiration present in the consciousness of meditative Rishis. It is an inner divine power. Vedas proclaim: Savita god which is the inspirer of this gigantic cosmos and also its creator controls cosmic laws and activities of give and take. Thus the Earth brims with joy and despite being devoid of props keeps the heavens steady so that they do not fall down. Since it is omnipresent it milks the cloudy ocean that is bound by chains of wind [9].

lforkjksgk ;U=% ifFkoh ejE.kkn;LdEHkw lforkjksgk |keígrA
v'ofeok/k{k)fuEkUrfj{kerr c)a lforkjksgk lenaeAA

In this verse there is a glimpse of solar activities at the macro level.

Destroyer of Sins

In one mantra (Rig -Veda10.37.4) Rishi Abhitapa Saurya reveals that Sûrya by dispensing darkness and with His radiance removes from us famine, sickness and evil dreams. Today modern science seems to agree. Sun is said to be an alternative source of energy called solar energy and today its various rays are used for treatments of various ills. An ultra red ray is one example. The Rishis reveal that the green rays of Sûrya devatâ are beneficial for vegetation, animals and maintenance of ecological balances.

Sun is said to be the destroyer of sins. Its divine brilliance is potent enough to do so. Very beautifully this eulogy has been sung in the Rig Veda [8].

vfpRrh ;PpÑek n0;a tu nhuinz{k% iHkrh i#"kRorkA
no"k p lforkeku"k"k p Ro uk v= lqorknukxlaAA

"If we, being men, as we are in our nature, have done something which has no sense in the eyes of our divine nature, because of our weak discrimination or

Insolent egoism, you, O Savitar, amends this mistake and makes us sinless here

[on Earth] among gods and among men."

In this manner Super Gayatri Mantra is full of prayers for liberation from all sins and instead yearns for a pure intellect. This prayer is chanted while meditating on Savita. In the verses of Atharva Veda (17/1/22) Vedic Rishis chant prayers while prostrating to the Sun during Sunrise, noon and Sunset. Sun god after giving mental peace gives all sorts of material comforts

which are desired by mankind and also gives us necessary energy to fulfill all our resolves. It has been mentioned in one mantra of Rigveda (Rig Veda 4/53/4).

Seven Colour Rays of the Sun

Rishis of RigVeda have been chiefly mentioning the advantages which Sûrya devatâ, specially his seven colour energy rays, viz., Mitra, Uúha, Savitâ, Bhaga, Âryamân, Daksha and Ansha bestow on man. Taking clue from them, later Rishis have studied them in depth.

Science tells us that these seven colour rays of the Sun are called as **VIBGYOR (**Violet, Indigo, Blue, Green, Yellow, Orange and Red) and have different wavelengths and frequencies. They reach on Earth one after another in the morning and leave Earth in the evening in the reverse order. When all of them are together on Earth, they produce white colour [4]. These seven coloures are assimilated like: Violet as Ansha, Indigo as Daksha, Blue as Âryamân, Green as Bhaga, Yellow as Savitâ, Orange as Uúha and Red as Mitra. Thus, science seems to hold the theory of Rishis that the seven rays produce a number of combinations and play an important role in human life.

The Sun donates his rays for all things. The Sun's rays by mixing with the Earth's water changes them at that time. The water gets transferred in the form of the cloud. And the hydro-power manifesting water is also carried out by the Sun only. So we can see that, the rainy season's cycle is controlled by the Sun. The temperature in the Sun is billion Crores. This heat is created by the splitting on the many gas molecules. The Sun is doing is prime act of controlling the water, the Earth & the Sky by effect of His amazing great heat [1].

The Sun Salutation

Rituals in India have been very scientific. Science says everything is matter or energy while spirituality adds life to it. Offering prayers to the Sun is thanking the Sun for all that it has bestowed on this planet. Watching the rising Sun is very beneficial to the eyes. It also has a soothing and calming effect on the mind [2]. The process offering water to the rising Sun is to take water in the hands and offer it slowly to the rising Sun while watching it. Watching the rising Sun is good but if done for long time it can harm the eyes. Recent science says that 20 minutes of morning light is best for the body to produce essential Vitamin D and achieve hormone balance.

Exercising, meditating and praying all combined into one are the Sun salutations. Even relative to the asana side of Yoga, the Sun has a very important symbolism. The Sun salutation is probably the most important of all asana, as it covers the largest range of bodily movements, energizing all our physiological systems and all the organs, spreading the solar light through all our limbs.

Conclusion and Summary

In the dawning ecological age, we are once again recognizing the spiritual powers at work behind the forces of nature, the most important of which is the Sun. We need to cultivate the external Sun not only as an energy source, but the inner Sun as a source of inspiration and meditation. This once more provides us a world view in which we can appreciate the spiritual teachings not only the Vedas, Yoga and Tantra, but of all solar traditions of truth and enlightenment, which have counterparts all over the world and many of which are undergoing renewal. However, if we look at traditional and ancient cultures from throughout world, we discover a strong awareness of the Sun as a spiritual force, and as great symbol and a secret doorway to a higher reality. We note extensive religious, spiritual, yogic and astrological traditions that revere the Sun in various ways and also seek to understand the wisdom and grace behind its outer form, intuiting through the Sun the supreme force behind all existence.

Thus the Sun is obviously the most powerful influence in nature and responsible for the light through

which all life on Earth functions as well as sustaining the force of gravity through which the Earth revolves. The Sun is the ruler or cosmic lord behind our solar system and all that occurs within it. Yet though we all welcome the Sunlight every day, we seldom consider the spiritual reality of the Sun or honor the sacred presence and higher spirit behind it, we take Sunlight only for better health or an alternative energy source.

References

1. Arya P.S. Veda Pradeep "The Suryadevata in Vedas and Science of Sun".
2. Bharat A. "Surya Bhagwan and Science" 09-08-2013 (thegreaterindia.blogspot.com).
3. Chinmoy S. "The Dance of the Cosmic Gods" (1974) Agni Press.
4. Gupta S.S. "A Study of Deities of Rigveda" (2006) Abhinav Publication New Delhi-110016.
5. Moore P. Science and Myth "Suryea: Our Beloved Sun" 14-12-2011.
6 "The Ancient Yoga of the Sun" American Institute of Vedic Studies, (www.vedanet.com).
7. Trivedi R. Hindi Rig-Veda (4.14.2) (1954). Prayag. India Press Limited.
8. Trivedi R. Hindi Rig-Veda (4.54.3) (1954). Prayag. India Press Limited.
9. Trivedi R. Rig-Veda (10.149.1) (1954). Prayag. India Press Limited.

●

HIGHER EDUCATION IN INDIA : ISSUES, CHALLENGES AND SUGGESTIONS

*DR. SHRAWAN KUMAR GUPTA**

Higher Education occupies a special position in the education system of any nation because it is on the top of the educational pyramid and thus influences all levels of education. The importance of higher education has been very succinctly expressed by Pt. Jawahar Lal Nehru in his convocation address at Allahabad University (1947) in the following words: "A University stands for humanism, for tolerance, for reason, for the adventure of ideas and for the search for truth. It stands for the onward march of the human race towards even higher objectives. If the University discharge their duties adequately, then it will be well with the nation and the people."

Society's expectation from higher education, however, have not remained the same always, but have kept changing with differing social concerns, economic situation and political conditions. Higher education refers to education in post higher secondary institutions, colleges and universities. In higher education the following three aspects are relatively recent origin :

- The first is that social, economic and industrial development have created a pressure towards greater specialization. It has created the condition that the student in higher education knows more and more about less and less.
- The second aspect is that as societies grew more complex, more relative and more efficient means cultural transmission evolved. The result is the formal, institutionalized system of education.
- The third aspect is of research which has emerged as one of the most significant dimension of higher education today.

Issues in Higher Education System in India

The first commission on university education was appointed under the chairmanship of Dr. Radha Krishnan. He recognized that, "If India is to confront the confusion of our times, she must turn for guidance not to those who are lost to the exigencies of the passing over but to her men of letters and men of science, to her poet and artists to her discover and to her inventors. These intellectual pioneers of civilization are to be found and trained in the universities which are the sanctuaries of the minor life of the nation."[1] Later the Kothari commission (1964-66) in its report stated."..... The universities must learn to encourage individual it variety and dissent within a climate of tolerance that man will be able to live wisely and intelligently."[2]. According to The National Policy on Education (1986), "Higher Education provides people with an opportunity to reflect on the critical social, economic, cultural moral and spiritual issues facing humanity. It contributes to national development through dissemination of specialized knowledge and skills. It is, therefore, a crucial factor for survival being at the apex of the educational pyramid; it has also a key role in producing teachers for the education system."[3]

In our country, the 10+2+3 pattern advocated by the Kothari Commission is presently being adopted by all the Indian states and the NPE (1986) reaffirms it. Higher Education comprises of education that is given after 12 years of school education. The structure of higher education in India and the amount of time needed for different levels of education is indicated in the Table 1.

With the structure of higher education in our country many types of educational institutions which are imparting education like , i.e. 44 Central Universities, 306 state universities, 129 Deemed Universities, 14 Open and Distance Universities, 18 NIT, 7 IIT, 4 TIIT, 4 ISI, 6 IIM, 136 Research institutions like 700 university and more than 35539 colleges in present day (Table 2).

*Executive Editor (Sambhavya) and ABRC (Science Education) BRC, Sewapuri, Varanasi (U.P.)

In spite of setting of these definite aims and objective set up for higher education, a common structure of higher education the growth of educational institutions and infrastructure the higher education system India is encompassed with a host of issues and challenges. some of the issues among then demand our immediate attention. Chief issues in higher education system in our developing country like India focussed in following points:-

1. Issues of facing the process of Globalization

From 1996, the signing of the GATS and the extension of GATS to educational services has modified our higher education system. Today's functioning climate is characterized by growing mobility of persons, capitals knowledge and a sharp increasing in the demand for higher education as a result of globalization has exerted pressure on rethinking about the curriculum instructional involving ICT and international needs.

2. Issues of quality improvement

It is one of the major issue in higher education today. Quality and excellence do not happen accidentally. Organized and focused efforts are needed to achieve them and that is what UGC intends to do in Tenth plan. The UGC is fully aware of the need for doing the things is quality way. The globalization of education has forced to different issues in quality improvement like modern method of teaching and learning, develop learner friendly teaching material change their evaluation method and strive for excellence to sustain themselves in this competitive world.

3. Issues in the growth of numerous educational institution

Today in our country a large numbers of central universities and state universities and their affiliated colleges are tremendously increasing aspiration of education is not met by the existing of higher learning.

Table 1. Structure of Higher Education in India

Faculty	**Age**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**Student Enrollment %**	
	Level	**U.G.**			**P.G.**		**RESEARCH**				**Oths**	**Years**	**Years**
	Yrs	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**2006-07***	**2012-13***
Art		B.A.			M,A,		M.Phil				D.Lit.	45.1	37.1
Science		B.Sc.			M.Sc.		Ph.D.				D.Sc.	20.5	18.7
Commerce		B.Com			M.Com		Ph.D.				-	18.0	17.6
Engineering		B.E., B.Tech.			M.E,. M.Tech		Ph.D.				-	7.2	16.1
Medicine		M.B.B.S			M.D., M.S.		*M.Phil, Ph.D.				S.S.	3.2	3.6
law		Graduation			LL.B.		LL.M., Ph.D.					3.1	1.8
Education		Graduation			B.Ed., M.Ed.		Ph.D.				D.Lit.	1.4	3.5
Agriculture		B.Sc. (Agri.)			M.Sc. (Agri)		Ph.D.					0.6	0.5
Veterinary		B.Vsc.			M.V.Sc		Ph.D.					0.2	0.1
Others		B.J.,BFA, B.P.Ed. etc			MJ, MFA, MP Ed.		Ph.D.					0.7	1.0
Year	2006-07	86.3%			12%		0.6%				1.1	100%	
Year	2012-13	82.9%			8.7%		1.4%				7.0%	100%	100%

*UGC Annual report 2006-07 and 2012-13

Table 2. Status of Indian Universities and colleges and its Enrollment.

Year	British Period					Independent India					
Institute	1881-82	1901-02	1921-22	1936-37	1946-47	1956-57	1966-67	1986-87	2006-07	2008-09	2012-13
Universities	4	5	12	17	19	32	73	126	371	400	700
Colleges	68	179	207	366	433	746	2572	5600	17000	22000	35539
Enrollment	5399	23009	66258	126288	240000	411000	1094000	--	1.10Crore		2.74Cr

4. Issues of autonomy of Institutions

University Autonomy is an urgent issues in the academic world today, being a response to the problem of bureaucratic style of management in an era of reduced government funding support.

5. Accountability of Institution

Institution and its professional issues are accountable to the society expectations to answerable legally or morally.

6. Planned establishment of colleges

In our country many of the affiliated colleges have been created more for political and regional consideration rather than to meet the higher educational needs of their respective states. Many are extremely small in size, lack the minimum facilities needed to develop viable instructional programmes and pose a constant treat to quality and standards of higher education.

7. Accountability of University teachers

This issues are related specialized jobs and require certain set of competencies, skills, attitudes and values on the past of the teacher.

8. Improvement of conditions for teacher

Apart from the appraisal the service conditions and incentive provided to the teachers also influence their work.

9. Method of Teaching

Training of teachers of higher education in the pedagogy of teaching evaluation etc needs urgent attention issues in Indian University and colleges.

10. Relevance of the content

The relevance of higher education curriculum to the present drastically changing society is still questional curriculum upgrading is an urgent need.

11. Examination system

Emphasis on testing of internal evaluation, grading system , question banks and national level common examination pattern are four major issues of examination reforms in our country.

12. Funding has been a major issue. In India the second largest system of higher education with over 27.5 million students in 2012 and 5 million teachers, 86.3% of students study in undergraduate prgramme, 12% in P.G. level, 0.6% in research level and in others level percentage is 1.02 with increasing financial allocation for primary (SSA) and secondary (RMSA) education, the funds for higher education is decreasing.

These are some of the major issues to be seen in our present higher education system.

Challenges facing higher education in India

The 21st century present unique challenges for the higher education system. Higher education must be able to respond to rising student expectations and the demands of global competition . The impact of global education market and the transition to the knowledge era poses great complexity to policy makers, regulators and administrators. This also present an unparalleled

opportunity to give a new direction to the role and mission of higher education by using TQM (Total Quality Management) practices.

The government, universities and various regulatory bodies like UGC (1956), AICTE, NCTE (1995) etc. have to shed their conventional mind set and rise to the demands of the 21st century in chartering the course of higher education. The number of university and their affiliated colleges is swelling day-by-day with the result that mushroom growth of college had led to the lowering of standards and deterioration in the quality of higher education in India has expanded quantitatively but qualitatively it could not improve over the years. Several problems in the fields of higher education system in India are commonly mentioned :

1. Role of the university system.
2. Access of higher education
3. Improvement of standards
4. Restructuring of courses
5. Post Graduate Education and Research.
6. Diversification of courses
7. Decentralization
8. Autonomous colleges
9. Academic freedom
10. Medium of instruction
11. Extension services
12. Student unrest and indiscipline
13. Role of UGC
14. Aimlessness
15. Problem of Expansion'
16. Problem of admission
17. Poor condition of Library and laboratory
18. Selection of Teachers norms.
19. Faculty Examination system
20. Teacher politicians
21. Unionization of Teaching and non teaching staff.
22. Problems of medium choice of student and Teacher.
23. Faculty method of Teaching.
24. Lack of Motivation for teacher to keep up-to-date.
25. Lack of vocational and teacher education.
26. Problem of wastage and stagnation.
27. Problem of Brain drain.
28. Dearth of student welfare.
29. Lack of moral and spiritual values
30. Problem of funding facilities.
31. Lack of proper co-operation and co-ordination.
32. Administrative problems.
33. Fall of standards or Lack of quality.

Today, education lack originality and for this the whole system is responsible. Along with expansion there is constant need of consolidation also. Now, it is high time that we restrict expansion and concentrate on raising the standard. Many of the government run and aided institutions are chronically under funded and face escalating demand from student clamoring for affordable access to higher education. The public funded faculty most of whom have been desensitized through long years of trade union practice and protection and misguided ideology often lack of motivation. Students are poorly and curriculla remains unchanged and under developed. The basic agenda facing higher education providers in 21st century is to provide its learners with in depth knowledge of quality comparable to the best in the world. Ever institution or service provider for quality control, quality assurance and quality maintenance, Thus, we can conclude that Quality in Education is a multiple concept with varying conceptualizations and this poses problems in formulating a single, comprehensive definition. It concludes within its ambit the quality of inputs in the form of students faculty, support of inputs in the form of students faculty, support staff and infrastructure, the quality of processes in the form of the learning and teaching activity, and the quality of outputs in the form of the enlightened students that move out of the system.

Suggestions for Quality and Value Based (QVB) Higher Education System in India.

Higher education system in our country like India is a loose configuration of heterogeneous organizational units like universities , colleges and professional councils etc. This diversity is a source of excellence and makes it vibrant coordination of such a diverse system of

education is tricky yet necessary to ensure its credibility. UGC is mandated to ensure coordinated development of higher education system in India ensuring quality higher education for all some suggestions to UGC, NCTE, AICTE, NCERT, Central and State Government, Research institution etc. like another apex bodies of higher educational institutions of India, more specifically would like to-

1. Leverage its funding to bring about change in the higher education in the country in a systematic manner.
2. Adopt objective based colleges maintained by it that promotes greater accountability and would like the other agencies to adopt similar mechanism.
3. Institutional forms may very as time and cirumstances require but there should be a steadfast loyalty to the abiding clements of respect for human personality, freedom of belief and expression for all citizens, a deep obligation to promote human well being faith in reason and humanity.
4. We should preserve the values of democracy justice and liberty, equality and fraternity universities must stand for these ideals which can never be lost so long as men seek wisdom and follow righteousness.
5. The universities should educate people on the right lines to make the understanding and vision of the framers of the constitution the common possession of all the Indian people.
6. A student aspiring for higher education must have vocational aptitude. Aptitude test is essential prior to admission in any institution.
7. The teacher should be trained adequately for the quality higher education new courses and course combination have to be offered for meeting varying learning needs of students.
8. Recruitment of higher teacher selection is based on NLEP (National Level Examination Patterns) to universities and their affiliated college vacant seats, not only based the interview criteria. It is based on the applicant academic record, screening examination points and seminar, conference, workshop and paper publication work and also interview points.All these performance are also related to the transparent and without corruption.
9. The Indian National Commission on Techers in Higher Education that a record of teacher's multifarious activities should be carefully maintained and every year the teacher should assess his own performance and place it on record by SEFIT (Self Evaluation Format of Indian Teacher).
10. To build a quality higher education and to sustain it against international competition are not only a policy makers in India but also a strong programme of action for bench marking of UGC, NAAC and other statutory specialized agencies is actively engaged enhancing and maintaining quality higher education in India.
11. The universities should provide adequate number of infrastructure facilities modern equipment and advanced communication facilities for the students.
12. Universities should take efforts to create learning interest in students.
13. The cost of higher education should be minimum so that all the students irrespective of economic status can afford to take up higher education.
14. Educationist, policy makers and planners should accept humanistic approval to achieve the human development.
15. Higher Education curriculum is "student oriented" with freedom to choose the subjects of their choice.
16. The idea of open university and distance education should also to encompass rural areas attracting more girls, especially from small town and rural centers to participate in the venture of higher education system in India.
17. We have also suggested that the present all regulating bodies like UGC, AICTE and NCTE etc. should all be subsumed within a NCHER

(National Commission for Higher Education Research).

Conclusion

The main issue of higher education system in India is the influence of English and the consequent failure of higher education and this has continued resolved even today. The research component at universities have been challenged due to perceived neglect of undergraduate education. The main challenges in 21st century in our country is also problem of an employment which is technically, a mismatch between supply and demand of resources. Though the forgoing suggestion provide some clues to encounter the issues and challanges of higher education system in India. The success depends entirely upon the collective efforts of politicians, social workers, community, teacher and students themselves.

References

1. Raina, R. and Sheela, G. (2006) Glimpses of Higher Education, Issues in Higher Education system in India, Rakhi Prakashan, Agra-2.
2. Sudha, H.R. (2006). Problems and strategies of Higher Education in India. Rakhi Prakashan, Agra-2.
3. Saikia, L.R. (2006), Glimpses of Higher Education, qualitative Reforms and Hazards in Higher Education, Rakhi Prakashan, Agra-2.
4. Singh, Amrik and Sharma G.D. " Higher Education in India, New Delhi, Konark Publications.
5. Veeraraghavam, J (984), Higher Education in Eighties opportunities and objectives, Lancer, New Delhi.

GANDHIAN PHILOSOPHY : AN INVESTMENT TO HUMANITY

*VISHAKHA SHUKLA**

Gandhi was born in 19th century, worked in the 20th century and his ideas would remain relevant and practical in the 21st century as well. International Monetary Fund (IMF) Director Macdoseus as well as 82 Nobel laureauteshave unequivocally taken a stand that the future of humanity lies only in Gandhi. Gandhi will stand to the test of time in the 21st century and the global programme of eradication of unemployment, poverty, communal tension, disease etc. will be well attened to by the Gandhian thought in the 21st century. Dr. Martin Luther King II had aptly said: "this is an age of guided missiles and misguided men". Hence man in the 21st century will be guided by wisdom and the sustainable development will be achieved. Gandhi wanted war against prevailing ills but his war was to be non violent one. Gandhi provided the best option of the development of the third world countries. His ideas on man machine equilibrium could change the face of the world by eliminating hunger and poverty from the Globe and help maintain a balance between man and his environment. The inclusion of the Panchayati Raj system in the constitution of the country promises to change the country side by empowering the people specially the weaker sections. Gandhian thought is a way of life, it suggests that man should free his mind from tension, hatred, violence, frustation and from ecological crisis so that ill-will, destructive passion and bad tendencies what we can also said mental pollution may not be emerged. Gandhiji believes that unless put a brake on our desire we can make neither ourselves happy nor can allow others to remain happy. The interest in Gandhi is not merely from a sociological, philosophical or intellectual perspective. His ideas are liberally drawn upon by management thinkers in the west. His ideas are used in subjects as diverse as conflict management, negotiation skills, management ethics and corporate leadership programme. The surest ground of resurgence and revitalization of Gandhian approach is the urgent necessity to deal with ecological degradation and environmental dangers. Population explosion, climate change, global warming, vanishing forests, loss of bio-diversity, falling water resources and necessity of sustainable development are the key areas which confront and control this troubled and passionate planet-the earth. The ruthless exploitation of nature and its resources has resulted not only in pollution of the atmosphere but also in the poisoning of healthy soil through the dumping of hazardous and toxic waste often in the third world.

Human activities involving reckless and mindless exploitation of natural resources have crossed the carrying capacity of specific ecosystem and have even disturbed the global equilibrium as a result of which the survival of humanity itself has been endangered. The growing conflict between human species on the one hand and the nature and its natural resources on the other is alarming. In the Johannesberg summit of 2002 Thabo mbeki, the South African President has said-" A global human society based on poverty for many and prosperity for a few characterized by islands of wealth, sourrounded by a sea of poverty is unsustainable. When Johannesberg World Summit 2002 took place, the times of India in an editorial on sept. 2002 remembered Gandhiji and wrote-"hammering out international protocols on environment is the protracted and polemical process. On what can individual citizens do? In practical terms, very little. In moral terms perhaps alot. Mahatma Gandhi used the boycott of Videshi (foreign) goods against the pollutant of colonization. Green consciousness has to sprout from within first, from the individual, to the community, to the national and international levels.

The spiritual humanism of Gandhi is different from material humanism of Marx and moral humanism of Buddha in the sense that it combines the values of the

*Assistant Professor, Department of Education, Sampoornanand Sanskrit University, Varanasi

two theories. Man is no doubt the crown of this evolution. But he is a part of nature. The analysis of man's powers reveals the truth that man cannot be reduced to nature or equated with nature. Mankind have attained remarkable success in diverse fields such as science and technology, economy and in other fields which are definite indicators of development. We have secured comforts, affluence and even command over nature. Nations of the whole world since last two centuries have only one concern and agenda that is to grab all-round development. The race for development is never bad as it brings happiness and welfare to mankind. But the costs which we have paid or paying for such developments are heavy and detrimental to the human society as a whole. Because in the race of development we have alienated from ethical and universal values. Instead we adopted the new values like individualism, materialism, and even conflict for grabbing development and happiness. Unfortunately modern science does not care for what can be said to be the value system, human beings have evolved through generations by experience. Human values such as peace, love, beauty, joy and so many other values do not come anywhere in the agenda of science and technology. On the other hand science, boasts that it is value neutral and recognize quantifiable facts only. In fact Gandhian values are pragmatic not because they have ethical base but because they suit for universal application. They are simple, benefitting human nature and above all they are logical. Desai holds, "Gandhi's thought is India's most enlightened and modernising gift to the world, the basis for social action which enables each community to enrich the world's diverse cultural heritage without claiming privilege and hurting another susceptibility or legitimate interest. By implementing Gandhian values we can solve various problems and ills with which the contemporary world is infected and also can prepare ground for a better future world. Therefore national leaders, intellectuals and philanthropists are repeatedly stressing upon the need to adopt and realize Gandhian values into practice. Perhaps because of the fact that we fear that adhering to Gandhian values would mean non-fulfilment of our selfish ends. Thus we prefer to adopt non Gandhian values for the sake of self-amelioration and fulfilment of our goals. But on the other hand we do not hesitate and fail in praising Gandhian values and suggesting others to follow them. Because, most of us are hypocrates we have dual personality. There exists contradiction in our thoughts and action. None of us, whether politicians, philanthropists, intellectuals or else, virtually have the capability and courage to practice Gandhian values. For this reason, the people in general fail to locate the model personality of Gandhian values. Infact there is the need not only to preach and praise but to become the model of Gandhian values like Vinoba Bhave, Gaffar Khan and a few other contemporary Ghandhiates who by their deeds or actions can motivate and mobilise the mass to adopt Gandhian values and only by that we can make Gandhian values pragmatic and useful for the future generations.

Gandhi believed, preached and practised the principle of co-existence among people irrespective of their religion and faiths. Gandhi believed that without Hindu Muslim unity well integrated and organised Indian society cannot be imagined and achieved. He continued his unceasing efforts to secure communal unity and peace till the very end of his life till he himself was consumed by the poisonous flame of communalism. He also emphasized the cultivation of morals of high order and sense of sacrifice among majority and minority for the sake of expelling communalism and maintaining communal harmony. My mission is not merely brotherhood of Indian humanity. My mission is not merely freedom of India.... but through realization of freedom of India I hope to realize and carry on the mission of the brotherhood of man. My patriotism is not an exclusive thing. It is all embracing and I reject that patriotism which sought to mount upon the distress or the exploitation of other nationalities....(it is) the broadest good of humanity at large, says Gandhi. He aimed at the development, upliflment and enrichment of human life rather than a higher standard of living with scant respect for human and social values. He wanted to

elevate modern economic philosophy from its materialistic base to a higher spiritual plan where human actions were motivated by social objective rather than individualistic and selfish consideration.

Gandhian Philosophy focuses on the following points–

1. It provides a means, method and approach to the realistic solution of communal discord.
2. It is very appealing to the conscience and heart of human beings.
3. It fosters humanism and fellow feeling.
4. It makes the people conscious of treating others faith and religions as equal to their own.
5. It makes a realistic appeal to the majority and the minority with a solution for living together and trust each other.
6. Gandhian principles of unity are stable from the point of view of human nature because it recognises the value of love, non-violence and fellow feeling to be internalized by the Indian people.

Gandhi is inevitable, if humanity is to progress, Gandhi is inescapable. He lived, thought and acted, inspired by the vision of humanity evolving towards a world of peace and harmony. We may ignore him at our own risk.... these were the words of Dr. Martin Luther King Jr. The Noble Peace Prize winner and the one who tried to translate Gandhi into practice in the west. He wrote, "the intellectual and moral satisfaction on that I failed to gain from the utiliturianism of Benthem and Mill, revolutionary method of Marx and Lenin, the social contracts theory of Hobbes, the 'back' to nature optimism of Rousseau and the superman philosophy of Niezsche, I found in the non-violence resistence philosophy of Gandhi. I came to feel that this was the only morally and practically sound method open to oppressed people in their struggle for freedom". Some one asked Bernard Shaw, "what do you think of Gandhiji as a man?" he returned, "Gandhiji was not a man, he was a phenomenon.

Gandhi as a great social scientist and practical idealist had his own clearly defined ideals and experimented them in his personal life and public relations before he exhorted them to others. The basis of peace in social and political life is love. "I am fascinated by the law of love. It is the philosopher's stone for me". Acharya Vinoba Bhave says, "these days absence of war is regarded as peace. But peace really connotes absence of fear. There would be peace only when no part of the world is afraid of or exploited by any other part". Richard Gregg aptly states: "You cannot pursue peace but you pursue truth and non-violence and peace will be a by-product". Peace is not static but dynamic. It is an active force. According to Gandhi, peace does not mean the calmness of the graveyard. It has value only when it has the power to solve the problems which may arise on any occasion. Peace should permeate every walk of our life social, political, economic and religious. This is possible only when we raie our society on the strong foundations of truth and non-violence.

The lovers of peace need not surrender themselves meekly to injustice. Gandhi has evolved a more powerful method to fight against injustice is 'satyagraha'. Vinoba says, "Gandhiji taught us several things, but the most important of which is satyagraha. Faith in truth, in the whole conduct of life is satyagraha. Control of the body, speech and mind is also satyagraha. He had suggested the following elven vows to be adopted by the Indians for conducting a peaceful life. Non-violence, truth, non-stealing, brahmacharya, non-possession, bread-labour, control of the palate, fearlessness, equal respect for all religions, swadeshi and spirit of exclusive brotherhood.

To Gandhi, non-violence is a life force and not a policy. So he ceaselessly worked for internal and external peace and hence his methods are more spiritual in nature. The discovery of satyagraha was the historic necessity of the 20th century if mankind was to survive at all. We must now admit the possibility of substituting non-violent collective action for militarism. Gandhi showed the way upto a point. We must now advance further from that point towards world peace. All men

desire peace but very few desire those things which make for peace. Huxley says, Gandhiji's humanism was the pivot of all the different aspects of his wonderful personality. According to Gandhi the highest service to man will be our sincere endeavour for drawing out the divine nature in man. To gain this end we have to be in communion with God and to worship him as the source of all our noble virtues. By virtue of his humanism he attracted like a magnet the people of different races, religions and creeds unto him and his followers in large number clusters round him to form a happy family as it were. His humanity was undivided and he loved all man irrespective of caste, creed or colours. Time changes, with the change of time human beings change but no change of time urges the change in humanism. Humanism distinguishes human beings from other species in creation. Humanism comprises: truth, non-violence, strength in character, non-stealing, non-possession, purity, devoid of jealousy, penance, self-study, surrender to God, taking senses from external sphere to inner sphere, concentration on a point of conviction, meditation on cosmic energy, absorption in the ultimate. Gandhiji became Mahatma on account of the above mentioned principles in letter and spirit not only in his own life and family but in his public life as well.

For Mahatma Gandhi, the supreme consideration is man. He holds, "human happiness combined with full mental and moral development" as the goal of life. Thus this is time now to invest in humanity. We have invested alot for making doctors, engineers, bureaucrats, scientists, teachers, clerks, technicians etc. but now humanity demands a huge investment to itself for preparing a humane doctor, a humane engineer, a humane bureaucrat and a humane teacher and ultimately a humane citizen for a progressive society and nation. Since humanity is crying in this age of civilization, graph of corruption has raised violence against children and women have increased, environmental degradation is at the peak point. So saint like Gandhi and his philosophy have a great significance in this era. The unhappy result of man's short sightedness are being felt more and more as the civilization shows its cruel teeth more and more. Gandhi's basic thoughts have universality and they do not appeal only to a handful of romantic idealists. Today, far sighted thinkers in the west also feel that material affluence generate greed and selfishness and erode spiritual values, profligate life-styles should be curbed, that poverty should be eliminated throughout the world and the society must be explicit about the importance of values and ethics. These are the thoughts for man's healthy body and healthy mind and will surface more and more with the passage of time. Those who envision a better society cherishing these thoughts are not swimming against currents 'Satyameva Jayate' truth shall prevail. How do we move ahead towards a society enshrining rivher values? The society does not change itself. Man the active force is the builder. It is man's privilege to overcome adverse circumstances, asserts Gandhi. True, none can live outside an environment that has its weight on man. But living within an environment it is man who decides what to do or not to do and charts his path. The more developed a man is the more he moulds the environment and the vice-versa. In reality, it is the quality or character of man that is the basic determinant of the human life. We must have desirable institutions, laws, programmes etc. but all these become as good or as bad as the human quality behind them. This human quality is shaped most of all by man's consciousness, his thinking and feeling. Thus any social change must mean basically a change in the quality of man's consciousness. There is no change if man remains unchanged. Side by side, the environment also should be reformed.

This means that we depend the most on education on persuasion and moral appeal in rousing the consciousness of a man. Education is the means for self-realization and establishment of humanity in the society.

The new world order of Gandhiji consists of–

1. Ram Rajya (state of righteousness)
   a. Kingdom of God(kingdom of heaven on earth where spiritualized political activates can bring real freedom)

   b. Paradise on earth(where there will be no paupers, no beggars, no high, no low, no millionaire and no half-starved and a society free from impression and injustice)

2. Sarvodaya (where all beings be happy, all be whole and healthy, may all attain good ends and none should meet misery)
   a. The well being of all
   b. The supremacy of spirit and moral values
   c. Person orientation (centre of everything is the individual)
3. Swadesh (law of love, universality and tolerance)
4. Swaraj (complete independence from alien control, and complete economic independence)
5. A cosmic order (respite all beings animate and inanimate)
6. A non-violent world order (non-violence to be a social virtue to be cultivated by all nations
7. Universal brotherhood (hug all humanity in friendly enbrace)
8. A village republic (equality, decentralization, participation and self suffiency for all
9. An egalitarian society (application of theory of trusteeship)

Gandhi not only developed his ideas on new world order of the future but also he had the solutions to many problem to humanity which we face today. So Gandhian thought- his concept of man and his conception of moral law, is primarily a spiritual and moral being blessed with the divine but limited gift of reason or thought. The spiritual aspect of man seeks union with God and is the basis of all great culture and of all human achievement. The moral aspect of man that which chooses in a world of necessary action and encounter, is that dimension of the self which courageously seeks to will the good of others despite the plethora of passions and distractions that plague us at every stage of life. In a Gandhian sense, the end of every thought is an action. The significance of every noble idea is its capacity to confront and transform current reality. The ideals that we enthusiastically embrace represent the 'active universal' within us. The thoughtful acts we initiate within the confines of our local political and economic communities constitute our opportunities to uplift and reform the actual, the limited and the parochial. Man is the epicenter of all revolutionary change, the alchemical agent of social regeneration, like Paine, Gandhi might say, "the birthday of a new world is at hand..." only man can creatively reorder priorities, reconfigure personal and social relationships into a more aquarian geometry and build a new temple of Civitas Humana (city of man).

Mahatma Gandhi lives on not in and through his ideology but he has been declared a national asset under the National Emblem Act. Under this act the name or the pictorial representation of the Mahatma or the word Gandhi may only be used on calenders and that too only if the calenders are not for advertising purposes. But outside India Gandhi has become a brand and is being used recklessly for commercial purposes. Gandhi restuarants are formed everywhere. They are found from Amsterdam to Newyork. In some of the cases a Gandhi restuarant is complete with a bar and elaborate non-vegetarian. Gandhiji himself has said "everyone is eager to garland my photos but no one wants to follow my advice". This has proved to be prophetically true. He has become an icon and the trouble with the icon is that once dead, their relevance quickly decays and their image becomes fixed in popular memory. Gandhiji lives in offices of India and in the stone images. The image of Gandhiji is buried inside history books in chapters nobody in the country and the government cares to read or rewrite. The core idea of Gandhiji lies on his principles of ethical action, self-reliance and ability to draw strength from within oneself. Infact it is not the man, but the ideas of Gandhi which are extremely relevant. By investing only to humanity we can save our planet and Gandhi had showed us the right path for the present and future world. His thoughts are relevant and universal for all time and all generations.

References

1. Chaturvedi, D.M. (1991). *Gandhi Arthniti*. Varanasi: Vijay Prakashan Mandir. Pp 56,67,72.
2. Gandhi, M.K. (2008). *Sarvodaya*. edited by Jitendra T. Desai. Ahmedabad: Navjivan Mudranalaya. Pp 8,17,36.
3. Gandhi, M.K. (08.09.2009). *The story of my experiments with truth*. reteived from http:// www.holybooks.com/gandhi-autobiogra...
4. Gandhi, M.K. (17.09.2009). *constructive programme : its meaning and Place*. Retrieved from http:// manybooks.net/authors/gandhim.html.
5. Jena, C. Sudhira (2009). *Relevance of Gandhian Philosophy in the post- Global* society. Journal of Gandhianstudies . Pp 155-178.
6. Mishra, R.P. & Gangrade K.D. (2005). *Gandhian Alternative*. New Delhi: Concept Publishing company. Pp 23,96.
7. Pandey, Janardan (1998). *Gandhi and 21st century*. New Delhi: concept publishing company. Pp 97,130,135,136,193,195.
8. Pyarelal, (1958). *Mahatma Gandhi: The last Phase*. Ahemdabad: Navjivan Publishing House. Pp 34,46,100,122.
9. Sinha, S.N. (1990). *Gandhian philosophy of sarvodaya*. New Delhi: classical publishing company. Pp 4,13,14,52.

PATHETIC CONDITIONS OF RESEARCH IN HIGHER EDUCATION

SANGEETA CHAUHAN*

The attention of the educationists all over the world is engaged in finding ways and means of achieving high standards of education the efforts to enhance the quality shall not be confined only to few elite institutions but becomes essential for everyone. The education commission in (1964-66) examined the state of higher education. The Kothari commission stated in its report (1966) to government of India emphasized the need for built in flexibility in the system of education. The National Knowledge Commission of India (NKC-2005) stated that developments in all spheres of higher education are possible only through generation of new ideas through research. So, to enhancing the quality research, many conferences are organized but still now more than 80% ph.ds is bogus. Hence, there is urgent necessity of more and more debates on issues related to higher education and research.

The socio, economic, scientific and cultural development of a nation depend on the quality of population. The quality of population mainly depends upon the type of educating system prevailing in the country. All the countries attempt to impart quality education to the population. They develop vision documents and assess the manpower requirements for coming year and develop programs accordingly. The investment in education particularly in higher education is permanent and the result will come after years. The 21st century presents unique challenges for the higher education system. Higher education in India is one of the most developed in the entire world. Higher education must be able to respond to rising students expectation and demands of global; competition. It deserves a better attention than what it gets at present. The National Knowledge Commission of India **(NKC-2005)** stated that- "creation of new knowledge principally depends on strengthening the education system, promotion domestic research and innovation in laboratories as well as the grassroots level. Thus, developments in all spheres of higher education are possible only through generation of new ideas through research."

Research is phenomenon of exploring new knowledge. The quest of research arises whenever there is an unusual occurrence of a phenomenon but in the present time a matter of great concern is poorer performance of the university sector in the research. The performance of the university sector was quite significant in 1950s and 1960s. It has fallen significantly in recent years. There is serious and growing concern about the quality of Ph.D.s in the country. In some universities, student is awarded a Ph.D. degree within 18 months and in other students takes four to five years, sometimes even longer to complete their Ph.D. degree. The Verma committee, while inquiring about the status of the higher education in Bihar, found that a single thesis was used by many students for award of Ph.D. degree. There is a case of plagiarism and not only Bihar; many theses from different universities are involved in plagiarism. So, quality is a major issue in social science research as well. Doctoral theses in social sciences often apply a descriptive approach to specific limited topics without really relating it to a wider socio-political and economic context. There is a need for a more analytical and comparative approach in doctoral research and relating it to society, policy and economy and only universities are those places where qualitative researches can be done so, it is necessary to know the role of university in quality of higher education and research.

Contribution of Universities in Research Works:-

The universities in the new millennium must take the task of channelizing the higher education and research work to make the society realize, the qualitative fruit of new innovations and ideologies.

*Assistant Professor, Department of Education, Sampoornanand Sanskrit University, Varanasi

Research matters more than anything else in defining excellence in institutions of higher education. It is one the major components of higher education in which the combined intellectual of a group finds solutions to various problems of the society and nation. Research is an important parameter in ranking of universities worldwide. Hence, universities have a crucial role in designing and implementing the research programs.

1. Research activities at the universities level must have the quality of the core level and must be oriented towards maximum applicability.
2. The problems of financial crunch may be reduced by the interaction and coordination of the universities with national and international; level industrial and business establishments to have policy oriented research.
3. Contribution of research findings in the policy making of the nation must be taken as the routine function of the universities to do full justice to the society.
4. Professional researchers and scientists must be provided with comfortable financial and social status by the government.

Role of UGC in amending Pathetic Condition of Research

1. UGC develop the core of conduct for each and every process of Ph.D. recruitment, supervision and examination to maintain the standard and direct NAAC to evolve the procedure to monitor through the process of assessment of standards.
2. UGC enhance the funding for doctoral programs in the universities.
3. In order to promote excellence in research UGC has devised a special assistance program (SAP) under which selected departments are given financial support at three levels (DRS, DSA, CSA).
4. UGC has established seven autonomous inter university centers for promoting research in frontier areas.

Conferences on Quality Research in Higher Education

Research in an essential component of endeavor to promote qualitative improvement what is already known and an exercise to investigate the theory. Hence, to enhancing the quality research, many conferences are organized. Like–

According to **Havana Conference** on higher education the major aim of research is the production of 'endogenous knowledge'. According to **Tokyo Conference** on Higher Education- "All researches should be scientific, technical and humanistic."

According to **International Commission Report** in higher education chaired by Mr. Jacques Delors, published by **UNESCO (1993),** "research in both social and natural sciences must indeed ne independent and free from political and ideological pressures.

The proceedings of the world conference on higher education (Paris, 5-9 October, 1998) states that higher education institutions and research institutions need to collaborate to promote the principal of universities of knowledge.

Dismal Condition of research

The first doctorate degree in education in this country was awarded to **Dr D.V. Chickermane** in 1943 by the Bombay University. Since then, there has been a miraculous growth of educational research all over the county. It is believed that every year, nearly 10,000 to 12,000 Ph.D.s are awarded in India. The main reasons for this unbelievable growth are increase in number of universities offering research facilities, UGC support for research in all disciplines, NCERT staff getting involved in guiding Ph.D. I.C.S.S.R. supporting interdisciplinary research in education, but still now more than 80% of Ph.D.s are bogus, stereotype, repetitive, plagiarized and hence irrelevant sometimes this may be exaggeration, but truth is there.

As above point of view the following reasons can be cited–

1. Universities mainly conduct academic research only for the sake of producing Ph.D. degree and teachers publish research papers only for the sake of fulfill UGC conditions for promotion under career advancement scheme.
2. In the field of research national and international research institute and funding agencies offer a variety programs to scholars, but it is pity that our teachers and scholars don't avail these opportunities and facilities.
3. At present there is no apex body or fixed criterion for evaluation of thesis in all universities.
4. Since neither the government nor the university fixes areas of research and hence there are a number of research studies repetitive in nature.
5. The teachers undergo orientation courses in A.S.C. (Academic Staff College) only to satisfy UGC conditions for promotion.
6. At present the teachers look Academic Aristocracy, teaching is not a service or mission, but it is livelihood to them.

Suggestions

1. Appropriate monitoring mechanism should be developed to ensure quality of research, teaching and extension activities of teachers at university level.
2. Conduct national level test to select the research guides.
3. Check the citation count of the research papers published by the teachers before considering for promotion under career advancement scheme.
4. Internal quality assurance mechanism should be developed within the institution.
5. Social auditing and performance auditing must be introduced to ensure accountability.
6. Research grant to research projects should be sanctioned only after confirming the relevance and usefulness to the community.
7. Pre-Ph.D. course must be made compulsory with written examination.
8. In interdisciplinary research cell should be established in all universities to select the topics and to promote interdisciplinary research.
9. All part time research programs should be stopped.
10. Awarding to Ph.D. degrees through distance mode should be stopped forthwith.
11. The scholars should be encouraged to prepare the research papers and participate in the conferences and seminars.
12. To improve the standard of Ph.D. programme, one of the most essential elements is that the Topic allotted to a Research Scholar should be original and there should not be duplication or any repetition of any research work being done presently at other Indian Universities. Unfortunately, there is no Central Registration Agency which can provide data before registration of a particular topic whether same topic or same topic in a modified form is being pursued at some other University or not.
13. To improve quality of research work for Ph.D. programme, UGC should be pursued to create a Cell where information from all the Indian Universities regarding registrations of topics in a particular subject for Ph.D. is available at the initial stage of research. As soon as P.G. Board of Studies of a University clears a topic, it should be sent to UGC and only after clearance from UGC, student should be finally registered for Ph.D.
14. universities can also take some initiative of their own in this direction by setting up a Cell in their Libraries where all the information regarding registration of topics in a particular subject of all the Universities is collected from internet and websites of different Universities and also by requesting them personally. Information so received should be then fed in the computers and supplied to the Chairperson of the Department concerned, much before the process of registration of Ph.D. candidates begins. I believe

even this single step will prevent repetition of topics to a large extent.

15. The supervisor should not be involved at any stage, in selecting the panel of the examiners. There should be a centralized system of evaluation. The UGC can play a major role in this direction. It should build a data bank of all specialized serious and good workers in the country who can act as examiners of a Ph.D. thesis.

16. The evaluation should be strictly on merit and if following it properly either the supervisors will start taking things seriously or they will stop guiding any Ph.D. student. It is better to produce only a few good quality theses than to have a number of feeble theses.

17. Identity of both Supervisor as well as candidates should be kept a closely guarded secret because most of the Examiners do not evaluate the Thesis/ Dissertation but write Reports/Award Grades proportionately to the status of the Supervisor.

18. To improve quality of Higher Research, Video Recording of Viva-Voce of Ph.D. Candidates is a must. If Viva-Voce of Ph.D. candidate is excellent, then the video recording of such a Viva-Voce will help future candidates for Ph.D. to learn and to improve their own performance.

Conclusion

The rush for getting degree, at the earliest opportunity has negatively affected quality of contemporary educational research. This has made most of the researchers look for conventional rather than innovative strategies, so that there is less risk getting a research degree. Conducting Ph.D. viva in most of the cases has become a social get together. The UGC and the NCERT need to augment their action to advance the quality of educational research. There is urgent necessity of more and more debates on issued related to educational research.

References

1. Atmaram, (2003). "Eiksivee Sedi me Sicksha". Akhil Bharti Publishing, New Delhi, Pp.5-10.
2. Dave, P.N. (2008) (Editor). "Journal of Society for Educational Research and Development" 24(2). Bharuch, Gujrat. Pp. 17-20.
3. Gupta, Ramesh (2010). How to Improve Quality of Research for Ph.D. Programme, Kurukshetra University, Pp. 35-38.
4. Kirk, Gordon (2007). "Policy and Practice in Education". Discovery Publishing House, New Delhi, Pp. 18-22.
5. Pani, Sistla Rama Devi (2007) (Editor). "University News- A Weekly Journal of Higher Education". 45(31). A.I.U. House. New Delhi, pp. 10-15.
6. Pani, Sistla Rama Devi (2008) (Editor). "University News- A Weekly Journal of Higher Education". 46(5). A.I.U. House. New Delhi, pp. 11-15.
7. Rao, Digmarti Bhaskara (2007). "Higher Education in 21st century: vision and Action" Discovery publishing House, New Delhi, Pp. 31-36.

REDEFINING HISTORIOGRAPHY THROUGH NARRATIVE : GENDER AND SUBJECTIVITY IN GITA MEHTA'S *RAJ*

PROF. M.S. PANDEY* AND ANINDITA DAS**

Literature projects the mutual relationship of human life and the society within which life thrives and, in return, makes it dynamic. It narrates the saga of people placed within the framework of the history of civilisations. The history of a society continues to be shaped and re-shaped in every age through the literary genres of fiction, poetry, drama as well as in critical discourse. The writer may select a theme as his/her subject of writing from the wide range of events of either remote or recent past, but the act of negotiating with it in the text becomes quite crucial. The reconstruction of history in literature, in this way, makes the readers conscious to perceive history from different perspectives other than that sanctioned by the dominants' ideology as well as generates an awareness of their own culture in readers' mind. Thus, history becomes a continuous and active process inseparable from life. In the context of historical themes presented in colonial and postcolonial Indian writings, it has been found that the novel is the most favourite genre through which the writers wished to experiment creatively with the past. The themes of these novels are inspired by the historical events that have taken place in the socio-political-cultural spheres of pre-colonial, colonial or post-Independence era. At the same time, these works display a keen interest of their authors in evaluating the canonical historiography of the nation through the narratives. In connection with the writing of Indian fictions, T.N. Dhar aptly comments:

> It is quite well-known … that this literature, particularly its fiction, grew largely because of a conjunction of historical circumstances which brought about social, political, and economic changes of considerable import. The writers incorporated in their writings experiences which were heavily implicated in history, in its old and more recent past. (281)

But novels are not the substitution of history as they represent particular historical incidents merging them with fictional events and characters to serve a certain purpose. Historical novels are distinguished works in Indian fiction writing, as through them the writers reopen a chapter of the national history and attempt to reconstruct the events to match their pre-designed context.

Indian novelists have contributed a considerable number of historical novels both in regional languages as well as in English. Most of the novels written in the early part of the colonial era turned to the medieval or pre-colonial Indian history for their subjects in order to glorify the native traditions and culture. Histories of Rajasthan, Maharashtra and Punjab offered them ample incidents to fulfil their purpose. In later years of colonial rule, the focus transferred to the events taking place in the Princely States or in British India to concentrate on the political and cultural confrontations of the coloniser and the colonised. The consciousness of the colonial subordination obviously played the major role in the selection of such themes for writing. In the words of Meenakshi Mukherjee: "Rewriting history was thus seen almost as a moral act for the retrieval of the self-respect of a subjugated people and as a pedagogic process by which a community could educate itself about how it should represent itself …" (136). But the Indian novels of post-Independence and contemporary times have tried to adopt a new approach towards history. As the colonial period has become a matter of the past, the consciousness of self-assessment has increased. Consequently, the writers too have constantly

*Professor, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
**Research Scholar, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi

tried to construct new perspectives to evaluate and revise the historiography of the nation. Informed with the various contemporary theoretical discourses, the novelists have opted to concentrate on the ignored and suppressed facts or less-celebrated people of history in order to fill the gaps of prevalent national history and thereby give it a complete shape.

Analysis of the treatment of history in Indian non-fictional and fictional writings has been quite popular among the contemporary Indian theorists and writers. The theorists, on their part, have searched for an alternative historiography other than the one provided by the elite academicians of both colonial and postcolonial period as these established editions remain silent about the history of the subjugated group of the society. From this new perspective, the existing version of history is incomplete as it excludes the larger section of people of the society. Theorists of the Subaltern Studies group have highlighted this shortcoming of the available historiography which deliberately overlooked the condition and struggle of the people who belong to 'inferior' groups in terms of caste, class, economy, power or gender. Regarding the contribution of these academicians, Rosemary Marangoly George writes:

> These historians rethought and rewrote Indian history in the light of their realization that the official *nationalist* history in the postcolonial period had not made a radical break from official *colonial* historiography. Every historical text in the postindependence period was written in direct relation to official Indian nationalism, and the nationalist narration of independence continued to be an elite history …. Prior to the Subaltern Studies intervention, Indian historians were generally unable to see the struggles of disenfranchised groups outside elite history …. (216-7)

Apart from these scholars, the disapproval that Indian historiography has received is from the feminist theorists who severely criticse its gendered nature. Surviving under the dominations of both colonisation and patriarchy, Indian women, irrespective of high and low class, have been the doubly marginalised section of society whose voice remained almost absent in the national historiography. Gayatri Chakravorty Spivak, in her seminal essay "Can the Subaltern Speak?", rightly points out that "Within the effaced itinerary of the subaltern subject, the track of sexual difference is doubly effaced" (82). Women's contributions in domestic life or in intellectual domain have always been ignored and remained unnoticed. So, Spivak further adds that "both as object of colonialist historiography and as subject of insurgency, the ideological construction of gender keeps the male dominant. If, in the context of colonial production, the subaltern has no history and cannot speak, the subaltern as female is even more deeply in shadow" (82-3).

The condition of women within the prevailing socio-political network of colonial India was complicated. On the one hand, they were stereotyped by the imperial British rulers as the symbol of victimisation at the hand of Indian patriarchal social system, and thereby one of the major concerns for them to rule and 'civilise' the natives. In Spivak's opinion, "Imperialism's image as the establisher of the good society is marked by the espousal of the woman as *object* of protection from her own kind" (94). On the other, women were deemed to represent the Indian cultural identity, which the discourse of nationalism declared spiritually supreme over the colonisers' materialistic philosophy. According to Partha Chatterjee, this strife of material and spiritual was gradually transferred to other binaries, like foreign/native, outer/inner, world/home and finally men/women. He writes in this regard: "in the entire phase of the national struggle, the crucial need was to protect, preserve and strengthen the inner core of the national culture, its spiritual essence. No encroachments by the colonizer must be allowed in the inner sanctum" (239). Both the coloniser and the colonised male world exploited the women's issues in order to suit their political aspirations, but in this whole process the necessity to care for the

women's voice was hardly felt. With the advancement of colonial rule and its demands, the 'modernisation' process of Indian women became essential. Their exposure to western culture and education was inevitable, though its influence in their life was not acceptable. Modern education and cultural refinement after the western model were expected to be pursued by them; yet, traditional essences of womanhood were required to be maintained. Spivak, rightly comments in her essay: "Between patriarchy and imperialism, subject-constitution and object-formation, the figure of the women disappears, not into a pristine nothingness, but into a violent shuttering which is the displaced figuration of the 'third-world woman' caught between tradition and modernization" (102).

Indian English literature in its nascent stage or formative years, followed mainly two broad ways. Led by the male writers, either it tried to imbibe the European ideas or highlighted traditional image of the Orient in writings when the real story of Indian common folk or women was often found absent in these writings. The few women writers of Indo-Anglian tradition too, surprisingly, were indifferent to elaborate the women's actual condition in then society. A brief study of the historical fictional writings, especially the novels written in English and in vernacular languages, shows the same result. Except on rare occasions, these novels of colonial or postcolonial phases do not allow the women characters to voice their self or make their presence felt. In connection with the colonial Indian historical novels, Meenakshi Mukherjee declares: "I call it masculinist because in most of the historical novels that I have read … I find that the themes were very often themes of valour and aggression and war" (136). Undoubtedly, these writings focused to represent the Indian culture and national identity where women were the personifications of the native tradition and men were the protectors of it — the notions that were formed in the early years of imperial rule and affirmed during the nationalist movements of India.

The responsibility of the postcolonial female writers has been to deconstruct this practice of formulating stereotyped female roles in literature and to re-produce women in their real self and situation. For Rosemary George, this re-reading of "center and periphery" enriched the "gendered dynamics of knowledge production in colonial discourse and in the postcolonial critique of the same" (214). Such endeavours to counter the existing canon by them have made the scholars to reconsider the authenticity of Indian historiography that tells only the tales of the dominants. Further, these postcolonial female writers believe that the actual representation of Indian women cannot be done by borrowing the dominant's aesthetics; rather they must invent their own aesthetic which would help to interpret women's place in history from a new perspective. Meena Alexander's opinion in this regard will elucidate this stance as she writes in *The Shock of Arrival*:

> The women writer, … if she has grown to full maturity, finds herself creating a work that does not necessarily hold together in the requirements of an established aesthetic. Then, too, she is conscious of working with materials that have no previously sanctioned place, either in her own traditional society or in the formalities of a borrowed aesthetic. (170)

Writing historical novels is not widely popular among the contemporary Indian English women novelists. Though the genre has been handled quite often by their male counterparts, their works have showed little interest to provide the women characters enough scope to speak for themselves. Though writing historical novel is an effective tool to reinterpret history, very few female novelists have exploited it to rewrite the history of Indian women. Earlier, novels like Mulk Raj Anand's *Private Life of an Indian Prince*, Manohar Malgonkar's *The Princes* or Kamala Markandaya's *The Golden Honeycomb* have chosen the lives of princes and kings of the Princely States as their themes. But, rarely a novel has taken up the challenge to deal with the history of the Princely States

of India and write it from a woman's perspective. The present paper will discuss Gita Mehta's first novel *Raj* (1989) to show how the novelist copes with the challenge to portray the progress of an Indian princess in order to lead her life on her own terms. Further, the paper will elucidate how the novel exposes the existence of the double-bondage of colonialism and patriarchy in the royal women's life as active agents of subjugation, in spite of their privileged social and economic status in colonial period.

Gita Mehta, being a postcolonial women novelist, has made an attempt to revise her readers' conventional ideas regarding the place of royal women in colonial Indian society. For that reason, she "has placed a sharp-witted woman from a princely family at the centre of her historical novel, *Raj*" (Ramusack 182). She makes princess Jaya the witness of several historical events that have taken place during British rule as well as in democratic India after 1947. But the princess is not a mere witness to history but very much a part of it — within the span of almost half a century, Jaya grows as a confident and self-dependent ruler of her state from a naïve princess of a desert kingdom. Amina Amin describes the novel as "a saga not only of a country's struggle for independence but of a woman's battle to claim her rights both as an individual and as the head of a state" (156). Jaya becomes inseparable from the worlds she is in —the royal Indian world of durbars and zenanas, of hunting and war expeditions, of endless ceremonies and rituals as well as the British Indian world of national movements and political struggles for power. Thus, by putting her protagonist at the centre of the narrative, Mehta intelligently avoids documenting the episodes of Imperial India or a romanticised tale of Indian Princely world. Usha Bande writes in praise of the novel that, "It is intricately interwoven with the political events but it has all the tears and romance of a woman's existence in India which saves the work from being a mere record of the all-too-well-known history of our freedom struggle, or a racy account of the grandeur and frivolity of the exorbitant life-style of the princes" (239).

Mehta's *Raj* sets parallel within its pages the nation's journey towards freedom with Jaya's development to gain control over her life and choices. Divided into four books, the novel portrays Jaya's life as young princess in Balmer, as young wife of the Sirpur prince, as the Maharani and finally, as the Regent of that state. From the very early years of life, strong demands of tradition and modernity rarely permit her to perceive life in her own way. Her royal origin seldom allows her to forget her ancestral glory of being a member of the lineage of great Sati queens or think beyond the duties of a conventional Rajput woman. But, at the same time, the unavoidable influence of the British Imperial power compels the royal family to adopt foreign culture as the sign of obedience. So, in the early phases, Jaya is just shown as the silent observer and the victim, like other palace women, of the game of politics played by males of both the colonised and the coloniser groups. Her father, the Maharajah of Balmer, has declared that "his daughter was not to be raised in purdah" (R 44) but as an educated, refined and independent girl. So, Jaya has to learn horse-riding, shooting, lessons of Rajniti and English. But her mother, the Maharani, desires her to grow as the traditional and dutiful Indian woman "in the ways of her predecessors, which alone could protect the child from the harsh, changing world beyond the zenana walls" (R 42), and accordingly, Jaya learns to worship gods and ancestral queens of Balmer, attend classes of classical music and rangoli or to decorate herself. Maharani's words express her anxiety about her daughter as she comments: "Who will marry such an overeducated girl? Her in-laws will resent her. Her husband will be insulted when she flaunts her learning in front of him. She is twelve …. At the very time she should become a woman, her father is trying to make her into a son" (R 94). Though Maharani seems to believe in traditional role of women, her words also prove that she is aware of their fate that even a privileged, intelligent and beautiful Indian princess has to be submissive and obedient before her husband and in-laws.

Jaya, already in dilemma to prefer one to another, gets further confused when she learns about her brother Tikka's high esteem of English chivalry and her English teacher Mrs. Roy's extreme dislike for the colonisers. When Tikka's idea is to prove the worth of the Indians by mastering and surpassing the colonisers' in their own games, a nationalist like Mrs. Roy keeps her faith in active strife between the rulers and the ruled. But amidst this confusion, Jaya realises one thing that a girl like her is an alien in both these worlds. She just plays the role of a silent watcher as the events progress, never trying to express any opinion of her own. Though she is born in a privileged family, she cannot demand to fulfil her wishes. Amina Amin comments in this connection that, "it is … significant that Jaya can only 'take' what is 'given'. She cannot 'claim' or 'ask' for anything" (158). So, she quickly overcomes her brief infatuations with James Osborne or Arun Roy as she understands such relationships will never materialise. This nonchalant acceptance continues in later years too when after the death of her brother and father her mother becomes the victim of the palace politics and Jaya is hastily married off to Prince Pratap of Sirpur by Raja Man Singh "to remove the only remaining threat to his son's throne" (R 168). For Jaya, who was indifferent to this matrimony earlier finds it the only alternative to make herself free than to remain "a virtual prisoner in the zenana" (R 168). She is married to his sword as Pratap has been busy in war and meets her husband almost two years after her marriage. At the very first meeting Pratap shows his disappointment about her when he says, "I'm afraid you won't do, Princess. You really won't do at all" (R 189). Pratap clarifies at the very beginning that their marriage is "strictly a marriage of convenience" (R 190), a matter of politics that can affirm the loyalty of the Sirpur princes to the British Empire. For an anglophile like him, Jaya's talents have no worth as he says: "You cannot eat quail or wear a sari. You know no languages. Yet through you I must outmanoeuvre the Empire which forced me into this marriage" (R 191). Jaya immediately realises the futility of all her traditional educations to appease her husband, and to live up to his expectations she prepares to modify herself under the guidance of Lady Modi following his demands to learn "the intricacies of Western society" (R 192). The typical silent submission of women to male whims becomes applicable in Jaya's case also.

Jaya's subalternity as a colonised female is clear in such circumstances. She has been 'objectified' by the Imperial politics and her husband is compelled to accept her to win the favour of the colonial rulers. But the effect of the Imperial scheme to interfere and control the policies of the Indian Princely States becomes so profound that it continues to strain their relationship. Jaya understands that "the more Maharajah Pratap prostrated himself before the British Empire, the more he hated his wife as the symbol of the empire's power over his private life" (R 288). Besides, though Pratap loves everything Western and expects his wife to remodel herself in that way, he simultaneously desires her to obey him as a conventional Indian wife. It reflects the paradoxical state of the colonial Indian males who have to allow the western refinements for their own interest in colonial women's life but, at the same time, cannot let them leave the limits of traditional systems. Through Jaya, Mehta has tried to expose the silent suffering of thousands of Indian royal women, who instead of being a part of the privileged section of society, have to undergo humiliation and disgrace in their lives. Mehta's inclusion of the anonymous article titled "The Status of Indian Women: A Tale of Woe by One of Them", sent to Jaya by Mrs. Roy, clears the condition of these women in Indian society. The writing by one of the distressed Maharanis of some Princely State elaborates the woe: "*We are treated like chattels. We are taught to be slaves. Our duty is merely to satisfy the whims of our masters. We are deprived of our self-respect. Our existence is a mere cipher. We are the toys of our master*" (R 238). But the article also records the claim for a dignified space for Indian women when it declares: "*I want my status to be regularly defined. I want to fight for the many*

voiceless women who are being ill-treated" (R 238). The novelist has used the piece of writing to serve two purposes together. On one hand, by incorporating the article in the narrative Mehta has tried to give voice to the gendered subalterns of colonial India, and on the other, she hints at the inspirational effect of the article in Jaya's life. Amin comments that the article "plays the role of a mentor, touching a sensitive spot in Jaya's psyche, helping her to measure her anguish in proper perspective" (161).

Jaya's patience and acceptance of her condition have been criticised by several authors and reviewers. For critics like Yasmin Alibhai or Rachael Billington, Jaya is a passive and flat character who has never been able to revolt against the discriminations and exploitations or the outdated systems of palace life. Carol Ascher's comment in her review of the novel also supports this view when she writes: "Unfortunately, too often Jaya either seems a doll-like participant in the rituals of religion and state, or she suffers in clichés …. Her rare intellectual reflections, which tend to draw parallel between the personal and the political, seem awkward and unconvincing …" (17-18). But it is noteworthy that Mehta maintains a consistency in Jaya's nature. Social and historical transformations have contributed in her slow yet steady growth, and according to Beverly Schneller, Mehta has deliberately chosen to retell the history "through the eyes of a thoughtful woman whose whole life has been a cautionary tale" and "who can assume new roles and transform herself without losing her identity" (239). It is undeniable that Jaya's growth as a self-confident woman gains momentum after her marriage. It builds up within her slowly while she interacted with the world outside the purdah by attending various parties and ceremonies, going abroad, flying airplanes or by playing polo. The first bold decision taken by her is to intervene in the Pratap-Esmé Moore affair to save the kingship of Sirpur. But in return she demands the 'price', the power of Regency of Sirpur in order to secure her own space and her son's future as a king. At this juncture, we come across the newly emerged aspect of Maharani Jaya who "After a lifetime as power's victim" tries to "be its executor" (R 333). And for her, journey in the hostile world of politics begins quite quickly after that when Pratap dies in plane crash and she becomes the "guardian" of the throne of her four-year old son Arjun "for fourteen dangerous years" (R 350). It is a historical fact that the Maharanis of the Indian Princely States played "crucial role as regents when their sons had succeeded as minors" (Ramusack 179), and Mehta used this challenging job of regency to portray Jaya's steadfastness and dedication as a mother and as a ruler. Her authority has been challenged first by the Sirpur priests who want to take control over the throne, and then, by the Reformists who are ready to incite the subjects against their rulers. She sends her son abroad for education and to keep him away from the political complicacies, dedicates herself in the welfare of her subjects to pacify the Reformists and secure the kingship. She finds John Osborne, now the British resident of her state, at her side during this time, though the Reformist, Arun Roy, deceives her by exploiting her trust and by speaking against the kingship to her subjects.

The betrayal of Roy makes Jaya more mature to understand the political intricacies of the male-world. After losing her only son in the communal riot of 1946, she anticipates the danger of the brutal riot that may spread to her state after the Partition. She merges Sirpur with India ignoring the sentiment of her people and her wise decision saves it form any communal clash. Mehta here draws a fine parallel between freedom of the nation and Jaya's emergence as a free woman. Her final act to prove herself is her decision to contest in election against Arun Roy from Sirpur. Challenging the ideas of democracy and politics supplied either by the Imperials or the Nationalists, she adopts the humane approach and follows the lessons of Rajniti learnt in her childhood that tells about the duty of serving the people.

Mehta, thus, successfully serves her purpose to write a historical novel with a difference. Rupinder Kaur rightly observes in this connection that, "Apparently it

is the story of an Indian princess Jaya but it emerges as a study of Indian history from the point of view of the subaltern" (158). As a postcolonial text *Raj* undertakes the challenge to rewrite the Indian historiography that usually tries to preserve the 'dominant's' version, but it has to be mentioned that the novel never appears to be an overtly political or feminist text. Accurate time and space of historical events have been maintained throughout the novel to give it an authentic look, and, at the same time, characters and incidents of the fictional world are improvised with it to consider the authenticity of the available history. But what is noteworthy is the novelist's effort to revise the portrayal of the female figures who, in reality, have not been estimated to their real worth by the grand narratives of Imperial or National history. *Raj*, within its fictional scope, not only exposes the status of a woman in colonial India but also provides a corrective by offering the protagonist a space of her own, letting her break the silence and act freely against all obstacles to assert her subjectivity and express what is "deep inside her" (R 461).

Works Cited

1. Alexander, Meena. *The Shock of Arrival: Reflections on Postcolonial Experience*. Boston: South End, 1996. Print.
2. Amin, Amina. "Claiming Space for Oneself: Politics of Gender and Imperialism in Gita Mehta's *Raj*." *Writing in a Post-Colonial Space*. Ed. Surya Nath Pandey. New Delhi, Atlantic, 1999. 154-163. Print.
3. Ascher, Carol. "After the Raj." Rev. of *Raj*, by Gita Mehta, *Meatless Days*, by Sara Suleri, and *The Middleman and Other Stories*, by Bharati Mukherjee. *The Women's Review of Books* 6.12 (Sep. 1989): 17-19. *JSTOR*. Web. 1 Aug. 2013.
4. Bande, Usha. "*Raj*: A Thematic Study." *Indian Women Novelists*. Ed. R.K. Dhawan. Vol. 5. New Delhi: Prestige, 1991. 239-245. Print.
5. Chatterjee, Partha. "The Nationalist Resolution of the Women's Question." *Recasting Women:Essays in Colonial History*. Ed. Kumkum Sangari and Sudesh Vaid. New Delhi: Kali for Women, 1989. 233-253. Print.
6. Dhar, T.N. "The Historical Method and the Indian English Critics." *Indian Criticism in English: Critics, Texts, Issues*. Ed. P.K. Rajan. Jaipur: Rawat, 2004. 276-295. Print.
7. George, Rosemary Marangoly. "Feminists theorize colonial/postcolonial." *The Cambridge Companion to Feminist Literary Theory*. New York: Cambridge UP, 2006. 211-231. Print.
8. Kaur, Rupinder. "Geeta Mehta: Rewriting History, Culture, Self." *Contemporary Diasporic Literature: Writing History, Culture, Self*. Ed. Manjit Inder Singh. Delhi: Pencraft, 2007. 155-160. Print.
9. Mehta, Gita. *Raj*. New Delhi: Penguin, 1993. Print. (Herein referred to as R in the text)
10. Mukherjee, Meenakshi. "Story, History, Her Story." *Literary Discourse: East and West*. Ed. A.K. Tripathy, P.K. Pandey and Sanjay Kumar. New Delhi: Creative, 2005. 134-172. Print.
11. Ramusack, Barbara N. *The Indian Princes and Their States*. Cambridge: Cambridge UP, 2008. Print.
12. Schneller, Beverly. "'Visible and Visitable': The role of History in Gita Mehta's *Raj* and Rohinton Mistry's *A Fine Balance*. "*Journal of Narrative Theory"* 31.2 (Summer 2001): 233-254. *JSTOR*. Web. 22 July 2013.
13. Spivak, Gayatri Chakravorty, "Can the Subaltern Speak?" *Colonial Discourse and Post-Colonial Theory: A Reader*. Ed. Patrick Williams and Laura Chrisman. New York: Harvester Wheatsheaf, 1994. 66-111. Print.

TIES THAT BIND: ALBEE'S TAKE ON VIOLENCE-DRIVEN UNIFORMITY

PROF. J.S. JHA* AND TUSHNIM GANGOPADHYAY**

"Another doctrine repugnant to civil society is that whatsoever a man does against his conscience is sin; and it dependeth on the presumption of making himself judge of good and evil. For a man's conscience and his judgement are the same thing, and as the judgement, so also the conscience may be erroneous."

Thomas Hobbes,
Leviathan (The Second Part, pp. 287-8)

The notion of violence and its multitudinous facets are no longer bound by the limitations of physical manifestation in today's era. Hopefully, gone are the days when violence, or to be more precise, the acknowledgement of violence could only be made on evidence of bruise upon the skin, or broken bones underneath. However, no matter how keen our hope, such days are a long way from being gone completely, as it would seem to an analytical onlooker, if one were to scrutinize our world from a point of moral, ethical, sexual, religious and social neutrality. Violence is a word which attempts to convey many meanings. It is not mere bloodshed, nor is it mere infringement of human rights. Violence is also refusal to observe and learn. It is denying knowledge and intellect. It is seeking security where there is none and making sure that one always gets more of that ethereal security than others. It is a stubborn reaction to one's fear of all that is new and beyond comprehension. In addition, it is assertion of order over chaos, of structure over reality, of the normative 'should be' over the natural state of order. Once a person decides that he/she knows what is best, violence ensues. To quote Thomas Hobbes, "The source of every crime, is some defect of the understanding; or some error in reasoning; or some sudden force of the passions. Defect in the understanding is ignorance; in reasoning, erroneous opinion." (*Leviathan, The Second Part*, p. 259)

As an institution, human civilization finds it convenient, as repeatedly pointed out by social critics, including Edward Albee, to stick to the normative structures which give it a sense of stability. Structures are helpful in dividing reality into comprehensible chunks and making them relatable. Unfortunately, compartmentalizing reality also means generalizing hugely varying elements together under groups that must, out of compulsion, be homogenous in accordance to the nature of the compartment which they are to fit into. For example, the much-criticized compartment an average mid-aged male has to fit in today's world, irrespective of nationality or ethnicity, is that of a heterosexual, employed, religious-minded man, of a colour and height accepted as natural to his ethnicity. Numerous similar compartments exist, each of which are mere oversimplified tags perforce placed on generalized groups, according to the norms and structures that act as basis for these compartments. However, creating a general identity tag and imposing it on a collection of variables, leaves an uncertainty regarding individuality, which is innate to every individual and by its very virtue of existence, an antithesis to generalized uniformity. In other words, to confirm the existence of individuality is to simultaneously negate the possibility of a uniform and generalized category

Let us take for instance the matter of national identity. Every individual within a nation decides within his/her own psyche what his/her nation represents and is represented by. The ideals of our nation are something we believe them to be, not what they are in themselves. What then happens to such individuals who possess ideals about their existence, which do not conform to the ones we possess? Considering Edward Albee's play

*Professor, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
**Research Scholar, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi

The American Dream, we might find the answer in an individual who is thoroughly desensitized and bereft of potency in all probable matters, but who, in accordance with our ideals, projects an image of picturesque perfection. The Young Man, as this character is called in the play, has a twin brother with whom he shared an empathic link. His twin, who was adopted by the couple named Mommy and Daddy respectively in the play, had been mutilated at childhood due to various flaws in his nature. His eyes were gauged out since he had "eyes for its daddy" (*The American Dream*, p. 61). His penis was cut off when he started learning about his own sexual identity and drive. His hands were removed when, though lacking his organ, the child still sought to find something with his hands that would confirm his sexuality. When the child decided to rebel, to assert his freedom from the torment of grooming he was put through, his tongue was also cut off. As the child grew up, certain abnormalities became evident in him, such as lack of a spine, lack of a head, lack of guts and feet that were made of clay. His foster parents had eventually become discouraged with the enterprise of creating their "bumble of joy" (*The American Dream*, p. 59) by this time, and when the child died soon afterwards, they demanded satisfaction via a refund of their money previously spent to buy the child. However, though Mommy and Daddy apparently failed in sculpting a perfect child, a generation, or The American Dream, the satisfaction they created appears in front of them nearly twenty years later, in the form of the Young Man. An astonishingly handsome, muscular and impressionable person with a "typically American" (*The American Dream*, p. 70) good look, good profile, straight nose, honest eyes and wonderful smile comes looking for work and relates the story of the twin he could empathically feel and how his life has been affected and altered due to the same. A laid back person, profoundly disinterested and unenthusiastic in every matter except money (which he would do absolutely anything to earn), the Young Man explains his "fall from grace" (*The American Dream*, p. 78), narrating how one day he felt that his heart had been ripped out, refusing him the power to love; felt his eyes burning and have lost pity, affection and compassion; felt his groins and hands destroyed and subsequently lost his ability to love physically. Since then he has given himself away for others' pleasure, yet never been able to feel anything in exchange. This enterprise to create the dream, the national identity, and the infatuation of every nationalist who knows the best had succeeded, at the cost of that certain part of a human being which embodied his individuality. The process provided perfection, though desensitized and impotent, creating an individual who is thoroughly uniform and consistent with what was deemed right - and yet not a complete, functional being.

If one would argue, that such is not the scenario in every society, that creating a national identity with such aggression, committing such violation of human identity is not a common practice, then all one needs is to take a closer look at one's immediate society. If we suppose an approximate definition of society to be a collection of human beings based on one or more certain homogeneities, by the virtue of the very same argument we must agree to the hypothesis that depending on the number of specificities within a human being that can be homogenous with the same in some others, there can be numerous societies to which one human being can belong. In such an instance, no one can be marginalized or said to be outside the society. However, that is not how we find our societies to function. Jerry, in Albee's play *The Zoo Story*, is a victim of the society's attempts to isolate and ignore those whom it finds to be counteractive to its uniformity, and tries to intimate his findings to the first person who agrees to communicate with him. Peter, the only other character in the play, is a social conformist. He has found his niche in the uniform compartment and although not always in agreement with the few quirks of individuality he has to let go off in order to fit in, finds the whole situation rather comfortable. In order to understand a person or situation which does not directly relate to the compartments he is familiar with, Peter has to break the matter down into structures that he can process. This is exemplified when he tries to relate to Jerry's unconventional behaviour and exclaims, "Oh; you live in the village!" (*The Zoo Story*, p. 25), erroneously placing Jerry in a compartment so that Jerry's speech and action can be explained through his

rural habits and unfamiliarity with the rules of urban behaviour. However, Peter is woefully unaware of his conformity, which Jerry, an outcast from the uniform society, finds easily predictable and pathetic. Peter, as a representative of the bullied-into-uniformity populace, has his eyes, like the majority of his kind, so tightly shut, that it takes Jerry's rude questions and comments to make him admit to himself that the life he finds delightful, is anything but perfect. Peter happily, or at times not too happily, though always dutifully, accepts his place in the particular compartment which society allots him; one that dictates every individual member to marry, to be obedient to their spouse, produce a set number of scions, follow certain philosophies and philosophers and love certain animals. Through Jerry, the author tries to point out that such compartmentalizing leads to every part of the society becoming much like cages in the zoo; each with certain homogenous occupants, looking at and being looked at by the occupants of other equally ridiculous cages. Such elements that appear at odds with the standards of the society are put behind yet another set of bars, like the occupants of Jerry's apartment – a coloured queen, a family of Puerto Ricans, a woman who cries behind closed doors, and a person who is never seen; guarded zealously by an incommunicable and relentless guardian, the landlady's dog. Jerry keeps talking about the zoo, since it is by observing the caged animals at the zoo that he has come to realize this predicament; but he is not able to explain his thoughts until the very end of the play. Every time he tries to communicate his discovery, he has to digress into some exposition or the other, be it about how different his life is from what social norms dictate it to be, or about how and why he needs to communicate with "…SOMETHING. If not with people…" (*The Zoo Story*, p. 42). He has to go into these expositions in order to make Peter empathize with his world, to make him see the world at least once through Jerry's eyes, without which there can be no true communication between the occupants of two different cages.

The humans thus caged, especially those who have found the more comfortable ones, are protective of their cages, but they fail to explain the reason behind such attachment. An example would be Peter's habit of sitting in a particular bench in the park. He defends his right to sit on this bench when Jerry demands its occupancy, but fails to explain why he is so defensive about it. Jerry's attempt to rudely move Peter from the bench at first causes Peter to protest feebly. Gradually Peter gets heated up and starts shouting at Jerry that it is his bench and he will not let it go. He challenges Jerry to a fight, completely failing to notice the irony of fighting over an irrelevant bench when in reality he has already given up all his rights and individualities in life without a single protest. Jerry accepts the challenge and willingly impales himself on a knife which he himself had made Peter hold. Even while dying, Jerry seemed happy that he has finally opened Peter's eyes to the pointlessness of the ideals and beliefs that he had been defending till then, until he killed a man to defend a meaningless habit.

The encounter between Peter and Jerry also embodies the relentless struggle between the oppressed and the uninterested. As in the case of Agnes, Tobias and Claire in Albee's *A Delicate Balance*, the violence done to the non-conformists, or rather, the violation of their right to be different is not always willfully perpetrated. To listen and to understand, to compromise and to accept, is not something promoted by most social or familial rules and customs. Agnes feels that she is following her duty by chastising her sister Claire for her drinking habit:

Agnes. (*Rises from her chair, proceeds towards exiting.*) If you come to the dinner table unsteady, *if* when you try to say good evening and weren't the autumn colors lovely today you are nothing but vowels, and *if* one smells the vodka on you from across the room […] if these conditions exist…*persist*…then the reaction of one who is burdened by love is not brutality […] but the souring side of love. If I scold, it is because I wish I needn't. If I am sharp, it is because I am neither less nor more than human. (*A Delicate Balance*, pp. 12-13).

Agnes's righteousness springs from the knowledge that she has a clear understanding of right and wrong, and whoever is wrong in her opinion, she

feels it her moral duty to fight and correct. She has no patience or interest in hearing Claire out for the reason behind her incessant drunkenness. Tobias, her husband, tries to lend an occasional ear, but fears to whole-heartedly lend his support, seeking refuge in whatever social and familial protocol that might provide him a politically correct path. A habit which Agnes sums up masterfully when she says, "Things get hot, move off, huh? Yes?". (*A Delicate Balance, p. 9)* Similarly, Peter has never learnt how to empathize with one who is not exactly like him. Mommy and Daddy had never understood that their "bumble of joy" did not solely exist to serve their dreams.

Through these and various other similar instances scattered throughout his plays, Albee seeks to bring out mankind's detachment from life in its true form. For one who conforms and has the means, there is always a comfortable social niche to perch on. The society creates safe and secure compartments for such people and makes these compartments comfortably homogenous. Conforming to the rules of these comfortable compartments becomes a rule in itself. Anyone who challenges the uniformity of these compartments or the people therein, are put into yet another compartment along with other similar elements who are unfamiliar and jarring to the delusional complacence of the society. It is a violence which is accepted by every human being who seeks a secure and comfortable existence, and anyone who is aware of and values his/her individuality and natural rights is bound to suffer.

References

1. Albee, Edward. A Delicate Balance. New York: Samuel French, Inc., 1966. Print.
2. ---The American Dream. New York: Coward-McCann, Inc., 1960. Print.
3. ---The Zoo Story. New York: Coward-McCann, Inc., 1959. Print.
4. Amacher, Richards E. Edward Albee Revised Edition. Boston: Twayne Publishers, 1982. Print.
5. Biswas, Tapu. Indian Responses to Western 'Theatre of The Absurd': Volume 1. Kolkata: Avantgarde Press, 2010. Print.
6. Hobbes, Thomas. Leviathan. University of Oregon: Renascence Edition, 1999. HTML.
7. Khan, Masood Ali. Modern American Drama. Jaipur: Sublime Publications, 2004. Print.
8. Perro, Allan. "The Crux of Melancholy: Edward Albee's A Delicate Balance." Modern Drama 49.2 (2006): 174-87. Article.
9. Roudane, Matthew C. Understanding Edward Albee. Columbia: University of South Carolina Press, 1987. Print.
10. Wilson, Garff B. Three Hundred Years of American Drama and Theatre: From Ye Bear and Ye Cubb to Hair. New Jersey: Prentice-Hall, Inc., 1973. Print.

श्री विश्वनाथ मंदिर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

ISSN: 0554-9884

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दूओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।

3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

Objectives of the University

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.